काव्यशास्त्र एवं काव्य परिशीलन

डॉ० गिरिजाशङ्कर शास्त्री

काव्यशास्त्र एवं काव्य परिशीलन

डॉ० गिरिजाशङ्कर शास्त्री
एम.ए. संस्कृत, डी०फिल०
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद

प्रकाशक
राका प्रकाशन
इलाहाबाद

काव्यशास्त्र एवं काव्य परिशीलन

लेखक :
डॉ० गिरिजाशङ्कर शास्त्री

प्रकाशक:
राका प्रकाशन
४० ए, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद – २, दूरभाष : २४६६७९१

विक्रीकेन्द्र
२५ ए, महात्मा गाँधी मार्ग, सिविल लाइन्स,
इलाहाबाद – १, दूरभाष (०५३२) २४२७२७१
प्रकाशनवर्ष : २००७

मूल्य: २५०/- (दो सौ पचास रुपये मात्र)

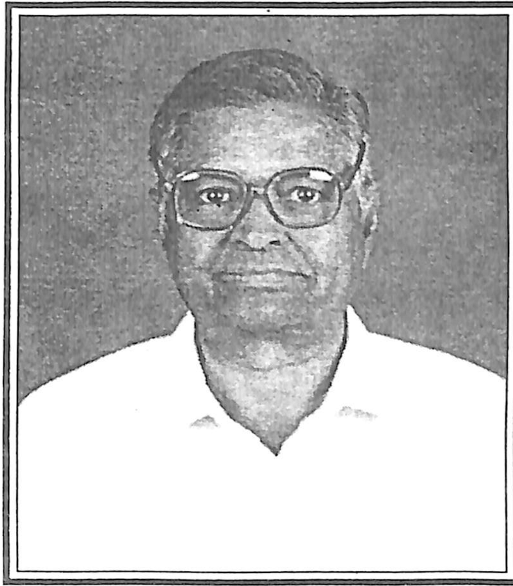
कम्प्यूटर कम्पोजिंग



इलाहाबाद, मो० ९४५०४०७७३९

मुद्रक :
केशव प्रकाशन
थार्नहिल रोड, सिविल लाइन्स, इलाहाबाद

समर्पण



परमादरणीय लब्धप्रतिष्ठ साहित्यमनीषी
राष्ट्रपति सम्मानित गुरुवर्य
प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे जी
के चरणों में सादर समर्पित

– डॉ० गिरिजाशङ्कर शास्त्री

भूमिका

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास लगभग ढाई–तीन हजार वर्ष पुराना है। यास्क के निरुक्त में उपमा अलंकार पर विचार किया जाना है तथा पाणिनि के सूत्र में भी उपमान, उपमेय, साधारण धर्म के वाचक पदों के समास करने की विशेष व्यवस्था किया जाना तथा अन्य सूत्रों (उपमानि सामान्य वचनैः, उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, तेन तुल्यं क्रिया चे द्वतिः, तत्र तस्य इव, उपमानादाचारे, आदि) में भी उपमालंकार सम्बन्धी अवधारणा को प्रदर्शित करना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि काव्यशास्त्र विषयक चिन्तन प्राचीन काल से ही होता आया है। पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' से स्पष्ट संकेत है कि जिन नटसूत्रों की सत्ता को बताया गया है अवश्य ही ये सूत्र नाट्यविद्याविषयक ही रहे होंगे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अलंकार को वेदाङ्गस्थानीय बनाकर श्रीमण्डित किया है – 'उपकारत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' क्योंकि वैदिक वाङ्मय में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहां विशुद्ध आलंकारिक शैली में रचित मन्त्र मिलते हैं जैसे 'द्वासुपर्णा सयुजासखाया' यहाँ पर उपमेय का नाम न लेकर केवल उपमानों के द्वारा वस्तु कथन होने से उपमेय के निगरण से उपमान के साथ अभेद सिद्ध होने से अध्यवसाय की सिद्धावस्था के कारण अतिशयोक्ति अलंकार को जाने विना मन्त्र का अर्थ अवोध्य हो जाएगा। राजशेखर ने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति श्रीकण्ठ और ब्रह्मा से मानी है। इसी प्रकार भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गई है और ये सभी शास्त्र गुरुपरम्परा से आगे बढ़ते गए। अलंकारशेखर के रचयिता केशव मिश्र ने भी अलंकार विद्या का सूत्रकार भगवान् शौद्धोदनि को बताया है ये सभी बातें चाहे जितनी भी कल्पनाप्रसूत लगें इनसे काव्यशास्त्र एवं

नाट्यशास्त्र की अतिप्राचीनता तो सिद्ध होती ही है। भरत का नाट्यशास्त्र जो अभी तक के उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राचीनतम है, विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से अति प्राचीन एवं समृद्ध नाट्यशास्त्रीय चिन्तन की ओर इंगित करता है।

सामान्यतः हम काव्यशास्त्र के इतिहास का विभाजन तीन काल में करते हैं – ध्वनिपूर्ववर्ती काल, ध्वनिकाल तथा ध्वनिपरवर्ती काल। नवम शताब्दी ई० में आचार्य आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ माना जाता है। अतः नवम शताब्दी के प्रथम चरण से पूर्ववर्ती काल में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट – ये आचार्य ही मुख्यतः आते हैं। इनमें से नाट्यशास्त्रकर्ता को छोड़कर अन्य आचार्यों का मार्ग गुणालंकारप्रस्थान था जैसा कि ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में पूर्वपक्ष के रूप में ध्वनिकार ने निर्देशित किया है। काव्य के समस्त चमत्कार का व्याख्यान गुण तथा अलंकारों के माध्यम से ही हो सकता है। रीतिगत चमत्कार गुणों में तथा वृत्तिगत चमत्कार अलंकार में अन्तर्भूत हो जाता है। (एताश्च रीतयो नालंकाराः किं तर्हि शब्दाश्रयाः गुणाः (नमिसाधुः रुद्रटालंकार २।६) अलंकारमध्ये एव रसा अपि किं नोक्ताः, उच्यते। काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम्। तस्य च वक्रोक्तिरसवदादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमाः अलंकाराः रसास्तु सौन्दर्यादयः इव सहजाः गुणाः रुद्रटालंकार १२।२)

काव्य में अमुख्य अर्थ के प्रति, जो व्यङ्ग्यार्थ से तुलनीय है, सभी आचार्य जागरुक हैं। भामह के टीकाकार उद्भट ने 'भामहविवरण' में कहा भी है 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारः मुख्यो गुणवृत्तिश्च'। आचार्य रुद्रट का भावालंकार ध्वनिकार की वस्तुध्वनि से मेल खाता है। इस प्रकार उनके द्वारा ध्वनि का उन्मीलन तो किया गया था किन्तु उसके स्वरूप की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो पाई थी।

नवम शताब्दी में 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की रचना काव्यशास्त्र के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना थी। इसके रचयिता आनन्दवर्धन एक लक्षणकार आचार्य ही न थे अपितु प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे, इसीलिए तो अभिनवगुप्त की दृष्टि में वे 'सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृत्' थे। इसीलिए काव्य के स्वरूप के मूल्यांकन में और उसके जीवितभूत तत्त्व को परखने में उनकी

कविसहृदय–दृष्टि बड़ी पैनी थी। काव्य के वाच्य पक्ष का तो विविध अलंकारों के द्वारा पूर्ण व्याख्यान हो चुका था "तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः बहुधा व्याकृतः..." अलंकारों का सम्पूर्ण विवेचन होना काव्य में वाच्यार्थ के चमत्कार के सौन्दर्य की पूरी समीक्षा हो जाना है क्योंकि "अलंकारा हि वाच्यसौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तर्गतं प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति" – (रसगंगाधर) अतः अब केवल प्रतीयमान अर्थ की पहचान करना शेष है, ध्वनिकार की सूक्ष्म दृष्टि एक उत्तम अनुसन्धाता की दृष्टि है जो पिष्टपेषाण नहीं करता केवल प्राचीन तथ्यों के नवीन अनुसन्धान की पृष्ठभूमि के रूप में पूर्वाचार्यों के मतों का उपस्थापन करता है। फलतः ध्वनिकार ने काव्य में व्यङ्ग्यार्थ का विशद विवेचन करके रस, गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार आदि का हमेशा के लिए ठीक–ठीक स्थान निर्धारण कर दिया, और व्यञ्जना व्यापार की अपरिहार्यता बनाकर ध्वनि के विविध भेदों के समुचित व्यवहार द्वारा काव्य के अन्तस्तत्व का सही आकलन कर दिया। ध्वनिकार के नूतन अनुपम ध्वनिसिद्धान्त के अनुरूप ही आचार्य अभिनवगुप्त के रूप में एक महान् टीकाकार मिल गए जिन्होंने लोचनटीका लिखकर ध्वनिविरोधियों को हमेशा के लिए शान्त कर ध्वनि की पूर्ण प्रतिष्ठा की। रससिद्धान्त के क्षेत्र में रसास्वादन की प्रक्रिया तथा उसकी अलौकिकता को व्याख्यायित कर ध्वनि को हमेशा के लिए श्रीमण्डित कर प्रतिष्ठित किया। इसके बाद ध्वनि के अनुयायियों में आचार्य मम्मट, आचार्य हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विद्याधर, राजचूड़ामणि दीक्षित, शारदातनय, नरेन्द्रप्रभसूरि, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराजजगन्नाथ प्रमुख हैं। आचार्य मम्मट सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय ध्वनिवादी आचार्य हैं, उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' काव्यशास्त्र का उत्तम स्तरीय ग्रन्थ माना जाता है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है इस पर जितनी टीकाएं लिखी गई उतनी किसी भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ पर नहीं लिखी गई। सच तो यह है कि समस्त संस्कृत वाङ्मय में टीकाओं की संख्या की दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता के बाद काव्यप्रकाश का ही स्थान आता है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का कारण इसके विचारों की मौलिकता नहीं है अपितु यह है कि समस्त नाट्यशास्त्र को छोड़कर काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का समावेश करनेवाला यह अनुपम पाठ्यग्रन्थ है। यह सूत्रशैली में

लिखा गया है विस्तार कहीं भी नहीं किया गया। इसीलिए टीकाकारों के विवेचन के लिए पर्याप्त अवकाश मिल गया। आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार का अनुसरण करते हुए व्यञ्जना की स्थापना संक्षेप में कर ध्वनि को हमेशा के लिए प्रतिष्ठित कर दिया। यद्यपि व्यञ्जना की स्थापना ध्वनिकार स्वयं कर चुके थे किन्तु उनके टीकाकार अभिनवगुप्त ने स्थूणा निखनन न्याय से सभी ध्वनि विरोधियों मुख्यत: मीमांसकों को अपनी तर्क शक्ति से निरुत्तर कर दिया था। इस प्रकार काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनिकाल के अन्तर्गत आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट मुख्य रूप से श्रेष्ठ आचार्य हैं। यद्यपि आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए ध्वनिसिद्धान्त को मानने वाले काव्यशास्त्र के इतिहास में अनेक आचार्य हुए जिनमें काव्यानुशासनकर्ता हेमचन्द्र, एकावलीकार विद्याधर, अलंकारमहोदधिकार नरेन्द्रप्रभसूरि, प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ, चन्द्रालोककार जयदेव, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, रसगङ्गाधरकार पण्डितराजजगन्नाथ, काव्यदर्पणकार राजचूड़ामणि दीक्षित, चमत्कारचन्द्रिकाकार विश्वेश्वर इत्यादि ने भट्टनायक तथा महिमभट्ट जैसे प्रबल ध्वनिविरोधियों के ध्वनिविरोधी तर्कों का खण्डन कर तथा मीमांसकों को व्यङ्ग्यार्थ की अपरिहार्यता बताकर ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापन में तथा ध्वनिकार के सिद्धान्तों का विशद व्याख्यान कर अपनी अलौकिक प्रतिभा से काव्यशास्त्र को गौरान्वित कर दिया।

इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त ने काव्य के सभी चमत्काराधायक तत्त्व यथा रस, अलंकार, शब्दालंकार, गुण, रीति, वृत्ति का ध्वनि के अनुसार समुचित स्थान निर्देशित कर रस को काव्यात्मा बताकर उसी धुरी के चारों तरफ गुण अलंकार रीति वृत्ति रसादिलंकार का ठीक-ठीक स्वरूप बताकर विश्रृङ्खलित सभी काव्याङ्गों को सुव्यवस्थित आसन पर बैठा दिया। बिना रस की सत्ता के गुण अलंकार किसके गुण और किसके अलंकार? क्योंकि गुण और अलंकारों का स्वरूप गुणी और अलंकार्य के सन्दर्भ में ही युक्तियुक्त होता है। "गुणालंकार व्यवहारश्च गुणिनि अलंकार्ये च सति युक्त:" (अभिनवगुप्त)

इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त पूर्णरूप से प्रतिष्ठित होने पर भी सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं बन सका। ध्वनि का विरोध तो ध्वनिकार के समय से ही होने

लगा था। ध्वनिकार ने अपने समकालभावी मनोरथ नामक कवि के अधोलिखित पद्य में ध्वनिविरोध को निर्देशित किया है –

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चित् मनःप्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनै वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ् जडो
नो विद्मो विदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।।

उक्त पद्य ध्वनिकार के नूतन सिद्धान्त के प्रति असहिष्णु समस्त काव्य के पारखी सहृदयों का प्रतिनिधित्व करता है। यही प्रकारान्तर से ध्वनिसिद्धान्त का पूर्वपक्ष भी बनाता है। ध्वनिकार के अनन्तर ध्वनि को अमान्य ठहराने वाले भी अनेक आचार्य हुए जिनमें मुकुल भट्ट, भट्टनायक, प्रतिहारेन्दुराज (उद्भट के टीकाकार) धनिक (दशरूपक के टीकाकार), कुन्तक, आचार्य महिमभट्ट आदि प्रमुख हैं। मुकुलभट्ट के समय तक ध्वनिसिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन आनन्दवर्धन कर चुके थे परन्तु तब तक उसे अभिनवगुप्त और मम्मट जैसे प्रबल समर्थक नहीं मिले थे। इसी कारण ध्वनिकार का सादर नामोल्लेख न कर 'ध्वनि को केवल कुछ सहृदयों की अटपटी सूझ' (सहृदयैः नूतनतयोपवर्णितस्य ध्वनेः' कहकर टाल दिया। उन्होंने एक ही शब्दशक्ति मानी है और वह है अभिधा। लक्षणा को भी स्पष्ट रूप से अभिधा का ही भेद विशेष मानने में कोई संकोच नहीं किया। उन्होंने सान्तरार्थनिष्ठ अभिधा को ही लक्षणा माना है और लक्षणा का अतिदेश व्यञ्जना में कर दिया। मुकुल भट्ट ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सन्दर्भ में अभिधा के अधिकार को इस सीमा तक पहुँचा दिया कि जिससे काव्य के सभी अर्थ का समावेश उसी के वृत्त में हो जाता है।

प्रतिहारेन्दुराज आचार्य उद्भट के 'काव्यालंकारसंग्रह' के टीकाकार हैं और जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में माना है उसी तरह प्रतिहारेन्दुराज ने अलंकारों में माना है, यहाँ तक कि रसादि ध्वनियों का रसवदादि अलंकारों में अन्तर्भाव को सर्वथा मान्य ठहराते थे (तेन अलंकारनिष्ठस्यापि अभिव्यञ्जकत्वस्य उक्तेष्वलंकारेषु अन्तर्भावात् अव्याप्त्यभावः।)

आचार्य भट्टनायक आनन्दवर्धन के परवर्ती तथा अभिनवगुप्त के निकट पूर्ववर्ती हैं, वे रस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक किन्तु ध्वनि के प्रबल विरोधी थे। धनञ्जय तथा उनके टीकाकार धनिक तात्पर्यवादी मीमांसक हैं। तात्पर्य से भिन्न ध्वनि की कोई सत्ता नहीं मानते है (तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः)।

आचार्य कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' काव्यशास्त्र के इतिहास में अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वे ध्वनि का महिमभट्ट, भट्टनायक आदि के समान साक्षात् विरोध तो नहीं करते हैं किन्तु वक्रोक्ति को सार्वभौम और व्यापक रूप देने के कारण ध्वनिविरोधी कहे जा सकते हैं। कुन्तक अभिधा में ही समस्त काव्यसौन्दर्य देखते हैं। उनकी विचित्रा अभिधा ही वक्रोक्ति है जो काव्य का प्राणतत्त्व है। (वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।) ध्वनि और वक्रोक्ति की तुलना करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र कहते हैं – "ध्वनि का वैचित्र्य अर्थरूप होने से आत्मापरक है उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधारूप अर्थात् उक्तिरूप होने से मूलतः वस्तुपरक है, इसीलिए हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना है।"

महिमभट्ट ध्वनिविरोधी आचार्यों में अग्रगण्य हैं। वे अनुमान में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करते हैं और व्यञ्जना की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। ध्वनि सिद्धान्त का उक्त आचार्यों द्वारा अतिशय विरोध ही ध्वनि के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

बीसवीं शताब्दी तक संस्कृत काव्यशास्त्र में कार्य होता ही रहा। इस प्रसंग में डॉ॰ गोविन्द चन्द्र पाण्डे, डॉ॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ राजेन्द्र मिश्र, डॉ॰ राधावल्लभ त्रिपाठी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ॰ पाण्डे के 'भक्तिदर्शनविमर्शः' और 'सौन्दर्यदर्शन विमर्शः', डॉ॰ द्विवेदी की 'काव्यालंकारकारिका' तथा डॉ॰ त्रिपाठी की 'अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्' काव्यशास्त्रीय चिन्तन में कुछ नया जोड़ने वाले ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास लगभग ढाई तीन हजार वर्ष पुराना है। यास्क और पाणिनि के उपमा विषयक गम्भीर चिन्तन से

प्रारम्भ कर बीसवीं शताब्दी तक आचार्यों की नई नई सूझबूझ से साहित्यिक मूल्यों की विवेचना से समृद्ध होता रहा है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास का लेखन बहुत प्राचीन नहीं है। डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे तथा डॉ० सुशील कुमार डे ही इस विषय में अग्रणी रहे हैं। सन् १९२३ में डॉ० काणे ने 'साहित्यदर्पण' की भूमिका के रूप में अलंकारशास्त्र का ऐतिहासिक विवरण दिया था जो १७७ पृष्ठों में पूरा हो गया था किन्तु उसकी इतनी अधिक लोकप्रियता थी की पुनः उसे परवर्ती संस्करणों से विस्तारित कर लगभग ४०० पृष्ठों में `History of Sanskrit Poetics' नामक ग्रन्थ की रचना की गई। सन् १९२३ में ही कलकत्ता में डॉ० सुशीलकुमार डे ने उक्त नाम वाले ग्रन्थ की रचना की जिसका परिवर्द्धित संस्करण कलकत्ता से १९६० में छपा था। उसी द्वितीय संस्करण की भूमिका में डॉ० डे लिखते हैं –

"Both of us (Kane and De) were there practically pioneers in this field. Our books led many scholars to study the numerous works on Alamkara, to point out defects and mistakes to produce papers dealing with several aspects of Alamkara shastra and to publish several important tests." (Preface to History of Sanskrit Poetics by S.K. De)

प्रस्तुत ग्रन्थ 'काव्यशास्त्र परिशीलन' के विद्वान् लेखक डॉ० गिरिजा शंकर शास्त्री ने काव्यशास्त्र के सभी मुख्य आचार्यों के परिचय के साथ उनकी मान्यताओं का भी रोचक विवेचन किया है। इसमें आचार्यों के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय विविध विषयों पर भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। शब्दशक्ति, ध्वनि विमर्श, रसस्वरूप, रसभेद, रसवदादि अलंकार, काव्यगुण, अलंकार, रीति तथा वृत्ति के अतिरिक्त काव्यदोषों का भी प्रतिपादन किया गया है, नाट्य-शास्त्रीय विषय के अन्तर्गत यूनानी तथा भारतीय नाट्यसाहित्य, आचार्य भरत की मान्यताएं, दशरूपकों का संक्षिप्त परिचय, नाट्य सन्धियों का विवेचन, नायक नायिका भेद तथा 'शान्तरस सम्बन्धी विविध मान्यताओं का स्वरूप उल्लेखनीय है। ग्रन्थ के अंतिम अध्याय 'सप्तम उन्मीलन' में लेखक ने कतिपय आधुनिक नाट्य रचनाकारों का उल्लेख भी किया है जो कि 'साहित्यशास्त्रीय परिशीलन' में कुछ अप्रासंगिक

सा लगने पर भी आधुनिक रचनाकारों की जानकारी और मूल्यांकन की दृष्टि से उपयोगी लगता है।

समग्ररूप में यह ग्रन्थ पाण्डित्यपूर्ण है न केवल छात्रों के लिए अपितु समस्त काव्यशास्त्रीय विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा विश्वास है। ग्रन्थ डॉ० गिरिजाशंकर शास्त्री की सतत साधना, विद्याव्यसन और प्रतिभा की परिचायक है। इस उत्तम कृति के लिए मेरा हार्दिक साधुवाद।

सुरेश चन्द्र पाण्डे

सुरेश चन्द्र पाण्डे

७-१२-२००७

आत्मकथ्य

रामायणं भागवतं पुराणं काव्यं महाभारतनामधेयम्।
गद्येन पद्येन च नाट्यशास्त्रं येनास्ति सृष्टं तमहं नमामि।।१।।

सारस्वतेऽस्मिन्नथ काव्यशास्त्रे
येषां प्रतिष्ठा नितरां विभाति।
तेषां मतानां परिशीलनार्थं
भूयात् प्रभो मे सफलः प्रयासः।।२।।

मातस्त्वदीयपदपङ्कजसेवनेन
लब्धं मया किमपि यद् रचनारहस्यम्।
सत्यं तमेव विभवं हृदये निधाय
काव्यार्थ शास्त्र परिशीलन कर्मलग्नम्।।३।।

सौभाग्य से प्रयागविश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्येता होने के फलस्वरूप काव्यशास्त्र में गुरुजनों के आशीर्वाद एवं प्राक्तन आत्मजन्म संस्कार के पुण्य से काव्यशास्त्र को गहराई से जांनने और समझने की उत्कट अभिलाषा ने ही इस काव्यशास्त्र परिशीलन नामक ग्रन्थ को जन्म दिया है। सहृदय काव्यमनीषियों और अध्येताओं से इस ग्रन्थ के विषय में निवेदन करते हुए केवल स्पष्टीकरण के रूप में यह कहना चाहता हूँ कि काव्यशास्त्र वाङ्मय इतना विशाल है कि उसका परिशीलन सम्भवतः किसी के लिए भी एक ही जन्म में कर लेना सम्भव नहीं है और सामान्य परिचय सुखद जीवन के लिए परमावश्यक है। जैसे – भौतिक जगत् के सुख के लिए भौतिक सम्पदाएं अपेक्षित होती हैं उसी प्रकार आत्मिक आनन्द के लिए आत्मसम्पद् भी आवश्यक है। क्रियाकल्प शब्द से आरम्भ कर काव्य शब्द की यात्रा तक काव्य का कलेवर मूर्त तो हुआ

ही साथ ही उस काव्य कलेवर में आत्मारस का संचार भी। इस प्रकार शब्दार्थ शरीर रस आत्मा काव्य का साक्षात्कार हो रहा है। रीति और गुण भी दिखाई पड़ रहे हैं। साहित्य मनीषी गुरूवर्य पं० लक्ष्मीकान्त दीक्षित जी काव्य की प्रशंसा में एक श्लोक सुनाया करते थे जो इस प्रकार है –

नैव व्याकरणज्ञमेति पितरं न भ्रातरं तार्किकं
दूरात्संकुचितेव तिष्ठत्यसौचाण्डालवत् छन्दसाम् ।
मीमांसा निपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा
काव्यालङ्करणज्ञमेव दयितं कान्ता वृणीते स्वयम्।।

अर्थात् कवितारूपी वधू काव्य पुरुष को ही वरण करती है।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने तो काव्य को पुरुष निरूपित करते हुए पुत्रार्थ तप करती हुई सरस्वती का पुत्र ही कहा है। **''काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्''** की अवधारणा सनातन है। काव्यशास्त्र का ज्ञान मानव को पूर्ण मानव बनाता है। यदि दर्शनशास्त्र ब्रह्म का निरूपण करता है तो काव्यशास्त्र मानव को आचरण सिखाता हुआ ब्रह्मानन्द सविध आनन्द की अनुभूति कराता है। आज आवश्यकता है सम्पूर्ण विश्व पूर्ण मानव बने और पूर्ण मानव बनने के लिए काव्य शास्त्र का परिशीलन आवश्यक है, जिसके लिए महर्षि व्यास ने कहा है –

धर्मेह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचिद्।।

ठीक यही बात काव्यशास्त्र की है। क्योंकि कोई भी सृजन सप्रयोजन होता है। इसलिए काव्य भी सप्रयोजन है और काव्य का प्रयोजन मानव को पूर्ण मानव बनाना हीहै। भले ही वेदान्ती बन्धु कलह करें कि पूर्ण तो केवल ब्रह्म है लेकिन यह कथन भी असंगत नहीं है कि अहं ब्रह्मास्मि के तत्त्वावबोध की दीक्षा तो काव्यशास्त्र ही देता है काव्य शास्त्र की एक महती विशेषता है कि यह संसार के प्रति कृतघ्न नहीं है क्योंकि काव्य में सर्वसत्य की सत्ता विद्यमान रहती है। जैसे कि ''कामिनी का वदन चन्द्रमा है'', ''सशरीर स्वर्ग प्राप्ति'' इत्यादि।

इस काव्यशास्त्र परिशीलन की रचना भी सप्रयोजन हुई है। ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन तथा लेखन से कुछ क्षण के लिए तृप्ति तो नहीं किन्तु विरक्ति हो गयी थी यह ठीक वैसे ही है जैसे कोई भी व्यक्ति एक ही प्रकार का भोजन करता हुआ अन्य रससिक्त भोजन की अभिलाषा करता है ठीक उसी तरह साहित्य विषय का अनुराग ज्योतिष से बलात् इस दिशा में आकर्षित कर लिया। इस ग्रन्थ रचना के पीछे एक तथ्य यह भी है कि इस के पूर्व जब भारतीय शास्त्र एवं शास्त्रकार को प्रो० मृदुला त्रिपाठी जी के साथ लिख रहा था तभी अन्तर्मन में यह बात आयी कि छात्रों के हितार्थ काव्यशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखना चाहिए। वह स्वप्न भी अब प्रभु कृपा से पूर्ण हो गया। काव्यशास्त्र की विषयवस्तु इतनी गम्भीर है कि इसे चन्द पन्नों में नहीं समेटा जा सकता। आत्मानुभूति को उपस्थित करना तो सर्वथा असम्भव ही है तथापि काव्यशास्त्र मनीषियों के ज्ञान रिक्थ को यथा सम्भव अपनी लघु बुद्धि से संयोजित कर सहृदय समाज तक सम्प्रेषित करते हुए आनन्दानुभूति अवश्य हो रही है। इसमें अद्यतन कतिपय नाट्य प्रणेताओं का परिचय देने का भी प्रयास किया है। लब्ध प्रतिष्ठ साहित्य मनीषी राष्ट्रपति सम्मानित गुरुवर्य प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे जी के चरणों में प्रणाम निवेदन करता हुआ विद्वानों का कृपाभिलाषी। लेखनी को विराम दे रहा हूँ।

आषाढ़ पूर्णिमा (गुरूपूर्णिमा) **गिरिजाशङ्कर शास्त्री**

संवत् २०६४, दारागञ्ज, प्रयाग

OOO



विषयानुक्रमणिका

OOO

काव्यशास्त्र एवं काव्य परिशीलन



काव्यशास्त्र एवं काव्य परिशीलन

प्रथम उन्मीलन

विषय-प्रवेश

परिशीलन की उपादेयता

किसी भी भाषा के साहित्य की पूरी छानबीन करने के लिए उसका परिशीलन अपेक्षित होता है। विना परिशीलन के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है और न उसके दोषों का। गुण-दोषों को बिना जाने किसी भी काव्य का आनन्द नहीं उठाया जा सकता। इसीलिए संस्कृत के एक कवि का कहना है कि बड़े या छोटे कवि की विशेषता जानने के लिए उसके ग्रन्थों की परीक्षा आवश्यक होती है। एक साधारण दीपक तथा मणिदीप का अन्तर बिना आँधी चले नहीं हो सकता। जोरों की आँधी आने पर भी मणिदीप अपना प्रकाश बिखेरता रहता है। इसीलिए काव्य का वैशिष्ट्य समझने के लिए परिशीलन या समालोचना की महती आवश्यकता है। कवि तथा आलोचक दोनों में किसका पद बड़ा होता है — इस प्रश्न पर विभिन्न मत अवश्य हैं, परन्तु भारतवर्ष में दोनों का पद एक समान ही महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय माना गया है।[१] कवि तो काव्य का निर्माण करता है, परन्तु समीक्षक ही उसके रस को जानने में, काव्य का मर्म समझने में सफल होता है और कभी-कभी तो ऐसे भावों को समझता है तथा समझाता है, जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं। इस प्रकार परिशीलन या समालोचना भारतीय साहित्य में एक अत्यन्त उपादेय विधा है और समालोचक का पद कवि की अपेक्षा कथमपि न्यून नहीं है। संस्कृत के एक मान्य प्राचीन आलोचक राजशेखर तो समालोचना-शास्त्र को वेद का सप्तम अंग मानते हैं। उनका कथन है कि बिना उसके स्वरूप को जाने वेद के अर्थ का ज्ञान पूर्ण रूप से नहीं हो सकता।[२] इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा

१. सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते। (लोचन)

२. 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। (का०मी०, पृ० ६)

उसके समकक्ष माना जाता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

यह मन्त्र श्वेताश्वतर, मुण्डक, कठ आदि उपनिषदों में मिलता है। इस मन्त्र में अतिशयोक्ति अलङ्कार के माध्यम से एक ही शरीर में अवस्थित आत्मा (जीव) तथा परमात्मा का वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्वार्द्ध में अतिशयोक्ति तथा उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक अलङ्कार है। इसीलिए आचार्य राजशेखर का कथन है कि अलङ्कारशास्त्र उपयोगी होने के कारण सातवाँ अङ्ग है। "उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गम्" यदि उसके स्वरूप का ज्ञान न हो, तो वेदार्थ की अवगति (ज्ञान) नहीं होती।

काव्यशास्त्र पर विहङ्गम दृष्टि

भारतवर्ष सदा से प्रकृति नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवी ने अपने कर-कमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार तथा सुषमा निकेतन बनाया है। इसका बाह्य रूप जितना अभिराम है, आन्तर रूप उतना ही आभामय है। आन्तर रूप को ललित कला तथा कमनीय कविता की जन्मभूमि मानना सर्वथा उचित है। अत्यन्त प्राचीन काल में कोमल कविता का उद्‌गम इसी भारत-भूतल पर सम्पन्न हुआ। कविता-कामिनी के सौन्दर्य को परखने के लिए सबसे पहले आलोचना इस भारतवर्ष में संस्कृत के आचार्यों द्वारा की गयी। इसका प्राचीन साहित्य आज लुप्तप्राय है। राजशेखर ने अपने मान्य ग्रन्थ काव्यमीमांसा में अट्ठारह अधिकरणों की रचना अट्ठारह उपदेशकों के द्वारा बतलांयी है।[१] इसकी सत्यता को परखने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। भरत का रूपक विषयक ग्रन्थ तो आज उपलब्ध है, परन्तु नन्दिकेश्वर के रस-ग्रन्थ का, बृहस्पति के दोष-ग्रन्थ का तथा उपमन्यु के गुण-ग्रन्थ का कहीं भी नाम-निर्देश नहीं मिलता। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नन्दीस्वामी

---

१. राजशेखर – काव्यमीमांसा, पृ० १।

दण्डी से पूर्व आलङ्कारिकों में गिने जाते हैं, परन्तु इनके मूल ग्रन्थ का आज कहीं पता भी नहीं चलता। इस शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है भरत मुनि का नाट्यशास्त्र जो छत्तीस अध्यायों में कारिका के रूप में रचित एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। यह भारतवर्ष की ललितकलाओं की जानकारी के लिए एक उपादेय प्राचीन ग्रन्थरत्न है। इनके समय तक नाट्यशास्त्र के भीतर अंगरूप से काव्यशास्त्र का अध्ययन होता रहा, परन्तु भामह (पञ्चम शतक) ने काव्यशास्त्र को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया और तभी से इसका स्वतन्त्र इतिहास उपलब्ध होता है। नाट्य शास्त्र की रचना के विषय में आज भी मतैक्य नहीं है, परन्तु उसका मूल सूत्ररूप विक्रम से कई शती पूर्व का निःसन्दिग्ध निर्माण है। भरत से प्राचीनतर नटसूत्रों का (जो सम्भवतः नट लोगों के प्रयोग विधान की शिक्षा देने वाले सूत्रग्रन्थ थे) परिचय हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी से मिलता है। पाणिनि ने दो अत्यन्त प्राचीन नटसूत्रों के नाम का निर्देश किया है, जिनके रचयिता शिलालि तथा कृशाश्व थे, परन्तु इनके ग्रन्थ का आज पता नहीं। "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" इस प्रकार विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से लेकर १८वें शतक, लगभग ढाई हजार वर्षों तक 'काव्यशास्त्र' का चिन्तन और मनन, अध्ययन तथा अध्यापन इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में होता आया है और आज भी उसका अनुशीलन परिशीलन विद्वज्जनों के द्वारा हो रहा है। भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं के साहित्यशास्त्र, विशेषतः हिन्दी भाषा का, संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा को ही उज्ज्वल बनाते हैं तथा उसे उपजीव्य मानकर अपने भण्डार को भरते हैं। इतना प्राचीन तथा दीर्घकालीन इतिहास यूरोप के साहित्यशास्त्र का भी नहीं है, अन्य की तो कथा ही क्या?

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (विक्रमपूर्व ३००) में राज्यशासन वाले प्रकरण के अर्थक्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणों का उल्लेख किया गया है[१]। कौटिल्य ने राजकीय शासनों (राजाज्ञा) को इन उपर्युक्त गुणों से युक्त होना लिखा है। ये अलङ्कार ग्रन्थों में वर्णित काव्यगुणों के निश्चित प्रकार हैं। इस उल्लेख से यह तात्पर्य निकलता है कि काव्यशास्त्र का उदय भरत से बहुत पहले हो चुका था। भामह तथा दण्डी से जो काव्यशास्त्र की सामग्री उपलब्ध होती है, वह कालक्रम से भरत से अर्वाचीन भले ही हो, परन्तु

१. कौटिल्य – अर्थशास्त्राधिकरण।

सिद्धान्त दृष्टि से भरत से अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि सर्वाङ्गपूर्ण काव्य का विचार प्रथम नाटक के रूप में था और इसलिए प्रथमतः काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत आता था, तथापि साहित्य की उन्नति होने पर, काव्य नाटक के अन्तर्हित नहीं रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमें नाटक का भी अन्तर्भाव होने लगा। इसलिए संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास सुविधा के लिए तीन अवस्थाओं में अध्ययन किया जा सकता है। पहली तो वह अवस्था है, जब काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था। दूसरी वह जब दोनों पर स्वतन्त्र विचार होता था और तीसरी वह अवस्था, जब नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहली अवस्था में वैसे ही साधारण विचार थे, जैसा प्रारम्भ में एक नयी विधा के लिए हो सकते हैं। तीसरी अवस्था में विचार-गाम्भीर्य आ गया और प्रायः साहित्यशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया।

अब कालक्रम के अनुसार इस शास्त्र के प्रधान आचार्यों का ऐतिहासिक संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

कतिपयं उपलब्ध विशिष्ट काव्यशास्त्रकारों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

१. भरत और उनका नाट्यशास्त्र

भरत मुनि रस सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य के रूप में मान्य हैं। इनके मत में नाटक में रस की ही प्रधानता होती है। भरत के आविर्भाव-काल का निर्णय एक विशेष समस्या बनी है। महाकवि भवभूति ने भरत को तौयन्त्रिक सूत्रधार कहा है,[१] जिससे भरत के ग्रन्थ का सूत्रात्मक रूप सिद्ध होता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि दशरूपक (दशम शतक) वर्तमान नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका 'अभिनवभारती' की रचना ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में की। भरत का सबसे प्राचीन निर्देश महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय में उपलब्ध होता है। कालिदास का कथन है कि भरत देवताओं के नाट्याचार्य थे तथा नाटक का मुख्य उद्देश्य आठ रसों का

---

१. उत्तररामचरित, ४.२२।

विकास करना था और नाटक के प्रयोग में अप्सराओं ने भरत को पर्याप्त सहायता दी थी –

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।

(विक्रमो० २।१८)

कालिदास के द्वारा उल्लिखित नाट्य की यह विशेषता वर्तमान नाट्यशास्त्र में निःसन्देह उपलब्ध होती है। रघुवंश में भी कालिदास ने नाट्य को 'अगसत्त्ववचनाश्रयम्' कहा है, जो मल्लिनाथ की टीका के अनुसार भरत की इस कारिका से समानता रखता है –

सामान्याभिनया नाम ज्ञेयो नागङ्गसत्त्वजः।

(नाट्यशास्त्र)

इससे स्पष्ट है कि कालिदास भरत के वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' से पूर्ण परिचित थे। अत नाट्यशास्त्र के निर्माण की यह पश्चिम अवधि है। इसकी पूर्व अवधि का पता अब तक नहीं लगता। वर्तमान नाट्यशास्त्र में शक, यवन, पल्लव तथा अन्य वैदेशिक जातियों का वर्णन है, जिन्होंने भारतवर्ष के ऊपर ई० सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास आक्रमण किया। वर्तमान नाट्यशास्त्र का यही समय है। मूल सूत्रग्रन्थ की रचना सम्भवतः ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुई, क्योंकि संस्कृत के इतिहास में 'सूत्रकाल' यही है, जब सूत्ररूप में शास्त्रीय ग्रन्थों के रचने की परिपाटी सर्वत्र प्रचलित थी। इतना तो निश्चित है कि कारिका ग्रन्थ सूत्रग्रन्थ के बहुत ही पीछे लिखा गया, क्योंकि इसमें भरत नाट्यवेद के व्याख्याता एक प्राचीन ऋषि के रूप में उल्लिखित किये गये हैं। इस प्रकार भरत के नाट्यशास्त्र का रचना काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है।

भरत का नाट्यशास्त्र ३६ अध्यायों में विभक्त है, जिसमें लगभग पाँच हजार श्लोक हैं, जो अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों में ही निबद्ध हैं। कहीं-कहीं विशेषतः ६,७, तथा २७ वें अध्याय में कुछ गद्य अंश भी हैं। कहीं-कहीं आर्या छन्द भी मिलता है। छठे अध्याय में रसनिरूपण के अवसर पर कतिपय सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान (भाष्य) भी उपलब्ध होते हैं। आजतक नाट्यशास्त्र

का जो रूप दिखाई पड़ता है, वह अनेक शताब्दियों में क्रमशः विकसित हुआ है। नाट्यशास्त्र में तीन स्तर दीख पड़ते हैं – १. सूत्र, २. भाष्य, ३. श्लोक या कारिका। इन तीनों के उदाहरण हमें इसमें देखने को मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूल ग्रन्थ सूत्रात्मक था, जिसका रूप ६ठें और ७वें अध्याय में आज भी देखने को मिलता है। तदनन्तर भाष्य की रचना हुई, जिसमें भरत के सूत्रों का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया। तीसरा और अन्तिम स्तर कारिकाओं का है, जिनमें नाटकीय विषयों का बड़ा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

नाम के अनुसार इसका मुख्य विषय है नाट्य का विस्तृत विवेचन, परन्तु छन्दःशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रों का भी प्रथम विवरण यहाँ उपलब्ध होता है इसलिए प्राचीन संगीत कलाओं का इसे विश्वकोष मानना न्याय्य है।

भरत का नाट्यशास्त्र विपुल व्याख्यासम्पत्ति से मण्डित है। अभिनवगुप्त तथा शार्ङ्गदेव के द्वारा उल्लिखित काल्पनिक तथा वास्तविक टीकाकारों के नाम यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा –

उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, राहुल, भट्टयन्त्र, अभिनवगुप्त, कीर्तिधर, मातृगुप्ताचार्य आदि।

अभिनवगुप्त की सुप्रसिद्ध टीका अभिनवभारती नाट्यशास्त्र की प्रामाणिक एवं प्रौढ़ टीका है। भरत की यह एक मात्र टीका है, जो सम्पूर्णतया उपलब्ध होती है। पूर्व टीकाकारों का नाम तथा सिद्धान्तों का परिचय केवल इसी टीका से हमें मिलता है। भरत के रहस्यों का उद्घाटन इस टीका की सहायता के बिना कथमपि नहीं हो सकता। भरत का नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन होने के कारण दुरूह बन गया था, परन्तु अभिनवगुप्त ने ही अपनी गम्भीर टीका लिखकर इसे सुबोध तथा सरल बनाया।

२. भामह का काव्यालङ्कार

आचार्य भामह भारतीय अलङ्कारशास्त्र के प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ ने उन्हें पूर्वाचार्यों ने माना है – "पूर्वेभ्योभामहादिभ्यः सादरं विहिताञ्जलिः" भरत के नाट्यशास्त्र में अलङ्कारशास्त्र

के तत्त्वों का विवेचन गौण रूप से किया गया है। भरत के अनुसार अभिनय चार प्रकार के होते हैं, जिनमें वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में भरत ने अलङ्कारशास्त्र का सन्निवेश किया है। भामह का ग्रन्थ ही भरत पश्चात् युग का सर्वप्रथम ज्ञात मान्य ग्रन्थ है, जिसमें अलङ्कारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

भामह किस देश के निवासी थे तथा किस काल को उन्होंने अपने आविर्भाव से विभूषित किया था, यह निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते। अनेक अनुमानों के आधार पर यह माना जाता है कि भामह ने काश्मीर देश को अपने जन्म से अलङ्कृत किया था। भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमी था[१]। कतिपय आलोचक सोमिल, राहुल, पोत्तिल आदि बौद्ध नामों की समता से रक्रिल को भी बौद्ध मानते हैं। भामह ने अपने मङ्गलश्लोक में सार्वसर्वज्ञ को प्रणाम किया है, जिससे इस सिद्धान्त के दृढ़ीकरण करने में सहायता मिलती है। परन्तु भामह ने काव्यालङ्कार में बुद्ध के जीवन की किसी भी घटना का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा के प्रख्यात आख्यान, उनके नायकों के नाम तथा काम का स्फुट वर्णन स्पष्ट शब्दों से किया गया है। अतः इससे हम इसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि भामह बौद्ध न होकर वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे।

भामह ने अपने ग्रन्थ के पञ्चम परिच्छेद में न्याय निर्णय के अवसर पर प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण दिया है, वह आचार्य दिङ्नाग के मत से साम्य रखता है। परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्ति के मत से भिन्न है।[२] दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण है – प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्। इस लक्षण में धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद जोड़कर इसे भ्रान्तिरहित बनाने का उद्योग किया है। भामह धर्मकीर्ति के इस लक्षण-सुधार से परिचित नहीं हैं। प्रतिज्ञा-दोष के भेद और दृष्टान्त दिङ्नाग के 'न्याय-प्रवेश' से साम्य रखते हैं। अतः भामह का समय दिङ्नाग के (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२० ई०) से पूर्व मानना चाहिए। अतः भामह का समय षष्ठ शतक का मध्यकाल है।

---

१. अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।। (भामहालङ्कारे ६.६४)

२. काव्या० ५.६।

आचार्य भामह ने 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ लिखकर काव्यशास्त्र का आधार-स्थानीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद हैं, जिनमें पाँच विषयों का विवरण है। वे इस प्रकार हैं –

१. काव्य शरीर – इसमें ६० श्लोक हैं, जिनमें काव्य, उनके प्रयोजन और लक्षण आदि दिये हैं। (प्रथम परिच्छेद)

२. अलङ्कार – इसमें अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं। यहाँ कुछ कवियों के नाम भी सौभाग्यवश सुनाई पड़ते हैं, जिनको हम अब बिल्कुल नहीं जानते। इसमें १६० श्लोक हैं। (द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद)

३. दोष – काव्यों के दोष ५० श्लोकों में यहाँ दिये गये हैं। (चतुर्थ परिच्छेद)

४. न्याय निर्णय – इसका विशेष वर्णन ७० श्लोकों में है। (पञ्चम परिच्छेद)

५. शब्द-शुद्धि – व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का वर्णन कर विशिष्ट शब्दों की साधुता ६० श्लोकों में प्रदर्शित की गयी है। (षष्ठ परिच्छेद)

भामह के मान्य सिद्धान्त हैं –

१. शब्द और अर्थ दोनों के मिलने से काव्य की निष्पत्ति होती है – शब्दार्थौ सहितं काव्यम्।

२. भरत प्रतिपादित दश गुणों के स्थान पर ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इस गुणत्रय का निर्देश तथा निरूपण।

३. वक्रोक्ति का समस्त अलङ्कारों का मूलभूत होना। इसका चरम विकास कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में दीख पड़ता है।

४. दशविध दोषों के अतिरिक्त अन्य नवीन दोषों की कल्पना।

आचार्य भामह ने प्रसिद्ध काव्यालङ्कार को छोड़कर और कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं, इस विषय में कुछ कहना अत्यन्त कठिन है। किन्तु ऐसा प्रखर विद्वान् अलङ्कारशास्त्र के ऐसे अपूर्व ग्रन्थ लिखने के पूर्व या अनन्तर बिलकुल चुप बैठा हो, यह असम्भव मालूम होता है। किन्तु पुष्ट प्रमाण के अभाव में मौनालम्बन ही समीचीन है।

३. दण्डी और काव्यादर्श

भामह के बाद दण्डी अलङ्कारशास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका समय निर्धारण अत्यन्त विवाद का विषय है। आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार भामह को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, उस प्रकार दण्डी को नहीं किया। दण्डी का सर्वप्रथम निर्देश प्रतिहारेन्दुराज ने किया है। वामन के काव्यालङ्कार के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से परिचित थे। दण्डी ने केवल दो ही रीति या मार्ग का वर्णन किया है, परन्तु वामन ने एक मध्यवर्तिनी रीति – पाञ्चाली का भी निर्देश कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामन से प्राचीन हैं। अतः इनके काल की अन्तिम अवधि अष्टम शतक के पश्चात् नहीं हो सकती।

इनके काल की पूर्व अवधि का निश्चय करना सरल नहीं है। दण्डी के एक श्लोक में बाणभट्ट के द्वारा कादम्बरी में वर्णित यौवन के दोषों के वर्णन की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। श्लोक है –

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।।

(काव्यादर्श, २.१९७)

कादम्बरी की निम्नलिखित पंक्तियों से इसकी तुलना कीजिए –

केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

दण्डी के एक अन्य पद्य में माघ के शिशुपालवध की छाया है[१]। डॉ० के०पी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के निवर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य नामक भेदत्रय की कल्पना भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुसार की है[२]। पं० बलदेव उपाध्याय जी का कहना है कि दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में बाणभट्ट की पूरी कादम्बरी का सरल सारांश उपस्थित किया है[३]। इन निर्देशों

---

१. दण्डी २ : ३०२ = माघ २.४।

२. दण्डी २.२४० = भर्तृहरि ३.४५।

३. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० १९३।

से स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक) से प्रभावित होने वाले दण्डी सप्तमशतक के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए थे।

दण्डी केवल आलङ्कारिक ही नहीं थे, प्रत्युत सरस काव्य-कला के उपासक सफल कवि थे। उनका दशकुमारचरित संस्कृत गद्य के इतिहास में अपनी चारुता, मनोरञ्जकता तथा सरसता के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। काव्यादर्श के समग्र उदाहरण दण्डी की निजी रचनाएँ हैं। इन पद्यों में सरसता तथा चारुता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः आलङ्कारिक दण्डी की अपेक्षा कवि दण्डी का स्थान कुछ कम उन्नत नहीं है। इसीलिए प्राचीन आलोचकों ने वाल्मीकि और व्यास की मान्य श्रेणी में दण्डी को भी स्थान दिया है –

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।।

दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की है – १. काव्यादर्श, २. दशकुमारचरित और ३. अवन्तिसुन्दरी कथा। दशकुमारचरित में दश राजकुमारों का जीवन-चरित वर्णित है। यह उपन्यास ग्रन्थ है, जिसमें राजकुमारों को शिक्षा दी गयी है। अवन्तिसुन्दरी कथा सुन्दर भाषा में लिखा गया सुन्दर गद्य काव्य है। परन्तु इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यादर्श है, जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं तथा समस्त श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यभेद, गद्य के दो भेद – आख्यायिका और कथा, रीति, गुण तथा कवि के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कार की परिभाषा, ३५ अलङ्कारों की परिगणना तथा उदाहरण का विवरण है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध – जैसे गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्णनियम आदि, १६ प्रकार की प्रहेलिका तथा १० प्रकार के दोषों का सुविस्तृत वर्णन है।

भामह की अपेक्षा दण्डी अधिक भाग्यवान् थे। भामह की प्राचीन व्याख्या (भामह विवरण) अभी तक केवल अंशतः उपलब्ध है। परन्तु दण्डी का व्यापक प्रभाव प्राचीन काल से ही लक्षित हो रहा है। इनके ग्रन्थ के ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनसे उनकी लोकप्रियता का पता चलता है।

४. उद्भट

संस्कृत अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों में उद्भट का स्थान एक सम्प्रदाय प्रवर्तक[१] आचार्य के रूप में होने से बड़ा ऊँचा है। पीछे के बड़े-बड़े शास्त्रकारों ने बड़े आदर के साथ उनका और उनके मत का उल्लेख किया है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखते हैं – **'अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भट्टादिभिः''**[२]।

कैयट, जैयट, मम्मट, अल्लट, झल्लट, कल्लट सरीखे नाम काश्मीर देश में उपलब्ध होते हैं, इन्हीं नामों की समता पर हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि उद्भट काश्मीर के ही निवासी थे। राजतरङ्गिणी में कल्हण किसी एक भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं –

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः।। (४.४९५)

डॉ० व्यूलर ने पहले पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थों के साथ भट्ट उद्भट के अलङ्कारसारसङ्ग्रह का पता लगाया था। उनकी काश्मीर रिपोर्ट में बहुत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि उद्भट काश्मीर के निवासी थे।

महाराज जयापीड वि०सं० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्य के अन्तिम काल में कुछ बदनाम हो गये थे। इनसे प्रजा को पीड़ा होते देखकर ब्राह्मणों ने सब सम्बन्ध छोड़ दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी भट्ट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग में रखना उचित समझते हैं। विचार करने से यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट विक्रमी नवम शतक के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे।

अभी तक भट्ट उद्भट के तीन ग्रन्थों का पता लगा है। वे ये हैं –

१. भामह-विवरण, २. कुमारसम्भव काव्य और ३. अलङ्कारसारसंग्रह।

---

१. उद्भटादयः, औद्भटाः उद्भटमतानुयायिनः, उद्भटप्रभृतयः आदि प्रयोग परवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये हैं।

२. ध्वन्यालोक पृ० १०८, निर्णयसागर।

भामह–विवरण का कतिपय अंश रोम विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है। हस्तलेख के त्रुटित होने से पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। डॉ० मुन्नीलाल द्विवेदी के ग्रन्थ (संस्कृत काव्यशास्त्र को उद्भट का योगदान) में लगभग ३५ पृष्ठों में उसे मुद्रित किया गया है। डॉ० द्विवेदी ने पुष्टतर्कों से उसकी (भामह विवरण) प्रामाणिकता भी सिद्ध की है। प्रतिहारेन्दुराज अलङ्कारसारसङ्ग्रह की लघुविवृति नाम की टीका में एक स्थल पर लिखते हैं – **विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथैतास्माभिर्निरूपित:**[१]। भट्ट उद्भट के दूसरे ग्रन्थ की भी यही दशा है। प्रतिहारेन्दुराज के कथन से उसके अस्तित्त्व का पता चलता है तथा यह मालूम होता है कि अलङ्कारसंग्रह में आये हुए उदाहरण प्राय: उसी काव्य से लिये गये हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघुविवृति में एक स्थान पर यों लिखते हैं – **'अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसम्भवैकदेशोऽत्रोदाहरण त्वेनोपन्यस्त:'**[२]। पी.वी. काणे महाशय कुमारसम्भव काव्य को कालिदास के कुमारसम्भव की नकल मानते हैं।

भट्ट उद्भट का तीसरा और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है अलङ्कारसारसङ्ग्रह। इसका पहले–पहल पता डॉ० बूलर ने काश्मीर में लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट में दिया था। इसका अनुवाद कर्नल जेकब ने निकाला था। वि०सं० १९७२ में पं० मंगेश रामकृष्ण तैलङ्ग ने प्रतिहारेन्दुराज की लघुविवृति नाम की टीका के साथ इसका सम्पादन कर इसे प्रकाशित किया, तब यह सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो सका।

यह ग्रन्थ छ: वर्गों में विभक्त है। इसमें लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलङ्कारों के लक्षण दिये गये हैं। इसकी दो टीकाओं का पता चलता है – प्रतिहारेन्दुराज की लघुविवृति, जिसमें इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक तथा रुद्रट के पद्यों को उद्धृत किया है। राजानक तिलक की टीका का नाम उद्भटविवेक है। यह टीका अल्पाक्षरा है, जिसमें उद्भट के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन है। तिलक ने उद्भटविवेक में प्रतिहारेन्दुराज के मत का स्थान–स्थान पर खण्डन किया है।

उद्भट अलङ्कारसम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। भामह और उद्भट दोनों के सम्मिलित प्रयास का यह परिणत फल है कि अलङ्कार सम्प्रदाय अपने पूर्ण

---

१. अलङ्कारसारलघुविवृत्ति, पृ० १३।

२. वही, पृ० १३ (निर्णयसागर)।

वैभव के साथ विकसित हो सका। अलङ्कार के विषय में इनके कई मान्य सिद्धान्त हैं। आचार्य उद्भट के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। गुणालंकार का साम्य, वृत्ति (परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या) के आधार पर अनुप्रास का विवेचन तथा शिष्ट (श्लेष) अलंकार में शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का विभाजन तथा श्लेष के साथ अन्य अलंकारों के रहने पर श्लेष की प्रधानता।

५. वामन

संस्कृत के आलङ्कारिकों में वामन का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा मानकर साहित्य-जगत् में एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जो रीति-सम्प्रदाय के नाम से सुप्रतिष्ठित इनके प्रतिद्वन्द्वी आचार्य उद्भट ने तो आलोचनाशास्त्र के एकदेश अलङ्कार पर ही ग्रन्थ रचना कर कीर्ति लाभ किया, परन्तु वामनाचार्य ने आलोचनाशास्त्र के समस्त तत्त्वों को अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा से उद्भासित किया। इस दृष्टि से इनकी तुलना अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह के साथ की जा सकती है। उद्भट और वामन दोनों ही काश्मीरी थे और एक ही राजा जयापीड की सभा के सभापण्डित थे। परन्तु यह आश्चर्य है कि दोनों एक दूसरे के विषय में मौन हैं। न तो वामन ने उद्भट के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है और न उद्भट ने वामन के सिद्धान्त का निर्देश।

वामन के समय का निर्धारण पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया गया है। इनके समय की पूर्व अवधि महाकवि भवभूति (७००-७५० ई०) हैं, जिनके एक पद्य[१] को वामन ने रूपक अलङ्कार के उदाहरण में प्रस्तुत किया है। अतः वामन का भवभूति से पश्चाद्वर्ती होना न्यायसिद्ध है। राजशेखर ने (९२० ई०) काव्यमीमांसा में वामन के सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त आलङ्कारिकों का उल्लेख वामनीया शब्द से किया है। अभिनवगुप्त की समीक्षा से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन से पहले ही वामन का आविर्भावकाल था। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में –

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः।।

---

१. इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकरसः
किमस्याः न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।। (उ०रा०च० १.३८)

इस श्लोक को उद्धृत किया है। इसके ऊपर लोचनकार का कहना है कि इस पद्य में वामन के अनुसार आक्षेपालङ्कार है और भामह की सम्मति में समासोक्ति अलङ्कार है। इस आशय को अपने हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने समासोक्ति और आक्षेप, इन दोनों अलङ्कारों का यह एक ही उदाहरण दिया है। उन्हीं के शब्दों को देखें –

वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत्।

(लोचन, पृ० ३७)

अतः लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य की सम्मति में वामन आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पूर्ववर्ती हैं। इस प्रकार वामन का समय ७५० से ८५० ई० के बीच में लगभग ८०० ई० मान्य होना चाहिए।

आचार्य वामन के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कारसूत्र है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में यही एक ग्रन्थ ऐसा है, जो सूत्रशैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं – सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इसमें दिये गये उदाहरण संस्कृत के प्रामाणिक काव्यों से उद्धृत किये गये हैं। सूत्र और वृत्ति की रचना स्वयं वामन ने की है। इसका निर्देश ग्रन्थ के मङ्गल श्लोक में ग्रन्थकार ने स्वयं किया है। यथा –

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।।

(का०सू० मङ्गल श्लोक)

वामन का ग्रन्थ काव्यालङ्कारसूत्र पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण में कतिपय अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में पाँच अधिकरण, बारह अध्याय तथा ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन तथा अधिकारी का वर्णन है। रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर वामन ने रीति के तीन भेद तथा काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। दूसरा अधिकरण (दोष दर्शन) पद वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का दर्शन कराता है। तृतीय अधिकरण (गुणविवेचन) अलङ्कार और गुण के पार्थक्य का विवेचन कर शब्द तथा अर्थ के दश गुणों का पृथक्-पृथक् विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरण (आलङ्कारिक) में अलङ्कार का विस्तार से वर्णन है। पञ्चम अधिकरण (प्रायोगिक) में संदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्दशुद्धि की समीक्षा है।

वामन के ग्रन्थ के कई टीकाकारों का नाम श्रुतिगोचर होता है, जिसमें सहदेव कोई प्राचीन टीकाकार हैं, परन्तु न तो उनके देश का पता है और न काल का। महेश्वर की टीका का नाम साहित्यसर्वस्व है, जिसका हस्तलेख प्राप्त है। गोपेन्द्रतिप्प भूपाल की 'कामधेनु' नाम्नी टीका नितान्त लोकप्रिय है और कई बार प्रकाशित हो चुकी है। इन्होंने काव्यप्रकाश, विद्याधर, विद्यानाथ, विदग्धमुख, मण्डन तथा अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। इससे इनका समय १२वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यात्मा का विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य वामन ही हैं। उन्होंने गुणविशिष्ट पदरचना को रीति कहा है और रीति को काव्यात्मा। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। ''विशिष्टापदरचना रीतिः''। 'विशेषोगुणात्मा' – ये उनके प्रसिद्ध सूत्र हैं।

रीति सम्प्रदाय के उन्नायक होने के कारण वामन कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख कर अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान स्थापित करते हैं।

५. रुद्रट

आचार्य रुद्रट का नाम अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने अलङ्कारों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक श्रेणी विभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया। इनके जीवन–वृत्त के विषय में हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है। इनके नाम से पता चलता है कि ये काश्मीरी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त में भवानी, मुरारि तथा गजानन की। इससे पता चलता है कि ये शैव थे। इनके टीकाकार नमिसाधु के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था।[१] इनके पिता का नाम वामुकभट्ट था तथा वे सामवेदी थे।

अलङ्कारग्रन्थों में आचार्य रुद्रट के मत का उल्लेख इतनी अधिकता से

---

१. अत्र च चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भाविती। यथा –
शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्।।
(काव्यालङ्कार ५।१२–१४ की टीका)

किया गया है कि इनके समय–निर्धारण के विषय में विशेष कठिनाई नहीं दीख पड़ती। सबसे प्राचीन आलङ्कारिक राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में रुद्रट के विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि काकु-वक्रोक्ति एक विशिष्ट शब्दालङ्कार है[1]। वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के रूप में मानने का प्रथम निर्देश हमें रुद्रट में ही मिलता है। इस निर्देश से रुद्रट राजशेखर (९२० ई०) से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। इनका आविर्भाव ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना के पूर्व हो चुका था, क्योंकि ये ध्वनिसिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित हैं। इन्होंने आनन्दवर्धन के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। अतः इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पहले अर्थात् नवम शताब्दी के आरम्भ में मानना उचित है।

रुद्रट के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' है, जो इनकी एकमात्र कृति है। विषय की दृष्टि से यह बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें अलङ्कारशास्त्र के समस्त तत्त्वों का विशिष्ट निरूपण है। पूरा ग्रन्थ आर्या छन्द में निबद्ध है, जिनकी संख्या ७३४ है। इसमें अध्यायों की संख्या १६ है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, पाँच प्रकार के शब्दालङ्कार, चार प्रकार की रीति, पाँच प्रकार की अनुप्रास वृत्ति, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थालङ्कार, दोष, दश प्रकार के रस, नायक-नायिका भेद तथा काव्य के प्रकार का क्रमशः वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है।

रुद्रट के काव्यालङ्कार के ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है – १. रुद्रटालङ्कार बल्लभदेव की यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। ये (वल्लभदेव) काश्मीर के मान्य टीकाकार हैं, जिन्होंने कालिदास, माघ, मयूर तथा रत्नाकर के काव्यों पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखी हैं। इनका समय दशम शताब्दी का प्रथमार्ध है। २. नमिसाधु की टीका – यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। नमिसाधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी टीका की रचना का समय ११२५ वि० (१०६९ ई०) दिया है। उन्हीं के श्लोक का अवलोकन करें –

पञ्चविंशति-संयुक्तैरेकादशसमाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्।।

(टीका का अन्तिम श्लोक)

शब्दसाम्यमूलक साधारण धर्म को भी उपमालंकार का प्रयोजक मानने

---

१. काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः। (का०मी० अ०७, पृ० ३१)

के लिए आचार्य मम्मट ने आचार्य रुद्रट की सम्मति को उद्धृत किया है–

"तथा ह्युक्तं रुद्रटेन स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौकिन्तु। आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि संभवतः।।" काव्यालंकार ४।३२

३. तीसरी टीका के रचयिता आज्ञाधर हैं, जो एक जैन यति थे और १३ वीं शताब्दी के मध्य भाग में विद्यमान थे।

रुद्रट को अलङ्कार सम्प्रदाय का आचार्य मानना उचित है। ये यद्यपि रसयुक्त काव्य की महत्ता स्वीकार करते हैं और तदनुसार काव्य में रसविधान का निरूपण बड़े विस्तार के साथ करते हैं, तथापि इनका आग्रह अलङ्कार सिद्धान्त के ऊपर ही विशेष है। अलङ्कारों के श्रेणी-विभाग करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। इन्होंने अर्थालङ्कारों को चार तत्त्वों – वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर विभक्त करने का प्रयत्न किया।[१] यह श्रेणी-विभाग उतना वैज्ञानिक तो नहीं है, फिर भी अलङ्कारों के प्रति रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि का पर्याप्त परिचायक है। इन्होंने अनेक नवीन अलङ्कारों की भी उद्भावना की है। इस अलङ्कार-विधान के अतिरिक्त काव्य में रस का विस्तृत विधान रुद्रट के ग्रन्थ की महती विशेषता है।

६. आनन्दवर्धन

ध्वनिसिद्धान्त के उद्भावक के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में सर्वदा अजर-अमर रहेगा। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का श्रेय इस आचार्य को प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन यथार्थ है कि ध्वनिकार ने आलङ्कारिकों का मार्ग सदा के लिए व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी प्रतिभा का द्योतक है।

आचार्य आनन्दवर्धन के देश और काल का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। ये काश्मीर के निवासी थे और काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभापण्डितों में अन्यतम थे।[२] कल्हण पण्डित का राजतरङ्गिणी

१. अर्थस्यालंकारा वास्तवौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।। (काव्या. ७।९)

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।। रा०त० ५.४)

में यह निर्देश सर्वथा मान्य और प्रामाणिक है। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने 'क्रमस्तोत्र' की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्द्धन के अन्य ग्रन्थ 'देवीशतक' के ऊपर कैयट ने ९९७ ई० के आस-पास व्याख्या लिखी। राजशेखर ने – जिनका समय नवम शताब्दी का अन्त तथा दशम का आरम्भ है – आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का स्पष्टतः उल्लेख किया है। इससे इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

आनन्दवर्धन ने अनेक काव्य-ग्रन्थों की भी रचना की है, जिनमें 'देवीशतक' 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठ और विख्यात रचना ध्वन्यालोक है, जो इनकी कीर्ति की आधारशिला है। ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि के संभावित विरोधी प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश और उनका युक्तियुक्त खण्डन है। यह उद्योत ध्वनि के इतिहास को जानने के लिए नितान्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। दूसरे उद्योत में ध्वनि के विभेदों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ गुण तथा अलङ्कारों का विवेचन भी प्रसङ्ग की पूर्ति के लिए ग्रन्थकार ने किया है। तृतीय उद्योत का विषय भी ध्वनि के विभेदों का विवेचन ही है। इस उद्योत में काव्य के अन्य भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्र काव्य का वर्णन भी उदाहरणों के साथ दिया गया है। व्यञ्जना नामक नवीन शब्द-व्यापार की कल्पना काव्यजगत् में क्यों की गयी? क्या अभिधा और लक्षणा के द्वारा काव्य के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती? इन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर आनन्दवर्धन ने इस उद्योत में प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है। ध्वनि की सहायता से पूर्वपरिचित अर्थ में भी अपूर्वता का संचार होता है। नीरस विषय में भी रसवत्ता का संचार हो जाता है। ध्वनि काव्य की रचना करने में ही कवि की अमर कला का विलास है। इसका निरूपण इस उद्योत में है।

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं – १. कारिका, २. गद्यमयी वृत्ति तथा ३. उदाहरण। इनमें उदाहरण तो संस्कृत के प्रामाणिक कवियों के प्रख्यात ग्रन्थों से लिए गये हैं, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की लेखनी से प्रस्तुत हुए हैं या इनके रचयिता दो भिन्न व्यक्ति हैं? यह बड़े ही विवाद का विषय है। आलङ्कारिकों की परम्परा सर्वदा आनन्दवर्धन को ही कारिका तथा वृत्ति का अभिन्न रचयिता मानती है, परन्तु ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में

कुछ निर्देश ऐसे अवश्य मिलते हैं, जिससे वृत्तिकार तथा कारिकाकार के पार्थक्य का आभास मिलता है।[१]

७. अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में अभिनवगुप्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़, पाण्डित्यपूर्ण तथा तलस्पर्शिनी हैं कि वे मौलिक ग्रन्थों से भी अधिक आदरणीय हैं। अभिनवगुप्त आलङ्कारिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अतः जब उन्होंने काव्यशास्त्र में ग्रन्थ रचना की, तब इस शास्त्र को एक निम्न स्तर से उठाकर दार्शनिक क्षेत्र में पहुँचाकर ऊँचा उठा दिया।

आचार्य अभिनवगुप्त के देश, काल तथा जीवनवृत्त का परिचय हमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इनके 'परात्रिंशिका-विवरण' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था। पिता का नाम चुखल एवं अनुज का नाम मनोरथ गुप्त था। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शन के गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। लोचन में इन्होंने अपने अलङ्कारशास्त्र के गुरु का नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सामान्य कवि नहीं थे, प्रत्युत महान् आलोचक थे। 'लोचन' के निर्माण की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराज के व्याख्यानों से हुई, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव-भारती' के निर्माण की प्रेरणा इन्हें अपने दूसरे साहित्य-गुरु भट्टोत या भट्टतौत से मिली। अभिनव भारती के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने गुरु भट्टतौत के व्याख्यानों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख बड़े आदर तथा उत्साह के साथ किया है। भट्टतौत अपने समय के मान्य आलङ्कारिक थे, जिनकी महनीय कृति 'काव्य-कौतुक' आज भी विस्मृति के गर्भ में पड़ी हुई है। अभिनव गुप्त ने इसके ऊपर 'विवरण' नामक टीका भी लिखी थी, जो मूल के समान ही अभी तक उपलब्ध नहीं है।

अभिनव गुप्त ने अपने कई ग्रन्थों का रचनाकाल स्वयं दिया है। इन्होंने अपना 'भैरवस्तोत्र' ६८ लौकिक संवत् (९९३ ई०) में लिखा। उत्पलाचार्य के

---

१. द्रष्टव्य, लोचन, पृ० ६०, १२२।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' नामक महनीय ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने 'विमर्षिणी' नामक जो बृहती वृत्ति लिखी है, उसकी रचना ९० लौकिक संवत् तथा ४११५ कलि वर्ष (१०१५ ई०) में हुई थी। कालगणना का निर्देशक यही इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इससे यह सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ काल है।

इन्होंने दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिकाविवरण त्रिक दर्शन के इतिहास में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। इनका विपुलकाव्य 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र में इनकी तीन महनीय कृतियाँ हैं –

(१) ध्वन्यालोक-लोचन – आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की यह टीका सचमुच आलोचकों को लोचन प्रदान करती है, क्योंकि बिना इसकी सहायता के ध्वन्यालोक के तत्त्वों का उद्घाटन नहीं हो सकता था। इसीलिये कहा जाता है – नालोको लोचनं बिना। इस टीका में रसशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों के सिद्धान्त – जिनकी उपलब्धि अन्यत्र होना दुर्लभ है – एकत्र दिये गये हैं। यह टीका इतनी पाण्डित्यपूर्ण है कि कहीं-कहीं मूल की अपेक्षा टीका ही दुरूह हो गयी है, जिसे समझना अत्यन्त कठिन है।

(२) अभिनवभारती – नाट्यशास्त्र के ऊपर एकमात्र यही उपलब्ध टीका है। भरत के कठिन ग्रन्थ को समझने के लिए इस टीका का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। यह लोचन के समान ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है, जिसमें प्राचीन आलङ्कारिकों तथा संगीतकारों के मतों का उपन्यास बड़ी सुन्दरता से किया गया है। अभिनवभारती टीका नहीं, प्रत्युत एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

(३) काव्यकौतुकविवरण – 'काव्य कौतुक' ग्रन्थ अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत की रचना है, जिसके ऊपर इन्होंने यह 'विवरण' लिखा है। परन्तु खेद है कि आज न तो यह मूल ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न इनकी टीका ही। इसकी सत्ता का परिचय भी हमें अभिनवभारती के उल्लेख से ही मिलता है।[१]

---

१. अभिनवभारती, पृ० २९१ (प्रथम खण्ड)

इस प्रकार साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय परम माहेश्वराचार्य आचार्य अभिनवगुप्त को प्राप्त है। ये सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के अतिरिक्त एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बक मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे।

८. राजशेखर

काव्यमीमांसा के रचनाकार आचार्य राजशेखर विदर्भ के निवासी थे। इनका कुल 'यायावर' के नाम से विख्यात था। इसीलिए इन्होंने अपने मत का उल्लेख 'यायावरीय' के नाम से किया है। ये महाराष्ट्रचूड़ामणि कविवर अकालजलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। चौहानवंशीया अवन्तिसुन्दरी नामक एक क्षत्रिय विदुषी स्त्री से इन्होंने अपना विवाह किया था।[१] अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं की विदुषी थी। अलङ्कारशास्त्र के विषय में भी उसके कुछ मौलिक सिद्धान्त थे, जिनका उल्लेख राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में स्थान-स्थान पर किया है। ये निवासी तो थे विदर्भ (बरार) देश के, परन्तु इनका कर्मक्षेत्र था कन्नौज प्रदेश। यहीं के प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल तथा महिपाल (दशम शतक का प्रथमार्ध) के ये गुरु थे। जैसा कि इन्होंने अपने बालरामायण में उल्लेख किया है –

आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः[२]।।

इस प्रकार इनके जीवन में भी इन्हें विशेष गौरव तथा सम्मान प्राप्त था। इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली-भाँति हो जाता है। सियोदीनी

---

१. चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति।।
(कर्पूरमञ्जरी १.११ संस्कृत)

२. बालरामायण, १.१८।

शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०७ ई० तक था तथा इनके पुत्र महीपाल ९१७ ई० में राज्य कर रहे थे। इनके समसामयिक होने से राजशेखर का भी यही समय (दशम शतक का पूर्वार्द्ध) है। इस प्रमाण के अतिरिक्त विभिन्न कवियों के राजशेखरविषयक निर्देशों से भी इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। राजशेखर के मत का उल्लेख सबसे पहले सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में किया है, जिसकी रचना ९६० ई० में हुई थी। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजशेखर लगभग ८८० ई० से लेकर ९२० ई० के बीच में थे।

आचार्य राजशेखर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें १. बालरामायण, २. बालभारत, ३. विद्धशालभञ्जिका तथा ४. कर्पूरमञ्जरी मुख्य हैं। काव्यमीमांसा इनका अलङ्कारशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ १८ भागों या अधिकरणों में लिखा था, जिसका 'कविरहस्य' नामक केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं, जिनमें कवि तथा आलोचक के स्वरूप, प्रकार, काव्य के भेद, रीतिनिरूपण, काव्यार्थ की योनि, शब्दहरण तथा अर्थापहरण का विचार आदि अनेक उपादेय विषयों का नवीन तथा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में कतिपय नूतन सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। जैसे काव्यपुरुष की उत्पत्ति तथा साहित्यविद्यावधू के साथ उसका विवाह सम्बन्ध। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक अज्ञातनामा अप्रसिद्ध आलङ्कारिकों का निर्देश किया गया है, जिससे हम उनके नाम और सिद्धान्तों से अवगत हो सके हैं। राजशेखर भारत के प्राचीन भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। इसलिए प्राचीन भारतीय भूगोल के जानने की विपुल सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। राजशेखर बहुज्ञ आलङ्कारिक थे।

९. धनञ्जय

धनञ्जय का 'दशरूपक' भरत नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन तथा उपादेय सारग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र इतना विपुलकाय ग्रन्थ है कि उसमें प्रवेश पाना विद्वानों के लिए भी कष्टसाध्य है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की।

धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था। दशरूपक की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में हुई थी, जो परमारवंश के सुप्रसिद्ध नरेश थे। मुञ्ज का समय ९७४ ई० से ९९४ तक है। यही समय दशरूपक की रचना का भी है।

धनञ्जय का एकमात्र ग्रन्थ दशरूपक है, जिसमें चार प्रकाश या अध्याय और लगभग ३०० कारिकायें हैं। प्रथम प्रकाश में नाट्य सन्धि के पाँच प्रकार, उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तु का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद, चारों नाट्यवृत्तियों तथा उनके अंगों का वर्णन है। तृतीय में नाटक के दश प्रकारों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाश में नाटक में रस का विशिष्ट विवेचन है, रसनिष्पत्ति के विषय में धनञ्जय व्यञ्जनावादी नहीं हैं, ये तात्पर्यवादी ही हैं। अतः ध्वनिविरोधी हैं। ध्वनिविरोध के सन्दर्भ में धनिक की कारिका है – तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्यन ध्वनिः। विशेषतः भट्टनायक के मत से इनका सिद्धान्त मिलता है।

इस ग्रन्थ की टीका का नाम 'अवलोक' है, जिसकी रचना धनञ्जय के ही भ्राता धनिक ने की है। यह टीका अनेक दृष्टियों से बड़ी ही उपादेय है। धनञ्जय के ग्रन्थ की प्रसिद्धि प्राचीन काल में बहुत अधिक थी। इसीलिए इस पर अनेक टीकाओं की रचना का पता चलता है।

१०. कुन्तक

कुन्तक या कुन्तल अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्तिजीवितकार के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विशिष्ट सिद्धान्त है – वक्रोक्ति ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। इसीलिए इनका ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है, परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। यद्यपि वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है, परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करने का श्रेय कुन्तक को ही है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्वों को अन्तर्भुक्त कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है, उस पर साहित्य-मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

कुन्तक के समय का निरूपण ग्रन्थ में निर्दिष्ट आलङ्कारिकों की सहायता से भली-भाँति किया जा सकता है। कुन्तक आनन्दवर्धन (८५० ई०) के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे। राजशेखर के ग्रन्थों का उद्धरण 'वक्रोक्ति- जीवित' में इतनी बार किया गया है कि निःसन्दिग्ध रूप से कुन्तक राजशेखर के पश्चाद्वर्ती

हैं। उधर महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्त का पर्याप्त खण्डन किया है। महिमभट्ट का समय ग्यारह शतक का अन्तिम भाग है। अतः कुन्तक का काल दशम शतक का अन्त तथा एकादश शतक का आरम्भ मानना उचित जान पड़ता है।

कुन्तक की एकमात्र रचना 'वक्रोक्तिजीवित' है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय या उन्मेष हैं, जिनमें प्रथम दो उन्मेष तो पूर्णरूप से उपलब्ध हुए हैं, परन्तु अन्तिम दो अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ में तीन भाग हैं – कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, साहित्य की कल्पना तथा वक्रोक्ति का लक्षण बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है। वक्रोक्ति के छः भेद ग्रन्थकार ने माने हैं तथा इन सभी भेदों का सामान्य निर्देश इस उन्मेष में किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन प्रकार – वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वाक्यवक्रता के अन्तर्गत ही अलङ्कारों का सन्निवेश किया गया है। कुन्तक ने अलङ्कारों की छानबीन एक नवीन दृष्टि से की है। इसके परिचय के लिए इस उन्मेष का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। चतुर्थ उन्मेष में वक्रोक्ति के अन्तिम दो प्रकार – प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कुन्तक का वैशिष्ट्य वक्रोक्ति की महनीय कल्पना के कारण है। वक्रोक्ति का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कुन्तक कहते हैं– वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः .... तदिदमत्र तात्पर्यम् – यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेन अलंकारेण योज्येते, किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलंकारः। तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्।। इसलिये कुन्तक की विवेचना नितान्त मौलिक है। इनकी शैली अत्यन्त रोचक तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी वक्रोक्ति को ध्वनिवादी आचार्यों ने मान्यता भले ही न प्रदान की है, परन्तु उसके विशिष्ट प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त मानकर उन लोगों ने कुन्तक के प्रति अपना सम्मान ही दिखलाया है।

११. महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम अग्रगण्य है। 'व्यक्तिविवेक' की रचना का उद्देश्य ही सिद्धान्त का खण्डन करना था। इस ग्रन्थ के आरम्भ में

ही इन्होंने प्रतिज्ञा की है कि समस्त ध्वनि को अनुमान के अन्तर्भुक्त दिखलाने के लिए ही मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है –

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।

राजानक महिमक या महिमभट्ट साधारणतया काव्यग्रन्थों में अपने ग्रन्थ के नाम के कारण व्यक्तिविवेककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजानक उपाधि से ही प्रतीत होता है कि ये कश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और इनके गुरु श्यामल थे। इन्होंने भीम के पुत्र तथा अपने पुत्रों की व्युत्पत्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने 'तत्त्वोक्तिकोष' नामक एक अन्य अलङ्कार ग्रन्थ की रचना की[१], जिसका पता अभी तक नहीं चला है।

महिमभट्ट के मत का उल्लेख 'अलङ्कारसर्वस्व' में रुय्यक ने किया है। अतः ये ११०० ई०से पूर्ववर्ती होंगे। इन्होंने 'बालरामायण' के पद्यों को उद्धृत किया है तथा वक्रोक्तिजीवित और लोचन के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः ये १००० ई० के बाद में आविर्भूत हुए थे। अतः इनका समय ११वीं शताब्दी का आरम्भ (१०२५ ई०) मानना उचित है।

महिमभट्ट की एकमात्र कृति व्यक्तिविवेक है। जैसा इसके नाम से प्रतीत होता है– यह व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का 'विवेक' अर्थात् समीक्षण है। इस ग्रन्थ में तीन अध्याय या विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में व्यञ्जना का मार्मिक खण्डन है। ध्वनि को ये लक्षणा से पृथक् नहीं मानते। अतः अनुमान के द्वारा समस्त ध्वनि–प्रकारों का विवरण दिखलाकर महिमभट्ट ने अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष स्वीकार कर उसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। अनौचित्य दो प्रकार का होता है – अर्थविषयक और शब्दविषयक अथवा अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग अनौचित्य के भीतर रस दोष का अन्तर्भाव किया गया है। बहिरंग अनौचित्य को पाँच प्रकार का बतलाते हैं – १. विधेयाविमर्श, २. प्रक्रमभेद, ३. क्रमभेद, ४. पौनरुक्त्य और ५. वाच्यावचन। इन्हीं पाँचों

---

१. इत्यादिप्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रेतत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम्।।
व्यक्तिविवेक, पृ० ११८ (अनन्तशयन संस्करण)

दोषों के पाण्डित्यपूर्ण विवरण से यह विमर्श पूर्ण होता है। काव्य में दोष निरूपण की दृष्टि महिमभट्ट का सचमुच अलौकिक है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में महिमभट्ट के इन सिद्धान्तों को पूर्णतया अपनाया है। तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार ध्वन्यालोक के ध्वनिस्थापन पर टूट पड़ता है और इसमें चालीस ध्वनि के उदाहरणों को लेकर यह दिखलाता है कि ये सभी अनुमान के ही प्रकार हैं।

व्यक्तिविवेक की एक ही प्राचीन टीका है और वह भी अधूरी ही मिली है। रुय्यक की वृत्ति के साथ मूल ग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इधर एक नवीन टीका मधुसूदन मिश्र लिखित के साथ यह ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी अनुवाद प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने किया है। जिसका प्रकाशन चौखम्भा विद्याभवन काशी से हुआ है।

१२. क्षेमेन्द्र

विभिन्न विषयों पर विपुल काव्यराशि प्रस्तुत करने वाले महाकवि क्षेमेन्द्र अलङ्कार जगत् में औचित्यविषयक कल्पना के कारण सदा प्रख्यात रहेंगे। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल से अनेक उपदेशप्रद काव्य ग्रन्थों का प्रणयन किया। अलङ्कार साहित्य में इनकी विशिष्ट कृति **'औचित्यविचारचर्चा'** तथा **'कविकण्ठाभरण'** है। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पितामह का नाम **प्रकाशेन्द्र** था। ये पहले शैव थे। परन्तु अपनी जीवन की संन्ध्या में सोमाचार्य के द्वारा वैष्णव धर्म में दीक्षित किये गये। अपने समस्त ग्रन्थों में इन्होंने अपना दूसरा नाम व्यासदास लिखा है।[१] साहित्यशास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे।[२] इन्होंने अपने ग्रन्थ में उनके रचनाकाल का भी उल्लेख किया है।

---

१. इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासाढ्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः।।

(दशावतारचरित १०)

२. श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृत्तिकारिणः।।

(बृहत्कथामञ्जरी १९।३७)

औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण की रचना काश्मीरनरेश अनन्त (१०२८-१०६५ ई०) के राज्यकाल में की गयी थी[1]। इन्होंने 'दशावतारचरित' का रचनाकाल १०६० ई० दिया है, जब अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश काश्मीर देश पर राज्य कर रहे थे। अतः क्षेमेन्द्र का आविर्भावकाल ११वीं शतक का उत्तरार्द्ध है।

इनका सबसे मौलिक ग्रन्थ **औचित्यविचारचर्चा** है। इसमें औचित्य के सिद्धान्त की बड़ी सी सुन्दर व्याख्या की गयी है। काव्य में औचित्य की कल्पना का प्रथम निर्देश हमें भरत में उपलब्ध होता है। इसका विशदीकरण आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में मिलता है। वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर ध्वनिवादी क्षेमेन्द्र ने औचित्य के नाना प्रकारों का विशिष्ट विवेचन इस छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में किया है। छन्द के विषय में **सुवृत्ततिलक** इनका सुन्दर ग्रन्थ है, जिसे वृत्त औचित्य के विषय में औचित्यविचारचर्चा का पूरक ग्रन्थ समझना चाहिए। '**कविकण्ठाभरण**' कविशिक्षा विषयक मौलिक ग्रन्थ है। इसमें पाँच सन्धि या अध्याय और ५५ कारिकाएँ हैं। इसमें कवित्वप्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण-दोष का विवेचन संक्षेप में परन्तु सुबोध रीति से किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने '**कविकर्णिका**' नामक ग्रन्थ अलङ्कार के ऊपर लिखा था। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसकी जानकारी औचित्यविचारचर्चा के द्वितीय श्लोक से होती है।

क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। इसीलिए इन्होंने विष्णु के दशावतार के विषय में अपना सुन्दर महाकाव्य दशावतारचरित लिखा है। नाम की समता के कारण कुछ लोग क्षेमराज को क्षेमेन्द्र से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। क्षेमराज पक्के शैव थे। क्षेमेन्द्र के कौटुम्बिक वृत्त से हम भली-भाँति परिचित हैं, जिसका उल्लेख इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों में किया है। परन्तु क्षेमराज अपने विषय में नितान्त मौन हैं। इन्हीं कारणों से समकालीन तथा समदेशीय होने पर भी क्षेमेन्द्र और क्षेमराज दोनों भिन्न व्यक्ति हैं।

---

१. तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। (औ०वि०च०)

राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः। (कविकण्ठाभरण)

१३. भोजराज

धारानरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे, अपितु स्वयं एक प्रगाढ़ पण्डित तथा प्रतिभाशाली आलोचक भी थे। अलङ्कारशास्त्र में उनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही अत्यन्त विशालकाय हैं। भोज का समय प्रायः निश्चित है। मुञ्जराज के अनन्तर राज्य करने वाले 'नवसाहसाङ्क' उपाधिधारी सिन्धुराज या सिन्धुल भोजराज के पिता थे। भोजराज का एक दानपत्र संवत् १०७८ (१०२१ ई०) का है। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख संवत् ११११२ (१०५५ ई०) का मिला है। इससे सिद्ध होता है कि १०५४ ई० भोज की अन्तिम तिथि है अर्थात् भोज का आविर्भाव-काल ११वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है।

भोजराज ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी दो ग्रन्थों की रचना की है – १. सरस्वतीकण्ठाभरण और २. श्रृङ्गारप्रकाश। सरस्वतीकण्ठाभरण रत्नेश्वर की टीका के साथ काव्यमाला में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोष-गुण का विवेचन है। इन्होंने पद वाक्य और वाक्यार्थ प्रत्येक के १६ दोष माने हैं। शब्द तथा अर्थ के पृथक्-पृथक् २४ गुण माने हैं। दूसरे परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कारों का वर्णन है। तीसरे परिच्छेद में २४ अर्थालङ्कारों तथा चतुर्थ में २४ उभयालङ्कारों का वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारों के लगभग १५०० श्लोकों को उद्धृत किया है।

भोजराज की दूसरी कृति श्रृङ्गारप्रकाश है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे बड़ा, विस्तृत तथा विपुलकाय है। इसमें ३६ अध्याय या प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द तथा अर्थ विषयक अनेक वैयाकरण सिद्धान्तों का वर्णन है। नवम तथा दशम प्रकाश में गुण और दोष का विवेचन है। एकादश और द्वादश परिच्छेद में महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन क्रमशः दिया गया है। अन्तिम चौबीस प्रकाशों में उदाहरण से मण्डित रस का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। श्रृङ्गारप्रकाश को अलङ्कारशास्त्र का विश्वकोष कहना

अनुचित न होगा; क्योंकि इसमें प्राचीन आलङ्कारिकों के मतों के साथ नवीन मतों का समन्वय कर एक बड़ा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है। काव्य के विविध अङ्गों पर इनके नवीन मत हैं। इनका सबसे विशिष्ट मत यह है कि शृङ्गाररस ही समस्त रसों में एकमात्र रस है –

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः।।

परन्तु यह शृङ्गार साधारण शृङ्गार से भिन्न है। शृङ्गार को ये अभिमानात्मक मानते हैं और इसी विशिष्ट मत के निरूपण के लिए इन्होंने विपुलकाय ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश लिखा है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में भोजराज को हम समन्वयवादी आलङ्कारिक मान सकते हैं। इन्होंने प्राचीन आलङ्कारिकों के मतों को ग्रहण कर उनके परस्पर समन्वय का विधान बड़ी युक्ति के साथ किया है। शृङ्गारप्रकाश पर तो कोई टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है, परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नेश्वरकृत टीका उपलब्ध है तथा मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित भी है। डॉ० राघवन् ने शृङ्गारप्रकाश के ऊपर थीसिस (निबन्ध) लिखा है, जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ० पी०डी० अग्निहोत्रीकृत मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी से प्रकाशित है। डॉ० दर्शन उपाध्याय ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृङ्गारप्रकाश का तुलनात्मक और विकासात्मक अध्ययन वर्ष १९८५ में प्रस्तुत किया है।

भोजराज ने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए प्राचीन आलङ्कारिकों के मतों का समावेश अपने ग्रन्थों में अधिकता से किया है। परन्तु इनके सबसे प्रिय उपजीव्य आलङ्कारिक दण्डी हैं, जिनके काव्यादर्श का आधा से अधिक भाग उदाहरण के रूप में इन्होंने उद्धृत किया है। इस प्रकार इनके ग्रन्थों का ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम नहीं है, क्योंकि इन ग्रन्थों में आए हुए कुछ उद्धरणों की सहायता से संस्कृत के अनेक कवियों का समय निरूपण हम बड़ी आसानी से करने में सक्षम हो सकते हैं।

१४. मम्मट

काव्यशास्त्र के इतिहास में मम्मट के काव्यप्रकाश का स्थान बड़ा ही गौरवपूर्ण है। अलङ्कारजगत् में अब तक जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे, उन सबका दिग्दर्शन कराने हेतु काव्य के स्वरूप तथा अंगों का यथावत् विवेचन मम्मट ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ उस मूल स्रोत के समान है, जहाँ से काव्यविषयक विभिन्न काव्य-धाराएँ फूट निकलीं। ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्ट ने ध्वनि को ध्वस्त करने की जो युक्तियाँ दी थीं, उन सबका खण्डन कर मम्मट ने ध्वनिसिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया। इसी कारण वे **ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य** की उपाधि से विभूषित किये गये हैं।

मम्मट का कौटुम्बिक वृत्त विशेष उपलब्ध नहीं होता। इनके टीकाकार भीमसेन ने मम्मट को कैय्यट तथा उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता तथा जैय्यट का पुत्र बतलाया है। परन्तु यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि उव्वट ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में अपने को वज्रट का पुत्र लिखा है, न कि जैय्यट का। काश्मीरी पण्डितों की परम्परा के अनुसार मम्मट नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं, परन्तु यह भी प्रमादमात्र प्रतीत होता है; क्योंकि यदि श्रीहर्ष काश्मीरी होते, तो काश्मीर में जाकर काश्मीरी विद्वानों को अपने ग्रन्थ के विषय में सम्मति प्राप्त करने का उद्योग ही क्यों करते?

मम्मट ने अभिनवगुप्त को (जो १०१५ ई० में जीवित थे) तथा महाकवि पद्मगुप्त को (जिन्होंने १०१० ई० के आसपास अपना नवसाहसांकचरित लिखा) अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इन्होंने उदात्तालङ्कार के उदाहरण-विषयक पद्य में विद्वज्जनों के प्रति की जानेवाली भोज की दानशीलता का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोज के अनन्तर आविर्भूत हुए। रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में काव्यप्रकाश के श्लेष विषयक मत का खण्डन किया है। इस प्रकार मम्मट का समय भोज (१०५० ई०) तथा रुय्यक के (११५० ई०) के बीच में अर्थात् ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना चाहिए।

मम्मट की दो रचनाएं हैं 'काव्यप्रकाश' और 'शब्दव्यापारविचार'। काव्य प्रकाश में दस उल्लास हैं तथा समस्त कारिकाओं की संख्या १५० के लगभग है। इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, लक्षण तथा त्रिविध काव्य भेद का वर्णन है। द्वितीय में शब्दशक्ति का विचार तथा विवेचन विस्तार के साथ

किया गया है। तृतीय उल्लास में व्यञ्जना का निरूपण हुआ है। चतुर्थ में ध्वनि के समस्त भेदों का तथा रस एवं भाव का विवेचन विस्तार से किया गया है। पञ्चम में गुणीभूतव्यंग्य काव्य की व्याख्या के अनन्तर व्यञ्जना को नवीन शब्दशक्ति मानने की युक्तियाँ बड़ी प्रौढ़ता तथा पाण्डित्य के साथ प्रदर्शित की गयी हैं। षष्ठ उल्लास बहुत छोटा है और उसमें केवल चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन है। सप्तम उल्लास में काव्यदोषों का वर्णन विस्तार के साथ है। अष्टम उल्लास में 'सगुणौ' की व्याख्या है। मम्मट के मत में गुण केवल तीन ही हैं – माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन्हीं के भीतर भरतप्रतिपादित दश गुण तथा वामन निर्दिष्ट बीस गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है। नवम और दशम उल्लास में क्रमशः शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का निरूपण उदाहरणों के साथ किया गया है।

मम्मटकृत काव्यप्रकाश के तीन भाग हैं – कारिका, वृति और उदाहरण। उदाहरण तो मान्य काव्यग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं, परन्तु कारिका और वृत्ति मम्मट की ही निजी रचनाएँ हैं। यह ग्रन्थ पाण्डित्य तथा गम्भीरता में अपनी समता नहीं रखता। इसकी शैली सूत्रात्मक है। अतः इसे समझने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। यही कारण है कि भावप्रकाशिनी ७० टीकाओं के लिखे जाने पर भी इनका भावार्थ अभी तक दुर्बोध बना हुआ है। अतः पण्डितमण्डली का काव्यप्रकाश के विषय में निम्नाङ्कित कथन अक्षरशः सत्यप्रतीत होता है –

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमो।

काव्यप्रकाश के अतिरिक्त मम्मट ने एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है, जिसका नाम 'शब्दव्यापारविचार' है। यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है और शब्दवृत्तियों का समीक्षण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

१५. जयदेव

जयदेव का 'चन्द्रालोक' काव्यशास्त्र का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। जयदेव ने अपना दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' लिखा है[१]। ये महादेव तथा सुमित्रा

---

१. चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती (चन्द्रालोक १.२)

के पुत्र थे[१]। प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव ने भी अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है[२]। इससे स्पष्ट है कि आलङ्कारिक जयदेव तथा कवि जयदेव एक ही व्यक्ति थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से नितान्त भिन्न हैं। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव, भोजदेव तथा रामादेवी के पुत्र थे और बंगाल के किन्दुबिल्व नामक गाँव के निवासी थे। पीयूषवर्ष जयदेव बंगाल के निवासी नहीं प्रतीत होते। प्रसन्नराघव की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि जयदेव बड़े भारी नैयायिक थे[३]। मिथिला में किंवदन्ती है कि चन्द्रालोक के रचयिता ही नैयायिक जगत् में 'पक्षधर मिश्र' के नाम से प्रसिद्ध थे। पक्षधर मिश्र के न्यायग्रन्थों के नाम के अन्त में 'आलोक' शब्द आता है, जैसे मण्यालोक। परन्तु जयदेव तथा पक्षधर मिश्र की अभिन्नता पुष्ट प्रमाणों के द्वारा अभी तक प्रमाणित नहीं हो सकी है।

जयदेव के समय का निरूपण अभी तक निःसन्दिग्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सका है। अनुमान के द्वारा पता चलता है कि इनका समय १३०० ई० के पश्चात् नहीं हो सकता। इनके टीकाकार प्रद्योतनभट्ट ने 'शारदागम' नामक टीका का प्रणयन १५८३ ई० में किया। विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का यह प्रसिद्ध श्लोक अपने साहित्यदर्पण (४.३) में उद्धृत किया है –

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः।।

प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किये गये हैं। इस पद्धति का निर्माणकाल १३६३ ई० है। अतः जयदेव के समय की यही

---

१. महादेवः सत्रप्रमुखमखविघ्नैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।। (चन्द्रालोक १.१६)

२. प्रसन्नराघव, अंक १, श्लोक १४–१५।

३. ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते।। (प्रसन्नराघव १.१८)

अन्तिम अवधि है। जयदेव ने मम्मट के काव्यलक्षण **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** – का खण्डन करते हुए यह सुन्दर पद्य लिखा है –

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

(चन्द्रालोक १.८)

अतः जयदेव का मम्मट से पश्चाद्वर्ती होना युक्तियुक्त है। जयदेव रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' से भी पूर्णतः परिचित हैं। रुय्यक ने सर्वप्रथम विचित्र तथा विकल्प नामक दो अलङ्कारों की कल्पना काव्यजगत् में की। जयदेव ने भी इन दोनों अलङ्कारों को सर्वस्वकार के शब्दों में ही अपने ग्रन्थ में दिया है। अतः जयदेव रुय्यक के पश्चाद्वर्ती हैं। अतः रुय्यक (१२०० ई०) तथा शार्ङ्गधर (१३५० ई०) के मध्यवर्ती होने के कारण जयदेव का समय १३वीं शताब्दी का मध्यभाग भली-भाँति माना जा सकता है।

इनका काव्यशास्त्र सम्बन्धी एक ही ग्रन्थ चन्द्रालोक है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों में पूर्ण हुआ है तथा इसमें ३५० अनुष्टुप् श्लोक हैं। पहले मयूख में काव्य के लक्षण, काव्य के हेतु तथा शब्द के त्रिविध प्रकार (रूढ़, यौगिक, योगरूढ़) का वर्णन है। द्वितीय मयूख दोषों का निरूपण करता है तथा तृतीय लक्षण नामक काव्याङ्ग का। चतुर्थ में दश गुणों का विवेचन है तथा पञ्चम में पाँच शब्दालङ्कारों तथा एक सौ अर्थालङ्कारों का विशिष्ट वर्णन है। छठे मयूख में रस, भाव, त्रिविध रीति, गौड़ी, पांचाली, लाटी तथा पाँच वृत्तियों – मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा का विवेचन है। सप्तम में व्यञ्जना तथा ध्वनिकाव्य के भेदों का, अष्टम में गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रकारों का वर्णन है। अन्तिम दो मयूखों में क्रमशः लक्षणा तथा अभिधा का वर्णन देकर जयदेव ने अपना सुबोध ग्रन्थ पूर्ण किया है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि एक ही श्लोक में अलङ्कार का लक्षण तथा उसका उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार समास शैली में अलङ्कार का इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। जयदेव का यह ग्रन्थ अलङ्कार जगत् में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर छः टीकायें उपलब्ध होती हैं,

जिनमें १. दीपिका, २. शारदशर्वरी एवं ३. वाजचन्द्र की टीका हस्तलिखित के रूप में उपलब्ध हैं। इसकी प्रकाशित टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका ४. शरदागम है। यह टीका म०म० नारायण शास्त्री खिस्ते के सम्पादकत्व में काशी संस्कृत सीरीज में (नं० ७५) प्रकाशित हुई है। ५. रमा टीका के लेखक का नाम पापगुण्ड है। ६. राकागम या सुधा टीका के लेखक विश्वेश्वर भट्ट हैं।

पीयूषवर्ष जयदेव की शैली बहुत ही सरस तथा सुन्दर है। इसकी भाषा बड़ी रोचक तथा मधुर है। इस सुबोध शैली के कारण यह ग्रन्थ अलङ्कार के जिज्ञासुओं के लिए इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि अप्पय्य दीक्षित ने इस ग्रन्थ के अलङ्कार भाग को अपने कुवलयानन्द में पूर्णतया उठाकर रख दिया है। इन्होंने कतिपय नये उदाहरण देकर अपनी एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति जोड़ दी है।

१६. विश्वनाथ कविराज

'साहित्यदर्पण' के रचयिता विश्वनाथ कविराज अलङ्कार जगत् में सबसे अधिक लोकप्रिय आलङ्कारिक हैं। ये उत्कल के बड़े प्रतिष्ठित पण्डितकुल में पैदा हुए थे। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर थे[१], जो अपने पुत्र के समान ही कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ अपने पिता के ग्रन्थ 'पुष्पमाला' तथा भाषार्णव का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। नारायण, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्र पर ग्रन्थों की रचना की थी, या तो विश्वनाथ के पितामह थे अथवा वृद्ध प्रपितामह थे, क्योंकि काव्यप्रकाश की टीका में विश्वनाथ ने नारायण का 'अस्मत् पितामहः' कहकर निर्देश किया है; परन्तु साहित्यदर्पण में उन्हीं का वे 'अस्मद् वृद्धप्रपितामह' कहकर उल्लेख किया है। विश्वनाथ के पिता तथा विश्वनाथ दोनों ही किसी राजा के सान्धिविग्रहिक (वैदेशिक मन्त्री) थे। सम्भवतः यह राजा कलिंग देश का ही अधिपति था। इनका रचनाकाल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी है।

विश्वनाथ एक सिद्ध कवि थे। ये संस्कृत तथा प्राकृत के ही पण्डित न थे, प्रत्युत अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। इसीलिए उन्हें साहित्यदर्पण की पुष्पिका में 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' लिखा गया है[२]। इनके द्वारा

---

१. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः। (साहित्यदर्पण अन्तिम श्लोक)

२. द्रष्टव्य; साहित्यदर्पण प्रथम परिच्छेद की पुष्पिका।

निर्मित काव्यग्रन्थ –जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थों में किया है, ये हैं– १. राघवविलास नामक संस्कृत महाकाव्य, २. कुवलयाश्वचरित – प्राकृत भाषा में निबद्ध काव्य, ३. प्रभावतीपरिणय (नाटिका), ४. चन्द्रकलानाटिका ५. प्रशस्तिरत्नावली–यह षोडश भाषाओं में निबद्ध करम्भक है। इन सब काव्यों का निर्देश विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में स्वयं किया है। इन्होंने नरसिंहविजय नामक काव्य की भी रचना की थी, जिसका निर्देश 'काव्यप्रकाशदर्पण' में मिलता है। विश्वनाथ का समय १२०० ई० माना जाता है।

विश्वनाथ कविराज की सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रचना साहित्यदर्पण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य काव्य के विपुल वर्णन के साथ ही साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवरण उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्य के दोनों भेदों – श्रव्य और दृश्य – का वर्णन कर विश्वनाथ ने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है। इस ग्रन्थ में दश परिच्छेद हैं। विश्वनाथ कविराज आलङ्कारिक होने की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। इनके पद्यों में कोमल पदावली का विन्यास सचमुच अत्यन्त सुन्दर हुआ है। आलङ्कारिक की दृष्टि से हम विश्वनाथ को मौलिक ग्रन्थकार नहीं मान सकते। इनका साहित्यदर्पण मम्मट तथा रुय्यक के ग्रन्थों की सामग्री को लेकर लिखा गया, एक संग्रह–ग्रन्थ है। साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र में प्रवेश करने वाले छात्रों का सबसे सरल मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है।

१७. अप्पय्य दीक्षित

अप्पय्य दीक्षित दक्षिण भारत के मान्य ग्रन्थकारों में अग्रणी हैं। इनका अपना विशिष्ट विषय दर्शनशास्त्र है, जिसके विभिन्न अङ्गों पर इन्होंने विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। अलङ्कारशास्त्र में इनके तीन ग्रन्थ हैं – १. कुवलयानन्द, २. चित्रमीमांसा और ३. वृत्तिवार्तिक। इनमें वृत्तिवार्तिक सबसे पहला ग्रन्थ है, तदनन्तर चित्रमीमांसा तथा सबसे पीछे कुवलयानन्द की रचना की गयी, क्योंकि कुवलयानन्द में चित्रमीमांसा का उल्लेख पाया जाता है।

१. **वृत्तिवार्तिक** – यह शब्द–वृत्तियों की विवेचना में लिखा गया एक छोटा ग्रन्थ है। इसमें केवल दो परिच्छेद हैं, जिसमें अभिधा और लक्षणा का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अधूरा ही दीख पड़ता है।

२. चित्रमीमांसा – यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और ग्रन्थकार की यह प्रौढ़ रचना है। यह ग्रन्थ अतिशयोक्ति अलङ्कार तक वर्णन कर बीच में ही समाप्त हो जाता है।

३. कुवलयानन्द – यह अलङ्कारों के निरूपण के लिए बहुत ही सुन्दर और उपादेय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ जयदेव के चन्द्रालोक पर आधारित है। अन्त में चौबीस नये अलङ्कारों की कल्पना तथा उनका निरूपण ग्रन्थकार ने स्वयं किया है। यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिक नहीं है, तथापि अलङ्कारों की रूपरेखा जानने के लिए अतीव उपादेय है।

अप्पय्य दीक्षित ने कुवलयानन्द की रचना वेंकट नामक राजा के आदेश से की, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है।[१] ये वेंकट विजयनगर के राजा वेंकट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनके एक दानपत्र का समय १५८३ शक (१६०१ ई०) है। इससे स्पष्ट है कि अप्पय्य दीक्षित १६वीं शताब्दी के अन्त या १७वीं शताब्दी के आरम्भ में थे। इस समय की पुष्टि इस घटना से भी होती है कि कमलाकर भट्ट ने १७वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है तथा इसी काल के आस-पास पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका खण्डन किया है।

१८. पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध प्रौढ़ आलङ्कारिक हैं। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का लक्ष्मीदेवी था। पण्डितराज अप्पय्य दीक्षित के समकालीन थे। इनके पिता ने वेदान्त की शिक्षा ज्ञानेन्द्र भिक्षु से, न्याय-वैशेषिक की महेन्द्र पण्डित से, पूर्वमीमांसा की खण्डदेव से तथा व्याकरण की शिक्षा शेष वीरेश्वर से ली थी। जगन्नाथ ने इन विषयों का अध्ययन अपने पिता से तथा अपने पिता के एक गुरु वीरेश्वर से किया था। इनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। ये कुछ दिनों तक शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाते थे। जगदाभरण काव्य में इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा की है। दिल्ली के

---

१. अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पय्यदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः।। कुवलानन्द।

दरबार में उनकी युवावस्था बीती थी – 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।' दिल्लीश्वर के दान की प्रशंसा में कहा है–

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरोवा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकायवास्याल्लवणाय वा स्यात्।।

शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के समकालीन होने के कारण पण्डितराज का समय भली-भाँति निश्चित किया जा सकता है। शाहजहाँ के दरबार के सरदार नवाब आसफ खाँ के आश्रय में भी ये कुछ दिन रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है। आसफ खाँ की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। उसी के दुःख में इन्होंने 'आसफ विलास' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसलिए इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्यभाग सिद्ध होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से काव्यग्रन्थों की रचना की है, जिनमें भामिनीविलास, गङ्गालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, आसफविलास, जगदाभरण, प्राणाभरण, सुधालहरी, यमुनावर्णन चम्पू प्रसिद्ध हैं। भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा के खण्डन के लिए इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा है।

अलङ्कारजगत् में इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ रसगङ्गाधर है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश के समान महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जो उदाहरण दिये हैं, वे सब इन्हीं की रचनायें हैं। जैसा कि उन्होंने रसगङ्गाधर में कहा है –

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिका-जनन-शक्तिभृता मृगेण।।

(रसगङ्गाधर, पृ० ३)

रसगङ्गाधर के अधूरा होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में केवल दो आनन ही उपलब्ध होते हैं। इसके नाम से लगता है कि इसमें पाँच आनन होना चाहिए। प्रथम आनन में काव्य का लक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" किया गया है। इसकी पुष्टि करते समय इन्होंने प्राचीन आलङ्कारिकों के काव्यलक्षण की पूरी समीक्षा की है। प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु बतलाकर इन्होंने काव्य के चार विभाग या प्रकार निश्चित किये हैं –

१. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम, ४. अधम। तदनन्तर रस का साङ्गोपाङ्ग विवेचन ग्रन्थकार ने किया है। द्वितीय आनन के आरम्भ में ध्वनि के प्रभेदों का विवेचन कर अभिधा और लक्षणा की समीक्षा की है। तदनन्तर अलङ्कारों का निरूपण किया गया है। इन्होंने केवल ७० अलङ्कारों का वर्णन किया है। उत्तरालङ्कार के वर्णन से यह ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

रसगङ्गाधर पाण्डित्य का निकषग्रावा समझा जाता है। जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अद्भुत समिश्रण प्रस्तुत किया है। इनके लिखने की शैली बड़ी ही उदात्त तथा ओजस्विनी है। अपने प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करने में इनकी बुद्धि बड़ी तीव्रता से चलती थी। इनकी आलोचना निष्पक्ष होती थी और खण्डन के अवसर पर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होंने मम्मट और आनन्दवर्धन की भी आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया है। परन्तु विशेष खण्डन इन्होंने अप्पय्य दीक्षित के मत का किया है।

रसगङ्गाधर की केवल दो टीकायें उपलब्ध हैं, जिनमें नागेशभट्टकृत 'गुरुमर्मप्रकाशिका' ही अब तक प्रकाशित हुई है। नागेश भट्ट का अपना विषय व्याकरण है, जिसमें इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। रसगङ्गाधर की एक दूसरी टीका का भी पता चलता है, जिसका नाम 'विषमपदी' है, परन्तु यह अबतक अप्रकाशित है और इसके रचनाकार का भी पता नहीं चलता है। इसके अतिरिक्त पण्डित मदनमोहन झा कृत चन्द्रिका व्याख्या भी चौखम्बा विद्याभवन से प्रकाशित हुई है।

काव्यशास्त्र का यही क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह हमारा साहित्यशास्त्र ६०० से १८०० ई० तक, अर्थात् १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल में फैला हुआ था। इसका आरम्भ काल ६०० ई० से भी प्राचीन है। भरत के नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में भी काव्यशास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है, परन्तु उस समय हमारा शास्त्र नाट्यशास्त्र का एक सामान्य अंगमात्र ही था। इस शास्त्र का उद्गम भारत के किस प्रान्त में हुआ? इसका यथार्थ विवरण हम नहीं दे सकते। परन्तु इसकी विकास-भूमि से हम पूर्णतः परिचित हैं। शारदा-देश काश्मीर ही साहित्यशास्त्र के विकास की पवित्र भूमि है। भरत के निवास स्थान का हमें

ज्ञान नहीं है, परन्तु भामह, उद्भट, रुद्रट, मुकुलभट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट जैसे महनीय आलोचकों की जन्मभूमि काश्मीर देश ही थी – यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। विल्हण शारदा देश (काश्मीर) को कविताविलास तथा केशरप्ररोह की जननी मानते हैं। इनमें हम काव्यशास्त्र के नाम को जोड़कर यह भली-भाँति उद्घोषित कर सकते हैं कि जिस काश्मीर में कवियों ने अपनी कमनीय काव्यमाला का प्रदर्शन किया, उसी देश में काव्य के मर्मज्ञों ने काव्य की यथार्थ समीक्षा भी की। अतः यह भूमि संस्कृत के महाकवियों की ही नहीं, प्रत्युत संस्कृत के महनीय आलोचकों की भी जन्मदात्री है। हमारे आलोचनाशास्त्र का जो सारभूत मौलिक अंश है, उसका विवेचन और विवरण इसी काश्मीर देश में किया गया। प्राचीन आलङ्कारिकों में दण्डी ही ऐसे हैं, जो काश्मीरी न होकर दक्षिण देश के निवासी थे। पिछले शताब्दी में मध्यभारत, गुजरात, दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इन प्रान्तों के ग्रन्थकार प्रायः व्याख्याकाल से सम्बन्ध रखते हैं। फलतः उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखकर सिद्धान्तों का परिबृंहण किया। उन लोगों ने मौलिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया। परन्तु हमारा शास्त्र कभी भी स्थावर नहीं रहा – एकदम जड़ तथा गतिशून्य भी नहीं। यह क्रमशः विकासशील शास्त्र है, जिसका परिचय प्रत्येक शताब्दी में आलोचक को पदे-पदे प्राप्त होता है।

काव्यशास्त्र का कालविभाजन

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास को मोटे तौर पर हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं –

१. **प्रारम्भिक काल [अज्ञात काल से भामह तक]** – जैसा कि पहले कहा गया है, साहित्यशास्त्र के आरम्भ का पता नहीं चलता कि कौन सा ग्रन्थ सबसे पहले लिखा गया था और उसका समय क्या था? भरत के नाट्यशास्त्र में चार अलङ्कार, दश गुण और दश दोषों का वर्णन कर ही काव्यशास्त्र की इतिश्री मानी गयी है। भामह के काव्यालङ्कार से स्पष्ट प्रतीत

होता है कि उनके पहले अनेक ग्रन्थ साहित्यशास्त्र पर निर्मित हो चुके थे, परन्तु न तो इन ग्रन्थों का ही पता है और न ग्रन्थकारों का। भरत और भामह के बीच का युग हमारे शास्त्र के इतिहास में अन्धकार युग है। इस युग में केवल एक आलोचक का पता चलता है और वे हैं – मेधावी। भामह का काव्यलङ्कार इस प्रथम युग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसी पुस्तक के आधार पर भट्टि ने अपने भट्टिकाव्य में अलङ्कारों का विधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने ३८ स्वतन्त्र अलङ्कारों का सन्निवेश अपने ग्रन्थ में किया है। इस युग में नाट्यरस की विस्तृत व्याख्या भरत ने की थी। परन्तु काव्य में रस की महत्ता की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया था।

२. रचनात्मक काल – [भामह (६५० ई०) से आनन्दवर्धन (८५० ई०) तक] – साहित्यशास्त्र का रचनात्मक युग भामह से प्रारम्भ होकर आनन्दवर्धन तक चलता है। यह दो सौ वर्षों का काल हमारे शास्त्र के इतिहास में इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसी समय काव्य के मौलिक तत्त्वों की उद्भावना हमारे आलोचकों ने की। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट काव्य के उन बाह्य आभूषणों की रूपरेखा का निर्माण कर रहे थे, जो अलङ्कार के नाम से अभिहित होते हैं और जिनकी ओर काव्य के पाठकों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। इसी सम्प्रदाय के नाम पर इस शास्त्र का नाम **अलङ्कारशास्त्र** पड़ा। दूसरी ओर दण्डी और वामन कविता की रीति तथा तत्सम्बद्ध दश गुणों की परीक्षा में संलग्न थे। इनकी दृष्टि में काव्य का सौन्दर्य गुणों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अलङ्कार तो केवल उसके अतिशय करने वाले धर्म हैं। इन आचार्यों के उद्योग के फलस्वरूप **रीति सम्प्रदाय** की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। इन ग्रन्थकारों की रचना के साथ ही साथ भरत के नाट्यशास्त्र की गहरी छानबीन इसी युग में प्रारम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने अपने दृष्टिकोण से भरत के ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखीं तथा उनके रस-सिद्धान्त को समझाने का बड़ा उद्योग किया; परन्तु यह रसवाद अभी तक नाट्य के सम्बन्ध में ही था। काव्य में रसवाद का महत्त्वपूर्ण विवेचन आनन्दवर्धन से आरम्भ होता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आलोचक आनन्दवर्धन इसी युग की विभूति हैं। इन्होंने रस सिद्धान्त की व्यवस्था काव्य में की। इतने से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए, प्रत्युत इन्होंने अलङ्कार और रीति के सिद्धान्तों को भी अपनी

काव्यपद्धति में समुचित स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि आनन्दवर्धन ने काव्य का सर्वाङ्गीण वर्णन सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया। अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में यह काल सुवर्ण युग माना जाता है, क्योंकि साहित्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न मौलिक सम्प्रदाय इसी युग में उत्पन्न हुए और फूले-फले। इस युग के प्रधान आचार्य हैं –

(क) भामह, उद्भट और रुद्रट (अलङ्कार सम्प्रदाय)।

(ख) दण्डी और वामन (रीति सम्प्रदाय)।

(ग) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि (रस-सम्प्रदाय)

(घ) आनन्दवर्धन (ध्वनि सम्प्रदाय)।

३. निर्णयात्मक काल – [आनन्दवर्धन (८५० ई०) से मम्मट (१०५० ई०) तक] – अलङ्कारशास्त्र का तीसरा काल निर्णयात्मक काल कहा जा सकता है। यह आनन्दवर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक (अर्थात् ८५० ई० से १०५० ई०) जाता है। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित होने में दो सौ वर्षों का समय लगा। एक तरफ तो अभिनवगुप्त इसकी शास्त्रीय व्याख्या करने में लगे थे, तो दूसरी ओर अनेक आलङ्कारिक इनके प्रबल विरोध करने में संलग्न थे। भट्टनायक, कुन्तक तथा महिमभट्ट की साहित्यिक कृतियों का यही युग है। अपने दृष्टिकोण से इन्होंने ध्वनि के खण्डन करने का बड़ा ही उग्र प्रयत्न किया। परन्तु मम्मट ने इन विरोधी मतों की व्यर्थता दिखलाकर ध्वनि के मत को ही सर्वतः पुष्ट किया और उसे इतने दृढ़ आधारों पर सुव्यवस्थित कर दिया कि बाद के आलङ्कारिकों को उसे खण्डन करने का साहस ही नहीं हुआ। इस युग के प्रधान आचार्य हैं –

(क) अभिनवगुप्त, (ख) कुन्तक, (ग) महिमभट्ट, (घ) रुद्रटभट्ट, (ङ) धनञ्जय, (च) भोजराज।

४. व्याख्याकाल – [मम्मट (१०५० ई०) से जगन्नाथ (१७५० ई०) तक] – काव्यशास्त्र का यह काल व्याख्या-काल कहलाता है, जो मम्मट से आरम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (१०५० ई० से १७५० ई०), अर्थात् ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युग में कुछ आचार्यों ने (हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि) पूरी काव्यपद्धति की समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण

स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। कुछ लोगों ने काव्य के विविध अंगों – विशेषतः अलङ्कार तथा रस–पर पृथक् ग्रन्थों का निर्माण किया। रुय्यक और अप्पय्य दीक्षित ने अलङ्कारों का विशेष वर्णन किया है। शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने अपने नाट्यविषयक ग्रन्थों में रस का बड़ा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है। भानुदत्त ने भी इस कार्य में विशेष सहयोग दिया है। रूपगोस्वामी ने गौडीय मत के अनुसार मधुर रस की व्याख्या कर रस साधना का मार्ग प्रशस्त बनाया। कुछ आलोचकों ने काव्य के व्यावहारिक रूप को बतलाने के लिए कविशिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया। राजशेखर की काव्यमीमांसा यद्यपि इसके पूर्व युग से सम्बद्ध है, तथापि इसमें कविशिक्षा का ही विषय विशेष रूप से वर्णित है। अरिसिंह और अमरचन्द्र तथा देवेश्वर ने 'कविकल्पलता' के द्वारा कविशिक्षा के विषय को व्यवस्थित तथा लोकप्रिय बनाया। क्षेमेन्द्र ने इसी युग में औचित्य के सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया। प्राचीन युग में मान्य अलङ्कार ग्रन्थों पर सैकड़ों टीकाएँ तथा व्याख्याएँ इस काल में लिखी गयीं, जिनमें मौलिकता की अपेक्षा विद्वत्ता ही अधिक है।

इस युग के अन्त में दो बहुत बड़े प्रौढ़ आलङ्कारिक उत्पन्न हुए, जिनके नाम पण्डितराज जगन्नाथ और वीरेश्वर पाण्डेय हैं। वीरेश्वर पाण्डेय ने 'अलङ्कार कौस्तुभ' लिखकर अपने प्रकृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया। इनकी तुलना में पण्डितराज जगन्नाथ का कार्य विशेष मौलिक तथा उपादेय है। खण्डित होने पर भी इनका ग्रन्थ रसगङ्गाधर युक्तिमत्ता और विवेचनशैली की दृष्टि से काव्यशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। अलङ्कारशास्त्र की गोधूलि बेला में लिखे जाने पर भी यह प्रौढ़ता, गम्भीरता तथा विद्वत्ता में उसके मध्याह्न काल में लिखे गये ग्रन्थों से टक्कर लेता है। इस युग के प्रधान आचार्य हैं –

(क) मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि (ध्वनिमत)।

(ख) शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि (रसमत)

(ग) राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि (कवि–शिक्षा)

(घ) पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय।

५. आधुनिक काल (पण्डितराज से अद्यावधि) – भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न परम्परा देखी जाती है, जिसमें खण्डन-मण्डन पुरस्सर पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष एवं सिद्धान्तपक्ष की प्रतिपादन की परम्परा पुष्ट होती रही, उसमें अनेक आचार्य हुए जो भाष्यटीका उपटीका के माध्यम से काव्यशास्त्र की अजस्र धारा को पोषित करते हुए प्रतीत होते हैं। यह परम्परा न केवल पण्डितराज तक ही सीमित रही, अपितु उनके उत्तरकाल खण्ड में भी शताधिक काव्यशास्त्री हुए, जिन्होंने काव्यशास्त्र की ओजस्विनी धारा को प्रवाहित करने में प्राणपण से प्रयत्न किया जिनमें सर्वेश्वर, अच्युतराय, विश्वेश्वर, आशाधर भट्ट, देवशङ्कर पुरोहित, ब्रह्मपरकाल, संयमीन्द्र आदि विद्वानों का नाम सगर्व उपस्थापित किया जा सकता है। नासिक प्रदेश के पञ्चवटी ग्राम में उत्पन्न श्री अच्युत राय (१८०० ई० – १८६० ई०) ने 'साहित्यसार' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ प्रौढ़, मर्मप्रकाशक, विवेचनापूर्ण है। इसमें काव्य एवं नाट्य का सर्वाङ्गीण विवेचन हुआ है। साहित्यदर्पण की शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ कहीं भी कठिनता का स्पर्श नहीं करता, इससे उनकी रचनाचातुरी प्रतीत होती है।

मिथिला जनपद को अपने जन्म से गौरवान्वित करने वाले पद-वाक्य-प्रमाणपारावारपारीण न्यायाचार्य महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र (१८वीं शती का पूर्वार्द्ध) ने 'शृङ्गारसारिणी' नामक ग्रन्थ की रंचना की। ग्रन्थ के उद्देश्य को उन्होंने स्वयं निम्न रूप से प्रकाशित किया है –

'लोकोत्तरानन्दमकरन्दरसालेषु रसेषु प्राथम्यात्, विषयिणां प्रचुरप्रयोगप्रापकत्वाच्च शृङ्गाररसो निरूप्यते'।

इन्होंने शृङ्गारसारिणी में अत्यन्त प्रबल युक्तियों से मम्मट, विश्वनाथ के साथ पण्डितराज जगन्नाथ के मत का प्रत्याख्यान कर अपने मत की स्थापना की है। यह ग्रन्थ मुद्रित रूप में उपलब्ध है। आज भी अनेक आचार्य विद्यमान हैं जो अपनी काव्यशास्त्रीय रचनाचातुरी से काव्यशास्त्र की चिन्तनपरम्परा के भार को अच्छी प्रकार वहन कर रहे हैं, जिनमें **जयमन्तमिश्र, आनन्दमिश्र, सनातन कवि प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी, पं० वायुनन्दन पाण्डेय, शिवजी उपाध्याय, ब्रह्मानन्द, प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, त्रिवेणीकवि अभिराज राजेन्द्र मिश्र** आदि का नाम सगर्व उपस्थापित किया जा सकता है।

सनातनकवि रेवा प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्यशारीरिकम्' ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषयों काव्य, नाट्य आदि का अनुसन्धानात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पण्डित श्री शिवजी उपाध्याय ने साहित्यसन्दर्भ नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर साहित्यशास्त्र की अनेकविध ग्रन्थियों को सुलझाने का सफल प्रयास किया है। यह ग्रन्थ स्वोपज्ञ वृत्तिसहित कारिका में निबद्ध है। कारिका की भाषा सुपरिच्छिन्न, परिस्फुट तथा संयत है। इसी प्रकार प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा प्रणीत '**अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्**' आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में अभिनव काव्यशास्त्र है। अभिनव मानदण्डों की खोज में यह ग्रन्थ सहायक सिद्ध होगा। आचार्य ने इसमें काव्य के अभिनव विधाओं की समीक्षा की है। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र की अजस्त्र धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है।

कृतित्व का सामान्य परिचय

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र का बड़ा महत्त्व है। यह सतत विकासशील शास्त्र है, जिसका अनुशीलन-परिशीलन गत दो हजार वर्षों से निरन्तर होता आ रहा है। संस्कृत के आचार्यों ने इस शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का समीक्षण तथा वर्णन उस युग में किया था, जब पश्चिमी जगत् में इसकी सामान्य चर्चा भी न थी। पाश्चात्य आलोचना के जनक यूनानी आलोचक हैं, परन्तु उनकी आलोचना में भी इतनी व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता नहीं है, जितनी संस्कृत आलोचना में। आजकल के नवयुवक जिन्होंने केवल पाश्चात्य साहित्य पढ़ा है, बहुधा यही समझते हैं कि ग्रीक और लैटिन में और तत्पश्चात् फ्रेंच और अंग्रेजी में जो पुस्तकें हैं, उनमें ही साहित्यकला का समस्त ज्ञान संचित है और बहुधा उन्हीं में समाविष्ट सिद्धान्तों की कसौटी पर साहित्य की समालोचना हो सकती है, यह उनका विश्वास भ्रमपूर्ण है।

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में ऐसे महत्त्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है कि उनकी जानकारी प्रत्येक काव्य-पाठक को होनी चाहिए। हिन्दी का ही नहीं, प्रत्युत भारतवर्ष की समग्र प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य-शास्त्र संस्कृत के काव्यशास्त्र की नींव पर आधारित है – उनके तथ्यों तथा सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। परन्तु आज की नव्य आलोचना पाश्चात्त्व ग्रन्थों को ही अपना आधार पीठ बनाती है, यह दुर्भाग्य का विषय है। अपने घर के रत्नों को छोड़कर दूसरों

के दरवाजों पर पैसे के लिए भटकते फिरते रहने के समान यह उपहास का विषय है। भारत के इन सिद्धान्त-रत्नों से परिचय पाना प्रत्येक साहित्यवेत्ता का पुनीत कर्त्तव्य होना चाहिए। भारतीय संस्कृत साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त बड़े ही व्यापक एवं तलस्पर्शी हैं, जिनकी छानबीन बड़े विस्तार के साथ संस्कृत ग्रन्थों में की गयी है। अति विस्तार से परिचय न पाने पर भी सिद्धान्तों के मूल से परिचित होना तो नितान्त आवश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस लघुकाय ग्रन्थ की रचना की गयी है।

इसमें काव्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र पर विशेष दृष्टि निक्षेप करते हुए दोनों का ऐक्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। काव्यशास्त्र की उपादेयता को प्रतिपादित करते हुए काव्यशास्त्र के प्रमापक तत्त्वों को प्रकाशित किया गया है। काव्य के हेतु, प्रयोजन तथा स्वरूप के विषय का विवेचन संक्षेप में किया गया है। काव्य के भेद एवं श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य दोनों के आवश्यक तत्त्वों की छानबीन की गयी है। शब्द की वृत्तियों पर विचार के अनन्तर रस निरूपण, काव्य में गुण एवं अलङ्कार का उचित स्थान निर्धारित किया गया है। यहाँ काव्य के मान्य सिद्धान्तों का – जैसे औचित्य, रीति तथा गुण, दोष, वक्रोक्ति, अलङ्कार, ध्वनि तथा रस का विवेचन किया गया है। दृश्य काव्य की उपादेयता, दृश्य काव्य के अनुरूप रंगमञ्च एवं रंगशाला की निर्मिति पर विचार उपस्थापित करते हुए रूपकों के भेदोपभेद का प्रतिपादन पुरस्सर नायक-नायिका के भेदों को भी निरूपित करने का प्रयास किया गया है। हमारा उद्देश्य यही है कि भारतीय काव्यशास्त्र के मान्य मौलिक सिद्धान्त अपने विशुद्ध रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत हो जाय और इसके लिए भाषा तथा शैली दोनों को सरल, सुबोध तथा सरस बनाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। उदाहरणमुखेन विवेचन रखने का प्रयास किया गया है। उदाहरण का चुनाव हिन्दी एवं संस्कृत के ग्रन्थों से किया गया है। हिन्दी के उदाहरण यहाँ इसलिए रखे गये हैं, जिन्हें समझने में पाठकों को विशेष सुविधा होगी तथा संस्कृत के पद्यों के अनुवाद देने से ग्रन्थ के कलेवर के विस्तार से बचा जा सकेगा। आशा है इस पद्धति से विषय का उपन्यास पाठकों के लिए विशेष लाभप्रद होगा। यह ग्रन्थ संस्कृत के मौलिक ग्रन्थों के ऊपर आधारित है, अतः संस्कृत के काव्यशास्त्र का परिशीलन संक्षेप में, परन्तु विशद रूप में यहाँ विन्यस्त है।

काव्यशास्त्र के स्रोत

भारतीय साहित्य में काव्यशास्त्र एक महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र है, जिसके सिद्धान्त का प्रतिपादन विक्रम के आरम्भ से लेकर आज तक लगभग २००० वर्ष के सुदीर्घ काल में होता चला आ रहा है। परन्तु इस शास्त्र का आरम्भ किस काल में हुआ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आरम्भ में इस शास्त्र के उदय की चर्चा की है। यह वर्णन किसी भी अलङ्कार ग्रन्थ में अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु अब तक अज्ञात होने के कारण इस वर्णन की हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। बहुत सम्भव है कि राजशेखर किसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे हों, जो या तो सर्वथा अवच्छिन्न हो गयी है या बहुत ही कम प्रसिद्ध है। राजशेखर के अनुसार काव्यमीमांसा का प्रथम उपदेश भगवान् शिव ने ब्रह्मा, विष्णु आदि अपने ६४ शिष्यों को दिया। स्वयंभू ब्रह्मा ने भी अपने मानसजन्मा विद्यार्थियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं में सबसे वन्दनीय सर्वशास्त्रवेत्ता थे सरस्वती के पुत्र सारस्वतेय काव्यपुरुष। प्रजापति ने प्रजा की हितकामना से प्रेरित होकर इन्हीं काव्यपुरुष को काव्यविद्या की प्रवर्तना के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस विद्या को अठारह अधिकरणों में लिखकर अठारह शिष्यों को अलग-अलग पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु के द्वारा प्रदत्त विद्या के बहुल प्रचार के लिए काव्य के अठारहों अङ्गों पर अठारह ग्रन्थों का निर्माण किया[१]। इन आचार्यों में कतिपय आचार्य वात्स्यायन के कामसूत्र में भी वर्णित हैं। सुवर्णनाभ और कुचमार (कुचुमार) काव्यशास्त्र में उपजीव्य आचार्यों के रूप में उल्लिखित किये गये हैं (कामसूत्र १.१.१३, १७)। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को रूपक का शास्त्रकर्त्ता मानना उचित ही है। नन्दिकेश्वर का रसविषयक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु कामशास्त्र, संगीत तथा अभिनय के विशेषज्ञ के रूप में उनका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ पञ्चसायक तथा रतिरहस्य में नन्दीश्वर कामशास्त्र के एक आचार्य माने गये हैं। अभिनय विषयक इनका ग्रन्थ अभिनय-दर्पण के नाम से प्रसिद्ध है। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य मानते हैं, इन आचार्यों के अतिरिक्त

---

१. राजशेखर – काव्यमीमांसा, पृ० १।

राजशेखर के द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारों का परिचय नहीं मिलता।

वेदों में अलङ्कार

वैदिक साहित्य में काव्यशास्त्र का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता और न वेद के षडङ्गों में अलङ्कारशास्त्र की गणना है, परन्तु इस शास्त्र के मूलभूत अलङ्कारों उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। अलङ्कारों में उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है। इसका सम्बन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। आर्यों की प्राचीनतम कविता ऋग्वेद में उपनिबद्ध है। इसे देव का अमरकाव्य कहा गया है –

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

बहुत से अलङ्कारों के उदाहरण ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलते हैं। उषा विषयक इस ऋचा में चार उपमाएँ एक साथ दी गयी हैं –

अभ्रातेव पुंस एति मतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।।

(ऋग्वेद १.१४.७)

अतिशयोक्ति अलङ्कार का यह उदाहरण देखिये –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

(ऋग्वेद १.१६४.२०)

रूपकालङ्कार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

(कठो० १.३.३)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलङ्कारों की सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है। यही क्यों? उपमा शब्द भी ऋग्वेद (५.३४.९, १.३१.१५) में

उपलब्ध होता है, जिसका सायण ने अर्थ किया है – उपमान या दृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। यह केवल सामान्य निर्देश है।

निरुक्त में अलङ्कार

निरुक्त में अलङ्कार शब्द पारिभाषित अर्थ में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यास्क ने 'अलङ्करिष्णु' शब्द का प्रयोग अलंकृत करने के शील वाले व्यक्ति के अर्थ में अवश्य किया है। यह शब्द इसी अर्थ में शतपथ ब्राह्मण (३.५.१.३६) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८.८.५) में भी उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में वैदिक उपमा के द्योतक बारह निपातों (अव्ययों) का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसङ्ग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा उपमा के लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य थे। उनका उपमा का लक्षण इस प्रकार है[१] – **उपमा यद अतत् तत्सदृशमिति** – अर्थात् उपमा वहाँ होती है, जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उपमा वहाँ होती है, जहाँ स्वभावतः भिन्न होते हुए भी कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ गुण की समानता के कारण सदृश मानी जाय[२]। गार्ग्य का यह भी उल्लेख है कि उपमान को उपमेय की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ तथा अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत भी उदाहरण दिये गये हैं, जहाँ हीन गुण वाले उपमान से अधिक गुण वाले उपमेय की तुलना की गयी है और इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद के उदाहरण भी दिये गये हैं। गार्ग्य के इस उपमा-लक्षण को देखकर किसी भी आलोचक को मम्मट के सुप्रसिद्ध उपमा-लक्षण का स्मरण आये बिना नहीं रहेगा[३]। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार (६०२ ई०पू०) से पूर्व

---

१. अर्थात् उपमा यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्यातमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमीयते अथापि कनीयसा ज्यायांसम् – निरुक्त ३.१३।

२. सर्वं एतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्याद् उपमीयते इत्येव गार्ग्याचार्यो मन्यते। दुर्गाचार्य – निरुक्त की टीका ३.१३।

३. साधर्म्यमुपमा भेदे – काव्यप्रकाश १०.१।

ही उपमा की शास्त्रीय कल्पना हो चुकी थी।

यास्क ने पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है[१]। उपमा के द्योतक निपात – इव, यथा, न चित्, नु और आ हैं। इन वाचक पदों के प्रयोग होने पर यास्क के अनुसार कर्मोपमा होती है। 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा' (ऋग्वेद १.५०.३) 'अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है। इसी प्रकार भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा का सोदाहरण प्रतिपादन किया गया है। अन्तिम भेद अर्थोपमा है, जिसका दूसरा नाम लुप्तोपमा है। यह पिछले आलङ्कारिकों का रूपकालङ्कार है। इस उपमा का उदाहरण है – सिंहः पुरुषः तथा काकः पुरुषः। यास्क के अनुसार सिंह तथा व्याघ्र शब्द पूजा के अर्थ में और श्वा तथा काक निन्दा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस विभाजन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय में अलङ्कार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

पाणिनि के (७०० ई०पू०) समय में उपमा की यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी। इसीलिए पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमान, उपमिति तथा सामान्य धर्म जैसे अलङ्कारशास्त्र के पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। पूर्ण उपमा के चार अंग होते हैं – उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक तथा साधारण धर्म। इन चारों का स्पष्ट निर्देश पाणिनि ने अपने व्याकरणशास्त्र में किया है। कात्यायन इस विषय में पाणिनि के स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने अपने फिट् सूत्रों (२.१६, ४.१८) में स्वरविधान पर सादृश्य का जो प्रभाव पड़ता है, उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतञ्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त उपमान शब्द की व्याख्या महाभाष्य (२.११.५५) में की है। उनका कहना है कि 'मान' वह वस्तु है, जो किसी अज्ञात वस्तु के निर्धारण के लिए प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं, प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है। जैसे – 'गौरिव गवयः' गाय के समान नीलगाय होती है[२]। काव्यपद्धति से 'गौरिक

---

१. यास्क – निरुक्त ३.१३.१८।

२. मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यद् नात्यन्ताय मिनीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति। पाणिनि २.१.५५ पर महाभाष्य।

गवयः' चमत्कारविहीन होने के कारण उपमालङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमानिरूपण महत्त्व रखता है।

ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्य का शास्त्रीय विवेचन अलङ्कार के निरूपण से कहीं प्राचीन है। पाणिनि के समय में ही नटों की शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि उन्होंने अपने सूत्रों में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[१]। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' नामक नाटकों के अभिनय का स्पष्ट उल्लेख किया है[२]। भरत का नाट्यशास्त्र तो सुप्रसिद्ध ही है; जिसमें अलङ्कारशास्त्र से सम्बद्ध चार अलङ्कार, दश गुण एवं दश दोषों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है। उन्होंने चारों वेद से सार ग्रहण कर पञ्चम नाट्यवेद की रचना को स्वीकार किया है –

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

(ना०शा० १.१७)

इस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण काव्य का विचार प्रथम नाटक के रूप में था और इसीलिए प्रथमतः अलङ्कारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत आता था। पर साहित्य की उन्नति होने पर काव्य नाटक के अन्तर्गत नहीं रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमें नाटक का भी अन्तर्भाव होने लगा। इन सबका स्रोत तो वैदिक वाङ्मय ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिए।



---

१. पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (पा.सू. ४.३.११०)।
कर्मन्दकृशाश्वादिभिः (पा.सू. ४.३.१११)।

२. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्तीति।
– महाभाष्य, भाग १, पृ० २४, ३६, कीलहार्न का संस्करण।

द्वितीय उन्मीलन

काव्यशास्त्र का सामान्य परिचय

यह शास्त्र अपने जन्मसमय से ही अधिक लोकप्रियता को प्राप्त हो गया। इसलिए यह काव्यालङ्कार, काव्यशास्त्र, क्रियाकल्प, साहित्यविद्या, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि अनेक नामों से ससम्मान एवं सानुराग समादृत होता रहा। यहाँ काव्यशास्त्र के नामकरण का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है –

अलङ्कारशास्त्र

आलोचनाशास्त्र की उत्पत्ति इस देश में अपेक्षाकृत प्राचीन समय में हुई तथा उसका विकास अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणाम है। आलोचनाशास्त्र का प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान है – **अलङ्कारशास्त्र**। साहित्यशास्त्र भी इसी का अभिधान है; परन्तु कालक्रम से इसकी उत्पत्ति मध्ययुगीन तथा अवान्तरकालीन है। अलङ्कारशास्त्र नामकरण उस युग की स्मृति बनाये हुए है, जब अलङ्कार का तत्त्व काव्यमयी अभिव्यञ्जना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अलङ्कारयुग हमारे शास्त्र के आद्य आचार्य भामह से भी प्राचीनतर है और वह उद्भट, वामन तथा रुद्रट के समय तक विद्यमान था। इन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम से इसका पूरा परिचय मिलता है। भामह के ग्रन्थ का नाम है – काव्यालङ्कार। इसके टीकाकार उद्भट के ग्रन्थ का अभिधान है – काव्यालङ्कार–सारसङ्ग्रह। वामन तथा रुद्रट के ग्रन्थों का नाम भी इसी शैली पर काव्यालङ्कार है।

साहित्यशास्त्र के आरम्भ युग में 'अलङ्कार' ही कविता का सबसे अधिक महत्त्वशाली उपकरण माना जाता था। अलङ्कारयुग इस शास्त्र के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्व रखता है। कारण यह है कि अलङ्कार की बाहरी

मीमांसा करने से एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ, तो दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्ति, तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारों के द्वारा काव्य में प्रतीयमान अर्थ से सम्पन्न ध्वनि के सिद्धान्त का भी उद्‌गम हुआ। वक्रोक्ति तो अलङ्कारयुग की ही देन है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसलिए इसके अप्रतिम आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित को 'काव्यालङ्कार' के नाम से अभिहित किया है[१]। कुमारस्वामी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि रस, ध्वनि, गुण आदि विषयों के प्रतिपादन होने पर भी प्राधान्य दृष्टि से ही इस शास्त्र का नाम 'अलङ्कारशास्त्र' युक्तियुक्त है[२]।

आचार्य वामन ने अलङ्कार शब्द के अभिप्राय को और भी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय बना डाला। उनकी दृष्टि में अलङ्कार केवल शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र न होकर काव्य का मूलभूत तत्त्व है। वामन के लिए अलङ्कार सौन्दर्य का ही प्रतीक है – सौन्दर्यमलङ्कारः[३]। काव्य में जितने शोभाधायक तत्त्व हैं –दोषों का अभाव तथा गुणों का सद्भाव – जिनके द्वारा काव्य की विशिष्टता अन्य प्रकार के शब्दार्थों से सिद्ध होती है, उन सबका सामान्य अभिधान है – अलङ्कार। वामन के हाथ में आकर इस शब्द ने अत्यन्त महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कर लिया और यह सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि माना जाने लगा। इस आलोचनाशास्त्र में विवेच्य विषय तो अनेक हैं – रस, ध्वनि, गुण, दोष आदि; परन्तु प्राधान्य है अलङ्कार का ही। इसलिए 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधानता के ही हेतु यह 'अलङ्कारशास्त्र' के नाम से प्रख्यात हुआ।

सौन्दर्यशास्त्र

काव्य में सौन्दर्य ही मौलिक तत्त्व है, जिसके अभाव में न तो अलङ्कार में अलङ्कारत्व रहता है और न ध्वनि में ध्वनित्व। दण्डी के शब्दों में काव्य में

---

१. काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते। व०जी०, १.३)

२. यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि च्छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते – प्रतापरुद्रीय की टीका – रत्नापर्ण, पृ० ३।

३. वामन – काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १.२।

शोभा करने वाले धर्मों का ही नाम अलङ्कार है –

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते[1]।

यदि अलङ्कार में शोभाधायक गुण का अभाव हो, तो यह 'भूषण' न होकर निःसन्देह दूषण बन जायेगा। अभिनवगुप्त ने अलङ्कार के लिए चारुत्व के अतिशय को नितान्त आवश्यक माना है।[2] चारुत्व के अतिशय से विरहित अलङ्कार की काव्य में कोई भी उपादेयता नहीं होती। अतः भोजराज ने दण्डी के मत का अनुसरण कर 'काव्यशोभाकरत्व' को अलङ्कार का सामान्य लक्षण माना है और 'धूमोऽयमग्नेः' (अग्नि के कारण यह धूम है) वाक्य किसी प्रकार के सौन्दर्य के अभाव में किसी भी अलङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, ऐसा वे मानते हैं। अप्पय्य दीक्षित ने अपनी चित्रमीमांसा में इसी बात पर विशेष जोर देते हुए लिखा है –

सर्वोऽपि अलङ्कारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलङ्कारतां भजते। अतः 'गोसदृशो गवयः' इति नोपमा[3]।

अभिनवगुप्त का इस विषय में स्पष्ट कथन है कि ध्वनन व्यापार होने पर भी गुण अलङ्कार के औचित्य से सम्पन्न, सुन्दर शब्दार्थ शरीर वाले काव्य को काव्य की पदवी दी जाती है।[4] इसलिए ध्वनन व्यापार होने पर ही ध्वनि की सत्ता सर्वत्र मानी नहीं जा सकती, क्योंकि ध्वनि के लिए ध्वनन व्यापार की ही अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत उसके सौन्दर्य–मण्डित होने की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। इसलिए अभिनवगुप्त की उक्ति नितान्त स्पष्ट है –

तेन सर्वत्रापि न ध्वननं तद्भावेऽपि तथा व्यवहारः[5]।

---

१. दण्डी – काव्यादर्श, २.१।

२. तथा जातीयानामिति। चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। सुलक्षिता इति यत् किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं च तत् काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि यथा गौस्तथा गवयः' इति – एवमन्यत्। न चैवमादि काव्योपयोगीति। लोचन, पृ० २१०।

३. चित्रमीमांसा, पृ० ६।

४. गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वन्यात्मनि आत्मनि काव्य–रूपताव्यवहारः – लोचन, पृ० १७।

५. लोचन, पृ० २८।

अभिनवगुप्त का यह परिनिष्ठित मत है – सौन्दर्य ही काव्य की, कला की आत्मा है – **यच्चोक्तम् –'चारुत्वप्रतीतिः तर्हि काव्यस्य आत्मा' इति तद् अङ्गीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति** (लोचन, पृ० ३३)।

इस परिशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचकों की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणों से हटकर अन्तःस्थल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलङ्कार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे, जब तक उनमें सौन्दर्य की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानों से प्रसिद्ध था– चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता– इसी सौन्दर्यतत्त्व की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलतः यहाँ बहिरंग के साथ अन्तरंग की, शरीर के साथ आत्मा की पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है। इस प्रकार सौन्दर्य को महत्त्वशाली मानने पर भी हमारा शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र के नाम से अभिहित होते होते बच गया। ऐसा होने पर यह पाश्चात्यों के 'ऐस्थेटिक्स' का पर्यायवाची शास्त्र बन गया होता। परन्तु सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र साहित्यशास्त्र की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्द के माध्यम द्वारा निर्मित कला का ही द्योतन करता है, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं में निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत करता है। अतः दोनों का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है।

क्रियाकल्प

काव्यशास्त्र का एक प्राचीनतम नाम है – क्रियाकल्प। इसका निर्देश वात्स्यायन के कामशास्त्र में गिनायी गयी ६४ कलाओं में मिलता है। क्रियाकल्प काव्यक्रियाकल्प का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। इसका पूरा नाम काव्यक्रियाकल्प अर्थात् काव्यशास्त्र है। केवल काव्यशास्त्र में ही नहीं, अपितु ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी क्रियाकल्प शब्द का प्रयोग किया गया है। टीकाकार जयमङ्गलाकार ने उसका अर्थ '**क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः**' इस प्रकार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ 'क्रियाकल्प' शब्द काव्यालङ्कार अथवा अलङ्कारशास्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड (अध्याय ९४,

श्लो० ४-१० तक) में लव-कुश के गान को सुनने के लिए राम की सभा में वैयाकरण, नैगम, स्वरज्ञ, गान्धर्व आदि विद्याओं के विशेषज्ञों की उपस्थिति का वर्णन किया गया है, उसी के साथ क्रियाकल्प तथा काव्यविद् का वर्णन भी पाया जाता है। उसमें काव्यविद् का अर्थ केवल काव्यरस को ग्रहण करने में समर्थ व्यक्ति तथा क्रियाकल्पविद् का अभिप्राय काव्यसौन्दर्य की परीक्षा में समर्थ व्यक्ति है। रामायण के श्लोक का सम्बद्ध भाग अवलोकनीय है –

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्[१]।

आचार्य दण्डी भी इस नाम से परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है –

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्[२]।

यहाँ क्रियाविधि क्रियाकल्प का ही नामान्तर है और दण्डी के टीकाकारों ने इस शब्द की व्याख्या ज्ञानी अर्थ में की है। क्रियाविधि शब्द में क्रियाशब्द का काव्यक्रिया अर्थ में प्रयोग महाकवि कालिदास के द्वारा भी समर्थित है। जैसा कि उन्होंने कहा है – प्रथितयशसां भास-सौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां बहुमानः। अरिसिंह आदि कुछ आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थ का नाम काव्यकल्पलतावृत्ति आदि रखकर इस मत को पुष्ट किया है। अतः इन साक्ष्यों के आधार पर यह निःसन्देह प्रतीत होता है कि हमारे आलोचनाशास्त्र का प्राचीनतम नाम क्रियाकल्प था और यह सुप्रसिद्ध चतुःषष्टि कलाओं में अन्यतम कला माना जाता है।

साहित्यशास्त्र

मध्ययुग में हमारे शास्त्र के लिए साहित्यशास्त्र अभिधान पड़ा। सबसे पहले राजशेखर ने (१०वीं शतक) इस शब्द का प्रयोग हमारे शास्त्र के लिए किया है – पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः (काव्यमीमांसा, पृ० ४)। साहित्यशब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द तथा अर्थ के परस्पर वैयाकरण सम्बन्ध की घटना जागरूक है। इस शब्द की उत्पत्ति भामहकृत काव्यलक्षण से हुई। भामह का लक्षण है – शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्यालङ्कार, १.१६)।

---

१. वा०रा०, उत्तरकाण्ड, ९७.७।

२. काव्यादर्श, १.९।

और साहित्य की व्युत्पत्ति है – सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्। आनन्दवर्धन के समय में इस शब्द की महत्ता अङ्गीकृत हो चली थी, परन्तु भोज और कुन्तक ने इस शब्द का वास्तविक महत्त्वपूर्ण तात्पर्य का प्रकाशन कर इसकी महिमा का स्फुटीकरण किया। कुन्तक साहित्य के अभिप्राय-प्रकाशक हमारे मान्य आलोचक हैं। उनके पश्चात् इस शब्द का गौरव बढ़ने लगा और रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधान को और भी लोकप्रिय बनाया। विश्वनाथ कविराज के ग्रन्थ के समधिक लोकप्रिय होने से यह नाम अधिकतर व्यापक हुआ। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र के समान प्राचीन न होने पर भी यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

काव्यशास्त्र

ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए काव्यशास्त्र पद का प्रयोग किया है। परन्तु उन्होंने 'शास्त्र' शब्द की विधि-प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रम्' इस पहली व्युत्पत्ति को लेकर ही शास्त्र शब्द का प्रयोग माना है। उन्होंने लिखा है –

यद् विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तिरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते[१]।।

इसका अर्थ है कि विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला अर्थात् शासन करने वाला शास्त्र है, उसका अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि उसी से लोकव्यवहार का सञ्चालन होता है। इस विधि और प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाले मुख्य तीन साधन हैं – १. काव्य २. शास्त्र ३. इतिहास। इन तीनों के मिश्रण से तीन और बन जाते हैं – १. काव्य और शास्त्र को मिलाकर काव्यशास्त्र, २. काव्य और इतिहास को मिलाकर काव्येतिहास, ३. शास्त्र और इतिहास को मिलाकर शास्त्रेतिहास। इस प्रकार भोजदेव के मत में विधि और प्रतिषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण छः हो जाते हैं – १. काव्य, २. शास्त्र, ३. इतिहास, ४. काव्यशास्त्र, ५. काव्येतिहास और ६. शास्त्रेतिहास। इनका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है –

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, २.१३८।

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्[१]।।

इस प्रकार भोजदेव ने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनों को विधि-प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाला माना है। इस प्रकार उन्होंने काव्य के सब प्रयोजनों में 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' अर्थात् विधि-प्रतिषेध को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है। पर यह वस्तुतः बहुजनसमादृत पक्ष नहीं है। अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में उपदेश काव्य का मुख्य प्रयोजन नहीं, गौण प्रयोजन है। काव्य का प्रधान लक्ष्य 'सद्यः परिनिर्वृत्ति' अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति या रसास्वादन है। यही उसका वेद, शास्त्र आदि से विभेदक मुख्य धर्म है। भोजदेव इस तत्त्व की रक्षा नहीं कर सके हैं। काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उन्होंने उसकी गौरव वृद्धि करने का यत्न तो किया है, पर उस यत्न में काव्य की आत्मा को भूल गये हैं। शासनात् शास्त्र के स्थान पर यदि 'शंसनात् शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति को लेकर शास्त्र शब्द का प्रयोग मानते, तो उससे काव्य की आत्मा भी सुरक्षित रहती और उसकी गौरववृद्धि भी होती।

काव्यशास्त्र के नामों में ऐक्य-स्थापन

इस प्रकार काव्यशास्त्र के लिए काव्यालङ्कार, अलङ्कारशास्त्र, क्रियाकल्प, साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र इन पाँच नामों का प्रयोग प्रायः होता रहा है। भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन और कुन्तक ने इनमें से काव्यालङ्कार को अधिक पसन्द किया है, इसलिए अपने ग्रन्थों के नाम 'काव्यालङ्कार' रखे हैं, कुन्तक का ग्रन्थ यद्यपि 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु इसके दो भाग हैं – एक मूल कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग। दोनों भागों के रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं। उन्होंने अपने वृत्तिभाग का नाम वक्रोक्तिजीवित रखा है और इसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है, परन्तु उसके मूल कारिका भाग का नाम काव्यालङ्कार ही है। इसीलिए कुन्तक ने प्रारम्भ में ही लिखा है –

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो निधीयते।।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, २.१३९।

इससे प्रतीत होता है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने भी अपने मूल ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' ही रखा था। इस प्रकार बहुत समय तक इस शास्त्र के लिए 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता रहा, परन्तु पीछे ऐसा अनुभव हुआ कि भिन्न-भिन्न आचार्यों के सभी ग्रन्थों के लिए एक ही काव्यालङ्कार नाम उचित नहीं है, इसलिए दण्डी ने सातवीं शताब्दी में अपने ग्रन्थ का नाम काव्यशास्त्र के आधार मानकर 'काव्यादर्श' रखा और नवम शताब्दी में राजशेखर ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यमीमांसा' तथा ग्यारहवीं शताब्दी में मम्मट ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यप्रकाश' रखा, तो ग्यारहवीं शताब्दी में रुय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम साहित्यमीमांसा तथा चौदहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण और अठारहवीं शताब्दी में अच्युतराय ने साहित्यसार नाम से इस विषय पर अपने ग्रन्थ की रचना की। सभी नाम काव्यशास्त्र के नामान्तर ही हैं।

काव्य के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग

जैसा कि हम देख चुके हैं कि प्रारम्भ में काव्यशास्त्र का नाम केवल 'काव्यालङ्कार' था। शास्त्र शब्द का प्रयोग उसके साथ नहीं होता था। आगे उसका अधिक विकास होने पर उसका महत्त्व बढ़ाने के लिए उसके साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग होने लगा। सामान्य रूप से 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करने वाला होने से शास्त्र कहलाता है। शासन का अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त करना या किसी कार्य से निवृत्त करना होता है। वेद स्मृति, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मनुष्यों को सत्कर्म में प्रवृत्त होने और असत्कार्यों से निवृत्त होने का आदेश देते हैं, इसलिए वे शास्त्र कहे जाते हैं। मुख्य रूप से शासन करने वाले अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं। जैसा कि शास्त्र का लक्षण कहा गया है –

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदेशित्वं तच्छास्त्रमिति कथ्यते।।

यहाँ नित्य शब्द से वेद तथा कृतक पद से स्मृति विवक्षित है। ये शास्त्र मनुष्यों के लिए त्याज्य एवं उपादेय कर्मों का उपदेश करते हैं, इसलिए ये सेव्य हैं।

वेदान्त दर्शन में शास्त्र शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति की गयी है। 'शंसनात् शास्त्रम्' अर्थात् किसी गूढ़ तत्त्व का 'शंसन' प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ भी शास्त्र कहलाते हैं। इसके अनुसार 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त आदि के लिए 'शास्त्र' शब्द के प्रयोग का समर्थन किया गया है। काव्य को कान्तासम्मित उपदेश कहा गया है। काव्यों के पढ़ने से भी राम आदि के समान आचरण करना चाहिए, रावण आदि के समान आचरण नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की शिक्षा की प्राप्ति होती है। परन्तु उसमें वेद आदि के समान शब्द की या स्मृति पुराण आदि के समान अर्थ की नहीं, अपितु रस की प्रधानता होती है। काव्य के रसास्वादन के साथ-साथ कर्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान भी मनुष्य को होता जाता है। यह शैली वेदशास्त्र की शब्दप्रधान तथा इतिहास-पुराण आदि की अर्थप्रधान दोनों शैलियों से भिन्न है और सरसता के कारण अधिक उपादेय भी है। साथ ही काव्य सम्बन्धी निगूढ़ तत्त्वों का प्रतिपादन भी करता है। अतः 'शासनात् शास्त्रम्' 'शंसनात् शास्त्र' इन दोनों व्युत्पत्ति को लेकर अलङ्कारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि नामों में शास्त्र शब्द का प्रयोग समीचीन है। काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द का सम्बन्ध जुड़ जाने से उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। प्राचीन नाम 'काव्यालङ्कार' में उतना महत्त्व प्रतीत नहीं होता है, जितना 'काव्यशास्त्र', 'अलङ्कारशास्त्र' या 'साहित्यशास्त्र' नामों से प्रतीत होता है।

काव्यशास्त्र की उपादेयता

साहित्यशास्त्र पर बहिरंग दृष्टि डालने वाले आलोचक कहते हैं कि संस्कृत की आलोचना में काव्य के केवल बहिरंग तत्त्वों पर ही विचार किया गया है। अलङ्कारों की विवेचना तथा दोषों का समीक्षण ही विस्तृत है। अलङ्कार शब्द तथा अर्थ के शोभाधायक तत्त्व हैं तथा दोषों का सम्बन्ध भी इन्हीं दोनों वस्तुओं में होने वाले दूषणों के वर्णन से है। किसी भी काव्यशास्त्र के ग्रन्थ को देखिये, उसमें इन्हीं सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलेगा।

फलतः संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्य के बाहरी विषय में ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। अतः संस्कृत का काव्यशास्त्र बाहरी है तथा पाश्चात्य आलोचना की अपेक्षा वह नगण्य है।

यह आरोप पूर्ण मिथ्या है। संस्कृत काव्यशास्त्र काव्य के सर्वाङ्ग की विवेचना करता है। रीति, वृत्ति, दोष तथा अलङ्कार काव्य के बाहरी तत्त्व भले हों, परन्तु रस उसका प्राण है और इस प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा जितनी व्यापकता तथा सूक्ष्मता के साथ संस्कृत के आचार्यों ने की है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। रस का उन्मीलन कैसे होता है? रस कहाँ रहता है? सहृदयों में या पात्रों में? रस कितने हैं? रस का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है? आदि – आदि अनेक गम्भीर चिन्तनशील विषयों का पूर्ण समीक्षण हमें संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलेगा। हमारा अलङ्कारशास्त्र विषय की दृष्टि से इतना व्यापक है कि वह पाश्चात्य जगत् के तीनों शास्त्रों – 'पोइटिक्स', 'रेटारिक' तथा 'एस्थेटिक्स' का प्रतिनिधित्व करता है। 'पोइटिक्स' में काव्य तथा नाटक के रूप तथा विभाग, गुण तथा सिद्धान्त का विवेचन हम पाते हैं। 'रेटारिक' का सम्बन्ध वक्तृत्व कला के साथ है और तदुपयोगी गद्य के गुण–दोषों का यहाँ वर्णन मिलता है। 'एस्थेटिक्स' में सौन्दर्य के रूप, तत्त्व तथा महत्त्व का दार्शनिक रूप से विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इन विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का एकत्र सुन्दर समीक्षण है। काव्य की आत्मा रस है और इसी रस के अंगों तथा उपाङ्गों का विवेचन अलङ्कारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

पाश्चात्त्य आलोचनापद्धति का ढंग दूसरा है। वह जीवनदर्शन की समस्याओं की छानबीन काव्य में देखना चाहती है, परन्तु संस्कृत की आलोचना भी इस छानबीन की उपेक्षा नहीं करती। काव्य का उद्देश्य 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' है अर्थात् काव्य कान्ता के समान कमनीय रूप से जीवन के उपयोगी उपदेशों का विधान है। स्पष्ट है कि जीवन के दर्शन को काव्यदृष्टि से समझने तथा समझाने का भरपूर उद्योग 'काव्यशास्त्र' में किया गया है।

संस्कृत 'काव्यशास्त्र' केवल सिद्धान्त के विवेचन में ही व्यस्त नहीं रहता है, प्रत्युत व्यवहार को भी भली-भाँति समझाता है। कविता कैसे करनी चाहिए? कवि बनने के लिए कौन-कौन से साधन होते हैं? – इन विषयों के वर्णन की वह उपेक्षा नहीं करता। बल्कि कविशिक्षा के विषय में लिखित अनेक ग्रन्थों में इन विषयों का उपयोगी तथा व्यावहारिक वर्णन हमें उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसीलिए 'अभिनय' का हम साङ्गोपाङ्ग विवेचन पाते हैं। अभिनय के चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं – आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य। आङ्गिक अभिनय में हाथ तथा पैर के विक्षेप, नेत्र तथा सिर के चालन आदि का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। 'वाचिक' में संवाद-तत्त्व का विवरण है। रस की अभिव्यक्ति रंगमञ्च पर कैसे की जाती है? इसका उत्तर हमें 'सात्त्विक' अभिनय के प्रसङ्ग में मिलेगा। 'आहार्य' अभिनय में पात्रों की वेश-भूषा, सज्जा-सजावट का बड़ा ही रोचक विवरण है। नाटक क्या है? तथा उसकी रचना कैसे होती है? – इतना वर्णन कर देने से ही नाट्यशास्त्र का आचार्य अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मानता, बल्कि नाटक का अभिनय आकर्षक रूप से कैसे करना चाहिए? किन साधनों के द्वारा वह दर्शकों के चित्त को अपनी ओर खींच लेता है, आदि व्यावहारिक तत्त्वों की भी विवेचना वह भली-भाँति यहाँ करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही विशाल है। वह केवल सिद्धान्त-विवेचन की चहारदीवारी के भीतर ही अपने को बाँध नहीं रखता, प्रत्युत वह व्यवहार के विस्तृत प्राङ्गण में भी विचरण करता है तथा व्यावहारिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र तीन ऐसे सिद्धान्तों को संसार के आलोचकों के समक्ष प्रस्तुत करता है, जिसका मूल्याङ्कन अभी तो नहीं, भविष्य में होने वाला है। विश्व साहित्य के आलोचना-संसार के सामने हमारी तीन महती देन है – औचित्य, रस तथा ध्वनि के सिद्धान्त। भारतवर्ष का नव्य आलोचक पश्चिमी आलोचना के प्रवाह में आज इतना बहता जा रहा है कि उसकी दृष्टि अपने इन महनीय तत्त्वों को समझने की ओर तनिक भी नहीं है। परन्तु

संस्कृत आलोचना अपने उदात्त मन्तव्यों तथा तथ्यों में मण्डित होने वाली एक अनुपम साधना है।

काव्यशास्त्र के प्रमापक तत्त्व

काव्यशास्त्रियों के समक्ष प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन वस्तु है, जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान है? इस प्रश्न के उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलङ्कार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गयी। अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार 'समुद्रबन्ध' ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है, वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है – १. धर्म से २. व्यापार से और ३. व्यंग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है – नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलङ्कार से है और नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए – १. अलङ्कारसम्प्रदाय, २. गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है – वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत के रसमत के भीतर ही अन्तर्भूत करना चाहिए, क्योंकि भट्टनायक ने विभाव, अनुभाव, और सञ्चारीभाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की है। व्यङ्ग्य मुख से वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में उनके मत का अवलोकन करें –

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो

वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृतत्वेन वेत्ति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्ति-जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चमः आनन्दवर्धनेन।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है – अभाववादी, भक्तिवादी और अनिर्वचनीयतावादी। अभाववादियों में भी तीन छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं। कुछ तो गुण अलङ्कार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं, परन्तु कुछ लोग अलङ्कार के भीतर ही ध्वनि का समावेश करते हैं। भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं। अनिर्वचनीयतावादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बताकर ध्वनि को अनिर्वचनीय बतलाते हैं। आनन्दवर्धन ने तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। इस प्रकार काव्यशास्त्र के मुख्यतः चार सम्प्रदाय हो जाते हैं। वक्रोक्ति और औचित्य सिद्धान्त मात्र हैं। उनको लेकर छः सम्प्रदाय हो जायेंगे।

१. रस सम्प्रदाय – भरतमुनि

२. अलङ्कार सम्प्रदाय – भामह, उद्भट और रुद्रट।

३. गुण या रीति सम्प्रदाय – दण्डी तथा वामन।

४. ध्वनि सम्प्रदाय – आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त।

५. वक्रोक्ति सिद्धान्त – कुन्तक

६. औचित्य सिद्धान्त – क्षेमेन्द्र।

इन मतों का पृथक् वर्णन न देकर आगे यथास्थान किया जायेगा। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों में काव्यशास्त्र में जितने आचार्य हुए हैं, वे प्रायः इन्हीं सम्प्रदायों में से किसी न किसी सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर अलंकृति तक का विकास है। यह काव्य के अन्तरङ्ग अर्थात् प्राणभूत तत्त्व की समीक्षा करता है। इस पूरे वृत्त की परिधि है – औचित्य, जिसे भारतीय साहित्यकारों ने व्यापकतम काव्यतत्त्व अङ्गीकृत किया है। इस वृत्त

के भीतर एक बड़ा त्रिकोण है, उसका शीर्षस्थान है, रस और नीचे के कोण हैं ध्वनि और अनुमिति। रस का शीर्षस्थान सूचित करता है कि भारत के किसी भी साहित्य सम्प्रदाय में रसतत्त्व की अवहेलना नहीं है। आनन्दवर्धन तो इस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और उनके विरोधी आलङ्कारिक कुन्तक तथा महिमभट्ट काव्य में इसकी सत्ता का अपलाप नहीं करते। रस उन्हें भी मान्य है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। रसाभिव्यक्ति दो प्रकार से सिद्ध की जाती है – १. ध्वनि के द्वारा (आनन्दवर्धन) तथा २. अनुमिति – अनुमान के द्वारा (महिमभट्ट)। यहाँ अनुमिति ध्वनि विरोधी समग्र मतों का उपलक्षण है। ध्वनिसम्प्रदाय व्यञ्जना के द्वारा रस की अभिव्यक्ति मानता है, महिमभट्ट अनुमान के द्वारा रस का प्रकटीकरण मानते हैं। ये व्यञ्जना के पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत व्यञ्जना के समग्र प्रपञ्च अनुमान के द्वारा उन्होंने प्रमाणित किये हैं। उनके 'व्यक्तिविवेक' का इसी में गौरव है।

भीतरी वृत्त में काव्य के बाह्य उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन होता है। वृत्त की परिधि वक्रोक्ति है, जो बृहद् वृत्त को स्पर्श कर रही है। वक्रोक्ति कवि के कथन का एक विशिष्ट प्रकार है। इस वृत्त के भीतर एक त्रिकोण है, जिसका ऊपरी बिन्दु है – रीति और निचले बिन्दु हैं गुण और अलङ्कार। रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय वामन को है। गुण की व्यवस्थात्मक विवेचना दण्डी ने सर्वप्रथम की तथा अलङ्कार का काव्य में समधिक महत्त्व प्रतिपादित किया भामह ने। गुण और अलंकृति का सुचारु विवेचन परस्पर सम्बद्ध युग में साहित्यिक प्रयास का फल है। दोनों का प्रतिपादन प्रायः समसामयिक ही हुआ है। रीति, गुण और अलङ्कार – ये तीनों तत्त्व काव्य के बहिरंग साधन हैं। इस प्रकार काव्य शास्त्र में पूर्वोक्त समस्त विषयों का पारस्परिक सम्बन्ध व्यवस्थित रूप से प्रतिस्थापित किया गया है।

काव्यनिर्माण के प्रति हेतुत्वनिदर्शन

वाणी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं – शास्त्र और काव्य। इनमें शास्त्र प्रज्ञा के ऊपर आश्रित रहता है और काव्य प्रतिभा की उपज होता है। सुन्दर काव्य की सृष्टि प्रतिभा का ही फल है। प्रतिभा ही कवि के

अलोक सामान्य अभिव्यक्ति का मुख्य कारण है। कवि और आलोचक दोनों के नैसर्गिक विकास के निमित्त प्रतिभा जागरूक रहती है। कवि के लिए आवश्यक होती है कारयित्री प्रतिभा और काव्यमर्मज्ञ के लिए उपयोगी होती है भावयित्री प्रतिभा। कवियों ने एक स्वर से काव्य की रचना में प्रतिभा की उपयोगिता स्वीकार की है। संस्कृत भाषा के सर्वप्रथम आलङ्कारिक भामह की सम्मति में शास्त्र और काव्य का अध्ययन करने वालों में यही अन्तर होता है कि जड़ बुद्धिवाला भी मनुष्य गुरु के उपदेश से शास्त्र को अच्छी तरह से पढ़ सकता है, परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति को होती है, जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है। यदि शिष्य में प्रतिभा का अभाव है, तो गुरु के लाख उपदेश देने पर भी उसके हृदय में काव्य का अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता –

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।।

प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं – दृष्टिपक्ष एवं सृष्टिपक्ष। प्रथम पक्ष के अनुसार प्रतिभा विश्व के रूप–निरीक्षण का एक प्रकार है। सृष्टिपक्ष में प्रतिभा नवीन सृष्टि की साधिका शक्ति है। अर्थात् इसके द्वारा नयी वस्तुओं की सृष्टि होती है। प्रतिभा सृष्टि का साधन है। युवक का समग्र 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ प्रतिभा की अतिगूढ़ व्याख्या है। उनका स्पष्ट मत है कि काव्य में कवि – प्रतिभा का ही चरम उत्कर्ष रहता है – कविप्रतिभा – प्रौढिरेव, प्राधान्येनावतिष्ठते। कविता में जो कुछ भी चमत्कार है, वह सब प्रतिभा के द्वारा ही उत्पन्न होता है तथा काव्य के समग्र सौन्दर्य साधनों का प्राण यही प्रतिभा है। कविता में रस, भाव तथा अलङ्कार – समस्त काव्यशोभा के विधायक अंगों का प्राण कविकौशल ही है। यह कविकौशल कवि प्रतिभाव्यापार का ही दूसरा अभिधान है।

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है – **प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता** – अर्थात् नये – नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के अनुसार पूर्व जन्म के तथा

इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली विशिष्ट कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है – **प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।** वामन के अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति होती है, वही कार्य प्रतिभा के द्वारा होता है। यह पूर्व जन्म से आने वाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना रूप से कवि के हृदय में निवास करता है। प्रतिभा के बिना प्रथमतः काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि यह निष्पन्न हुआ भी तो यह काव्य उपहास का पात्र बनता है। वामन का यह तथ्यकथन प्रतिभा की काव्य में गहरी उपादेयता का पुष्ट परिचायक है। भट्ट गोपाल के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादानरूप संस्कारविशेष है। राजशेखर के अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है, जो कवि के हृदय में शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को, उक्ति के मार्ग को तथा इसी प्रकार अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है। राजशेखर ने एक बड़े ऐतिहासिक तथ्य का परिचय इस प्रसङ्ग में दिया है। वे कहते हैं कि मेधावी रुद्र और कुमारदास आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे, परन्तु उनके काव्यों में सांसारिक पदार्थों का चित्रण जो इतना सचित्र और सटीक है, वह उनकी प्रतिभा के ही विलास का फल है।

वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज ने प्रतिभा का स्वरूप इस पद्य में बताया है–

यस्मिन् संमुखतां प्रयाति रुचिरं कोऽप्यन्तरुज्जृम्भते
नेदीयान् महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः।
तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीं
धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तत्प्रातिभं संस्तुमः।।

इन विभिन्न आचार्यों के मतानुसार प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार – विशेष है – ऐसा मानव धर्म है, जो दूसरे जन्म में होने वाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। भामह के अनन्तर दण्डी ने काव्यसाधक हेतुओं में प्रतिभा के केवल शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास को ही आवश्यक माना है। उनकी सम्मति में केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं हो सकती। इसके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोग का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है –

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारणं काव्यसम्पदः[१]।।

प्रतिभा तो पूर्वजन्म की वासना के गुणों पर आश्रित रहती है। यदि कवि को प्रतिभा की देन नहीं मिली, तो दण्डी उसे निरुत्साहित कर काव्यकला से पराङ्मुख होने की सलाह नहीं देते, वे यह आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्र से या यत्न से कविता की उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कवि के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखाती हैं।

वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। ये प्रतिभा को प्रतिभान शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं। वे इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य रचना में उद्यम, काव्योपदेश करने वाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान–चित्त की एकाग्रता–को भी काव्यरचना का सहायक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वामन ने लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अङ्ग, काव्यनिर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन बतलाया है–

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि (काव्यालङ्कारसूत्र, १।३।१)।

लोकवृत्तं लोकः (वही १।३।२)।

शब्दस्मृत्यभिधानकोश–छन्दोविचिति–कामशास्त्र–दण्डनीतिपूर्वा विद्या– (वही १।३।३)

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्– १।३।११।

दण्डी एवं वामन के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने भी काव्य–साधनों का निरूपण लगभग उसी प्रकार किया है। उन्होंने लिखा है–

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी।।

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १.१०३।

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपसनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः[१]।।

रुद्रट ने भी काव्य–कारणों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को एक साथ कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना होती है, उसी का नाम शक्ति है। शक्ति प्रतिभा का ही अपर पर्याय है–

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।।[२]

आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा, दोनों काव्यसाधनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखने वाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है। प्रतिभा के प्रबल समर्थन में आनन्दवर्धनाचार्य की उक्ति नितान्त स्पष्ट है–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते[३]।।

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलङ्कारिक के मत में काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता। आचार्य मम्मट अभ्यास को भी काव्यकर्म में अधिक उपयोगी साधन मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न है। वे शक्ति को ही काव्य–कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं। वे समाधि तथा अभ्यास दोनों को शक्ति का उद्भावक मानते हैं। उनके मतानुसार केवल शक्ति (प्रतिभा) ही काव्य में हेतु होती है।

आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास ये तीनों मिलकर काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। उनका कथन है–

---

१. भामह, काव्यालङ्कार, १.९–१०।

२. रुद्रट, काव्यालङ्कार १.१५

३. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० २२५।

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे[1]।।

शक्ति प्रतिभा का ही दूसरा नाम है, जो कवित्व का बीजरूप संस्कार-विशेष है, जिसके विना काव्य निष्पन्न नहीं होता तथा निष्पन्न होने पर भी वह काव्य लोकप्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विधाओं के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती है, उसी का नाम निपुणता है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत 'व्युत्पत्ति' को ही मम्मटाचार्य ने निपुणता का नाम दिया है। काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्यकला के निरन्तर चिन्तन का नाम अभ्यास है। सच तो यह है कि काव्य मर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओं के लिए अमृत का काम करती है। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने पर भी कवि अपने मनोरथ में तब तक कृतकार्य नहीं होता, जब तक वह सद्गुरु की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नहीं करता। मम्मटाचार्य ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास-इन तीनों को काव्य का स्वतन्त्र रूप से कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है। इसी लिए इस सुप्रसिद्ध कारिका में 'हेतु' शब्द का एक वचन में प्रयोग करते हुए उसकी व्याख्या की- हेतुर्न तु हेतवः। इस सम्बन्ध में मम्मट आचार्य दण्डी से प्रभावित हैं। दण्डी ने भी उक्त तीनों कारणों की समष्टि की बात कही थी –

नैसर्गिकी च प्रमिा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारणं काव्यसंपदः।।

(काव्यादर्श १।१०३)

कविवर भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में मम्मट के ही स्वर में स्वर मिलाकर शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास-तीनों को मिलकर काव्य का उद्भावक माना है और उदाहरण रूप से रथ के चलने की घटना को दिखलाया है। रथ किसी एक ही वस्तु से नहीं चलता, प्रत्युत उसके चलने के लिए अनेक वस्तुओं का समन्वय चाहिए। काव्य के लिए भी यही बात है। पूर्वोक्त तीनों साधनों के एकत्र होने पर ही काव्यरथ सुन्दर गति से आगे बढ़ता है-

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश १.३।

शक्ति कवित्त बनाइबे की
जिहिं जन्म नछत्र मैं दीन्ह विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन सौं
देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
'दास जू' जामें एकत्र ये तीनि
बनै कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलैं रथ जैसे
धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं।।

(भिखारीदास)

इन काव्य-साधनों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य साधन सभी आचार्यों की दृष्टि में लगभग एक समान ही हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न आचार्यों ने उनके पौर्वापर्य अथवा विभाग आदि में थोड़ा बहुत भेद करके उनका अलग-अलग रीति से निरूपण किया है। तत्त्वतः उनके विवेचन में अधिक भेद नहीं है।

काव्यस्वरूप विमर्श

संस्कृत के आचार्यों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं– बहिरङ्ग निरूपक तथा अन्तरङ्ग निरूपक। बहिरङ्ग निरूपक लक्षण में उस वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए वस्तु के बाहरी चिह्नों का वर्णन किया जाता है। काव्य के दोनों प्रकार के लक्षण संस्कृत के काव्यशास्त्र में मिलते हैं। पहले में काव्य के बाहरी रूप का, उसके अवयवों का, उसके अंगों के संगठन का वर्णन किया जाता है और दूसरे में वह विशेषता दिखलायी जाती है, जो केवल काव्य में ही प्राप्त होती है, अन्यत्र नहीं। आचार्य मम्मट का काव्य लक्षण प्रथम प्रकार है और विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यलक्षण दूसरे प्रकार का। यहाँ दोनों लक्षणों का निर्देश क्रमशः किया जाता है।

बहिरङ्ग लक्षण

आचार्य मम्मट की दृष्टि में काव्य का लक्षण है–

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि[१]।

अर्थात् ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं, जो दोष से रहित हों, गुण से मण्डित हों तथा वे कहीं पर अलङ्कार से हीन भी हो सकते हैं। इस लक्षण में सबसे पहली बात यह है कि मम्मट शब्द तथा अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं। अकेला शब्द या अकेला अर्थ इनमें कोई भी काव्य नहीं है। तत् यह सर्वनाम पद पिछली 'काव्यं यशसे' इत्यादि कारिका में प्रयुक्त हुए काव्यपद का परामर्शक है। इसलिए 'शब्दार्थौ तत्' का अर्थ 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह हुआ। इसके अनुसार शब्द तथा अर्थ ये दोनों मिलकर काव्यपद वाच्य होते हैं। इस 'शब्दार्थौ' पद के तीन विशेषण लक्षण में प्रस्तुत किये गये हैं। वे शब्द और अर्थ किस प्रकार के होने चाहिए कि १. अदोषौ २. सगुणौ तथा ३. अनलङ्कृती पुनः क्वापि'। अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों दोषरहित हों यह पहली बात है। दूसरी बात यह है कि वे दोनों 'सगुण' माधुर्य आदि काव्यगुणों से युक्त होने चाहिए और तीसरी बात यह है कि साधारणतः वे अलङ्कारसहित भी होने चाहिए, परन्तु जहाँ कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो, वहाँ उनके अलङ्कार-विहीन होने पर भी काम चल सकता है। इस प्रकार इन तीन विशेषणों से युक्त शब्द तथा अर्थ की समष्टि का नाम काव्य है, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। वृत्तिभाग में एक स्थान पर काव्य का अन्य लक्षण किया है –"शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णना निपुणकविकर्म"

काव्यप्रकाश के इस काव्यलक्षण पर न केवल जयदेव और विश्वनाथ ने अपितु रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कुछ आपत्तियाँ उठायी हैं। परन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथ से बिल्कुल भिन्न है। विश्वनाथ ने लक्षण के केवल विशेषण भाग का खण्डन किया है, विशेष्य भाग अर्थात् 'शब्दार्थौ' पद पर कोई आक्षेप नहीं किया है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षण के केवल विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' पद पर आपत्ति उठायी है, विशेष्यभूत 'अदोषौ' 'सगुणौ' आदि पदों पर कोई आक्षेप नहीं किया है। शब्दार्थौ पद पर पण्डितराज को यह आपत्ति है कि काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में नहीं रहता है और न दोनों की व्यष्टि में अलग-अलग काव्यत्व रहता है। अपितु केवल शब्द में ही काव्यत्व रहता है।

---

१. मम्मट, का०प्र० १.३।

उनका अभिप्राय है कि जो काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं, उसके विषय में यह विचार करना है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनों में 'व्यासज्यवृत्ति' अर्थात् दोनों में मिलकर रहने वाला धर्म है अथवा 'प्रत्येक पर्याप्त' अर्थात् एक-एक में अलग भी रह सकता है। इनमें पहला अर्थात् 'व्यासज्य वृत्ति' वाला पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि उस दशा में 'एको न द्वौ' इस व्यवहार के समान यह श्लोक-वाक्य तो है, परन्तु काव्य नहीं है, इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा, जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व संख्या दोनों में मिलकर रहती है, अलग-अलग नहीं। इसलिए द्वित्व संख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ रहते हैं, तभी 'द्वौ-'ये दो हैं' इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक-वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्यवृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्व को 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस दशा में एक ही 'श्लोक-वाक्य' में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जायेगा। इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। इसलिए शब्द तथा अर्थ में न 'व्यासज्यवृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येक पर्याप्त'। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है, अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है। यह पण्डितराज जगन्नाथ का सिद्धान्त है। इसीलिए उन्होंने काव्य का लक्षण किया है–

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[१]।

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य के शब्द तथा अर्थ शरीर होते हैं। काव्य में शब्दों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो, जिसमें चित्त रमण करे, आनन्द उठाये। रमणीयता का ही पर्यायवाची शब्द है– चमत्कार। काव्य का अर्थ चमत्कारी अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक आनन्द का सञ्चार क़रती है, वह काव्य कहलाती है। इसी प्रकार विश्वनाथ कविराज ने काव्य का एक बहुत प्रख्यात लक्षण दिया है–

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[२]।

---

१. पण्डितराज जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, प्रथमानन, १।

२. विश्वनाथ, सा०द० १.२

अर्थात् वह वाक्य, जिसकी आत्मा रस है, काव्य कहलाता है अर्थात् अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने वाले वाक्य को काव्य की संज्ञा प्रदान की जाती है। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस से सम्पन्न जो वाक्य होता है, वह काव्य है। यहाँ 'रस' शब्द विस्तृत अर्थ में समझा जाता है। अर्थात् भाव, रसाभास तथा भावाभास आदि रस की समीपवर्ती भावनाएँ भी यहाँ रस के अन्तर्गत समझी जाती हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यप्रकाशीय काव्यलक्षण के विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' का खण्डन उनके ही टीकाकार नागेशभट्ट को उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए रसगङ्गाधर की इस स्थल की टीका में 'नोचिता' इस प्रतीक को लेकर उन्होंने लिखा है। जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्व का प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है, वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समानरूप से रहता है। काव्य को पढ़ा, काव्य को सुना और काव्य को समझा, इस प्रकार का व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनों की काव्यता प्रतीत होती है, केवल शब्द या केवल अर्थ की नहीं और काव्यप्रकाशोक्त अनुपहसनीय काव्य का नियामक चमत्कारिबोध जनकज्ञानविषयात्वावच्छेदकधर्मत्व' रूप काव्यलक्षण शब्द तथा अर्थ दोनों में रहता है, एक में नहीं। इसलिए 'काव्यत्व' को व्यासज्यवृत्ति धर्म मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी दशा में अर्थात् काव्यत्व को व्यासज्यवृत्ति धर्म मानने पर ही 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनिसूत्र के महाभाष्य में भाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने वेदत्व आदि को जो व्यासज्यवृत्ति धर्म माना है, उसकी सङ्गति लगती है। इस प्रकार काव्यत्व मुख्य रूप से 'व्यासज्यवृत्ति' धर्म है, परन्तु लक्षणा से केवल शब्द अथवा केवल अर्थ में भी काव्यत्व माना जा सकता है। इसलिए 'एको न द्वौ' के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इस प्रकार के व्यवहार का कोई अवसर नहीं आता है। फलतः काव्यप्रकाश के अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य मानने में कोई बाधा नहीं है, यह रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट का स्वारस्य है।

न केवल नागेश अपितु पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य माना है। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के वचन उद्धृत किये जा सकते हैं–

१. **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा**–(भामह १.१६)

२. **काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते**–(वामन १.१)

३. **शब्दार्थौ काव्यम्**– (रुद्रट–काव्यालङ्कार–२.१)

४. **अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्**– (हेमचन्द्र पृ० १६)

५. **शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम्** – (वाग्भट पृ०१४)

६. **गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ**– (विद्यानाथ–प्रतापरुद्र, पृ०४२)

७. **शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः**– (विद्याधर एकावली, पृ० १.१३)

इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में काव्यत्व मानने वाला मत ही बहुजन–समादृत मत है। शब्द तथा अर्थ– दोनों का समन्वय काव्य में प्रस्तुत रहता है। शब्द तथा अर्थ का नित्य सम्बन्ध रहता है। जिस प्रकार शब्द रस के उन्मीलन में सहायता करता है, उसी प्रकार अर्थ भी। शब्द के उच्चारण करते ही अर्थ स्वतः सामने चला जाता है और शब्द अर्थ दोनों मिलकर काव्यगत आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वागर्थ के नित्य सम्बन्ध की उपमा महाकवि कालिदास ने 'अर्धनारीश्वर' से दी है। जिस प्रकार पार्वती तथा शिव का परस्पर नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार वाक् और अर्थ भी स्वभाव से ही नित्य संयुक्त रहते हैं। महाकवि तुलसीदास ने वागर्थ के सम्बन्ध को जल और जल के तरङ्ग से समानता बतलायी है –

गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दऊ सीताराम पद जिनहि परम प्रिय खिन्न।। (रामचरितमानस)

काव्य इन दोनों में समभाव से रहता है। शब्द तथा अर्थ को काव्य शब्द से विभूषित किये जाने के लिए तीन विशिष्टताओं की आवश्यकता होती है– १. दोष का परिहार, २. गुण का सद्भाव ३. अलङ्कार की सर्वदा स्थिति।

परन्तु कभी-कभी अलङ्कार की स्पष्टता न होने पर भी शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं। इन विशिष्टताओं पर भी थोड़ा विचार अपेक्षित है।

१. दोष का परिहार– काव्य के कतिपय विशिष्ट दोष होते हैं। जैसे– श्रुति-कटु, संस्कारहीनता, भग्नप्रक्रमता आदि। ये शब्द या अर्थ में विद्यमान रहते हैं, तो वहाँ काव्य की सिद्धि नहीं होती। इस पर कतिपय आलोचकों का यह मत है कि दोष का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से न होकर उसके उत्कर्ष तथा अपकर्ष से है। जैसे रत्न के लक्षण में कीटानुवेध का परिहार नहीं किया जाता, वैसे ही काव्य के लक्षण में दोष का परिहार अनावश्यक है। जैसे कीड़ा लग जाने से किसी रत्न का रत्नत्व नहीं दूर हो जाता, केवल उसकी उपादेयता में तारतम्य हो जाता है, इसी प्रकार श्रुतिकटुत्वादि दोष, काव्य के काव्यत्व को नहीं हटा सकते– केवल उसके उत्कर्ष में कुछ न्यूनता कर सकते हैं। जैसा कि कहा गया है–

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

ऐसी आलोचना के विरुद्ध में यह कहना है कि मम्मट का मत बिलकुल ठीक है। काव्य शब्द-अर्थ को दोष से हीन होना नितान्त आवश्यक होता ही है; क्योंकि काव्यत्व के विघटक जो 'च्युतसंस्कृति' आदि प्रबल दोष हैं, जिनसे उद्देश्य की प्रतीति का विघात होता है, उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता, अपितु जब वह रसानुभूति में बाधक होता है, तभी दोष कहा जाता है। जैसे दुश्रवत्वं दोष करुण, शृङ्गार आदि कोमल रसों की अनुभूति में बाधक होता है। इसीलिए वहाँ उसे दोष कहा जाता है। परन्तु वीर, बीभत्स या भयानक रस में वह दुश्रवत्व रसानुभूति का बाधक नहीं, अपितु साधक हो जाता है, इसीलिए वहाँ दोष नहीं, अपितु गुण हो जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होने के कारण रसानुभूति में बाधक हों, उन प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। अतः साधारण स्थिति के दुर्बल दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

२. गुण का सद्भाव– काव्य के शब्द और अर्थों को गुणों से युक्त होना नितान्त आवश्यक है। काव्य में तीन मुख्य गुण होते हैं– माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये काव्य के आत्मा रस के अचल धर्म हैं अर्थात् काव्य में इनकी सत्ता

अनिवार्य है। गुणों का सम्बन्ध रस है और गौण रूप से रसाभिव्यञ्जक होने से अर्थ तथा शब्द के साथ भी है। जिन शब्दों तथा अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है, उनमें गुण की स्थिति अनिवार्य होती है।

इस पर विश्वनाथ का कहना है कि गुण तो रस के धर्म होते हैं, रस में रहते हैं। वे शब्द या अर्थ के धर्म नहीं होते हैं, इसलिए शब्द या अर्थ में नहीं रह सकते। ऐसी दशा में रस ही 'सगुण' कहा जा सकता है, शब्द या अर्थ को 'सगुण' नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्यप्रकाशकार ने जो सगुणौ पद को शब्दार्थौ का विशेषण रूप में प्रयुक्त किया है, वह भी उचित नहीं है।

काव्यप्रकाशकार गुण की रसधर्मिता से पूर्ण परिचित हैं। वे भी जानते हैं कि गुण रस के धर्म होते हैं। फिर भी गौण रूप से शब्द और अर्थ के साथ भी उनका सम्बन्ध हो सकता है। अष्टम उल्लास में **'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'** लिखकर मम्मटाचार्य ने गौणीवृत्ति से शब्द तथा अर्थ के साथ भी गुणों के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है और उसी दृष्टि से यहाँ शब्दार्थौ के विशेषरूप में सगुणौ पद का प्रयोग किया है।

३. अलङ्कार की स्थिति–काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वदा अलङ्कार से युक्त होना चाहिए, परन्तु विशेष स्थिति में वह अनिवार्य भी हो सकता है। अलङ्कार की अनिवार्यता मम्मट नहीं मानते। काव्य में रस की स्थिति होने पर अलङ्कार की स्थिति आवश्यक नहीं होती। काव्य में चमत्कार होना ही चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है– अलङ्कार के द्वारा अथवा रस के द्वारा। अतः रस के द्वारा चमत्कार उत्पन्न होने पर अलङ्कार की आवश्यकता काव्य में नहीं होती। इस प्रकार मम्मट की दृष्टि में अलङ्कार की अपेक्षा गुण की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। इसलिए उन्होंने कहा है– **अनलङ्कृती पुनः क्वापि।** अर्थात् कहीं स्फुटालङ्कार रहित भी शब्दार्थ काव्य हो सकते हैं। इसे दिखलाने के लिए काव्यप्रकाशकार ने जो 'यः कौमारहरः' इत्यादि पद्य उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है, उसका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ कोई अलङ्कार स्पष्ट नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि उसमें खीचतान करके 'विभावना या विशेषोक्ति' जैसे अलङ्कार निकालने का प्रयत्न उचित नहीं है। अतएव साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यहाँ विभावना विशेषोक्तिमूलक सन्देहसङ्कर अलङ्कार सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया, वह ठीक नहीं है। 'हरो वरः' इस

प्रकार का अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार भी प्रकृत शृङ्गार रस के विरोधी वर्ण रेफ से घटित होने के कारण अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं है।

'रसस्य प्रधान्यान्नालङ्कारता' काव्यप्रकाश की इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि– जहाँ रस स्वयं प्रधान न होकर अन्य किसी का अङ्ग बन जाता है, वहाँ रसवत् अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकार के रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित ये चार अलङ्कार अलग माने जाते हैं। इनमें कोई अलङ्कार यहाँ नहीं है; क्योंकि यदि रस यहाँ प्रधान न होकर किसी अन्य का अङ्ग होता, तब तो इसमें रसवत् अलङ्कार हो सकता था। परन्तु यहाँ तो रस किसी अन्य का अङ्ग नहीं, अपितु स्वयं प्रधान रूप से अनुभूत हो रहा है, इसलिए रसवदलङ्कार भी नहीं है। अतएव 'अलङ्कृती पुनः क्वापि' का यह उदाहरण ठीक बन जाता है। यह काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय है।

एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को समझना चाहिए। संस्कृत का एक कवि अपनी दशा का वर्णन यों कर रहा है–

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्सागरभूधराः।।

किसी सुन्दरी के विरह में सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्था के साथ वर्तमान हीन दशा की तुलना कर रहा है– मैंने विलगता के भय से सुन्दरी के कण्ठ में हार नहीं पहनाया, क्योंकि हम दोनों के बीच में हार के आने से आश्लेष –आलिङ्गन ठीक ढंग से नहीं जमता। यह तो हुई संयोग की सुहावनी कल्पना। परन्तु आज, आज तो उसके और हमारे बीच में नदियाँ, समुद्र तथा पहाड़ आकर खड़े हो गये हैं। घनानन्द के शब्दों में नायक कहना चाहता है–

तब हार पहार से लागत हे
अब बीच में आनि पहार अड़े।

इस पद्य में अलङ्कार का चमत्कार बिलकुल नहीं है। यदि कुछ है, तो केवल 'हारो नारो' में नायक की एक फीकी झलक। इस पद्य का प्रधान चमत्कार है विप्रलम्भ शृङ्गार के कारण। ऐसी दशा में यहाँ रस की ही मुख्य स्थिति है। फलतः अलङ्कार से हीन होने पर भी यहाँ चमत्कार है और भरपूर चमत्कार है। ऐसी ही स्थिति को लक्ष्य कर मम्मट ने काव्य में अलङ्कार को

अनिवार्य नहीं माना है।

भामह का काव्यलक्षण

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों में काव्यशास्त्र के भीष्मपितामह भामह का काव्यलक्षण सबसे अधिक प्राचीन है। उन्होंने काव्य का लक्षण किया है–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा। (काव्या० १.१६)

यह लक्षण जितना ही प्राचीन है, उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है। वे सहभाव या 'सहितौ' का क्या अर्थ लेते हैं, इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो, वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थ का साहित्य है।

दण्डी का काव्य लक्षण

भामह के बाद काव्यादर्श के निर्माता दण्डी का स्थान माना जाता है। दण्डी ने पूर्व के आचार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है–

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।।
तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः[1]**।।**

अर्थात् प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त काव्य वाणी के रचना के प्रकारों का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलङ्कारों का वर्णन किया है।

यहाँ उनका सङ्केत मुख्य रूप से भामह की ओर है। भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस लक्षण में काव्य के शब्द और अर्थ मय शरीर का निर्देश है और आगे ग्रन्थ में उसके अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः' यह पंक्ति स्पष्ट रूप से भामह की ओर

१. दण्डी, काव्यादर्श, १.९-१०।

सङ्केत कर रही है। भामह के इस लक्षण में आए हुए 'सहितौ' पद की कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमी को दूर करने का प्रयत्न दण्डी ने किया है–

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली[1]।

यही दण्डी का काव्य लक्षण है। इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली– शब्दसमूह– अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य के शरीर हैं। इस प्रकार भामह और दण्डी दोनों ने काव्य के शरीर तथा अलङ्कारों की चिन्ता की है, पर उसकी आत्मा का विचार नहीं किया है।

वामन का काव्यलक्षण

दण्डी के बाद वामन का काव्यलक्षण सामने आता है। वामन ने भामह और दण्डी के उक्त काव्यशरीर में प्राणप्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के शरीर की चिन्ता न करके उसके आत्मा का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है –

रीतिरात्मा काव्यस्य (काव्यालङ्कारसूत्र, १.२.६)

यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। अर्थात् वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं और 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' आदि सूत्रों में काव्य के सौन्दर्याधायक अलङ्कारों को काव्य की ग्राह्यता एवं उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं। उन्होंने कहा है–

काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थवचनमात्रोऽत्र गृह्यते (का०सू०वृ०१.१.१)

आनन्दवर्धन का मत

भामह और दण्डी ने काव्य के शरीर की चर्चा की थी, इसलिए आत्मा का कोई प्रश्न उनके सामने न था। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्दवर्धनाचार्य के सामने काव्य का आत्मा के निर्धारण करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। रीतियों को वे केवल सङ्घटना या अवयवसंस्थान के

---

१. दण्डी, काव्यादर्श।

समान ही मानते हैं, उनको काव्य की आत्मा वे नहीं मानते हैं। इसलिए उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है और वह भी अपने मत से ही नहीं, अपितु प्राचीन अलिखित परम्परा के आधार पर वे ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं। इस विषय में कुछ लोगों ने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हीं के निराकरण के लिए उन्हें ध्वन्यालोक ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड़ी –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्[1]**।।**

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य के मत में ध्वनि ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। उसके बिना सुन्दर शब्द अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य है। ध्वनिरूप आत्मा की प्रतिष्ठा होने पर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं। उन्होंने कहा है–

सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।
(ध्व०लो० १.१ वृत्तौ द्रष्टव्यम्)

काव्यशास्त्रजगत् में दो मत देखने को मिलते हैं, कुछ शब्द को ही काव्य मानते हैं और कुछ शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य स्वीकार करते हैं। प्रसङ्ग प्राप्त यहाँ विशिष्ट शब्द को काव्य मानने वाले प्राचीन आचार्यों का काव्यलक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। दण्डी ने इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदावली को काव्य माना है–

तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।। (का०द०१.१०)

काव्यदीपिका में कान्तिचन्द्र ने कहा है–

'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलीति काव्यम्'।

अग्निपुराण में व्यास ने कहा है–

........इष्टार्थव्यवच्छिना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्।। (अ०पु० ३३६.६-७)

---

१. ध्वन्यालोक, १.१।

शौद्धोदनि ने अलङ्कारशेखर में तथा उनके वृत्तिकार केशवमिश्र ने स्वीकार किया है–

'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्'।

भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण में काव्य का लक्षण किया है–

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिञ्च विन्दति।।

(स०क०भ० १.२)

जयदेव चन्द्रालोक में कहते हैं–

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।। (चन्द्रा०१.७)

चण्डीदास का कहना है–

'आस्वादजीवातुपदसन्दर्भः काव्यम्।

(काव्यप्रकाशदीपिका, पृ० १३ पर द्रष्टव्य)

साहित्यदर्पण में स्वकीय काव्यलक्षणम बताते हुए कविराज विश्वनाथ कहते हैं–

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

(सा०द० १.३)

पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं–

''रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'। (रस०, पृ० २)

अब जो लोग शब्द और अर्थ दोनों को काव्य स्वीकार करते हैं, उनका नाम यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है। भामह, उद्भट, रुद्रट आनन्दवर्धन आदि ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहा है। जैसा कि भामह ने काव्यालङ्कार में कहा है–

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। (काव्या० १.१६)

रुद्रटाचार्य काव्यालङ्कार में कहते हैं–

'शब्दार्थौ काव्यम्'। (रुद्रट, काव्या०, २.१)

काव्यानुशासन में वाग्भटाचार्य का कथन है –

'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्'।

(काव्यानु० पृ० १४)

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्टरूप से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न किया है–

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।। (वक्रोक्ति० १.७)

कुन्तक ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों को काव्यलक्षणों का निचोड़ अपने इस लक्षण में समाविष्ट कर दिया है। फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है; क्योंकि 'सहितौ' पद का स्पष्टीकरण न भामह के लक्षण में हुआ था और न यहाँ हुआ है। अतएव शब्द और अर्थ के इस साहित्य का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं–

शब्दार्थौ सहितावेव सप्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते।।

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्त्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।

यहाँ पहले यह शङ्का उठायी है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदा साथ-साथ ही भासते हैं। फिर भी सहितौ पद से आप उनमें कौन सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं? इस शङ्का का उत्तर देते हुए कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ के साहित्य का अभिप्राय काव्य सौन्दर्य के लिए उनकी 'न्यूनता या अधिकता से रहित' मनोहर स्थिति होनी चाहिए। उसी को शब्द और अर्थ का 'साहित्य' कहते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने काव्यलक्षण को अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

द्वितीय वाग्भट काव्य का लक्षण करते हुए कहते हैं–

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये।।

हेमचन्द्र काव्यानुशासन में कहते हैं–

अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् (का०, पृ० १६ पर द्रष्टव्य)

प्रतापरुद्रीय में विद्यनाथ का कथन है–

गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः।।

– प्र० रु०, पृ० ८२ पर द्रष्टव्य।

एकावलीकार विद्याधर का कहना है–

शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभिधायि ध्वनिः।

– एका० १.१३

साहित्यसार में अच्युतराय काव्य का लक्षण बतलाते हैं–

तत्र निर्दोषशब्दार्थं गुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्।।

काव्यशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार वामन अपने रीतिसिद्धान्त के लिए, आनन्दवर्धन अपने ध्वनिसिद्धान्त के लिए और कुन्तक अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्य सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंन औचित्य को ही काव्य का जीवित माना है। अपने औचित्यविचारचर्चा ग्रन्थ में वे कहते हैं–

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

कविकण्ठाभरण में क्षेमेन्द्र कहते हैं–

काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृतिः।

न्यायवागीश ने अलङ्कारचन्द्रिका में कहा है–

गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावगौ।
नित्यदोषे विनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते।।

काव्यप्रकाशकार मम्मट का काव्यलक्षण अन्यलक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। वे कहते हैं–

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

कुन्तक ने जिस बात को कई कारिकाओं में कहा है, मम्मट ने इस आधी कारिका में ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' 'सगुणौ' पद जोड़कर उन्होंने काव्य-लक्षण का नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। पूर्वलक्षणकारों ने काव्य के शरीर 'शब्द तथा अर्थ' उसकी आत्मा, रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारों की चर्चा तो अपने लक्षणों में की थी, परन्तु गुणदोष की चर्चा नहीं की थी। मम्मट इस दोष तथा गुण के प्रश्न को सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। कितना ही सुन्दर काव्य हो, पर उसमें एक भी उत्कट दोष आ जाता है, तो वह उसके गौरव को कम कर देता है। यों तो महाकवि कालिदास ने –

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

कहकर चन्द्रमा के सौन्दर्य के भीतर उसके कलङ्क के दब जाने की बात कही है। उनके अनुसार चन्द्रमा का कलङ्क कितना ही दब गया हो, परन्तु देखने वाले को वह सबसे पहले खटकता है। इसी प्रकार काव्य का दोष उसके गौरव को कम करने वाला हो जाता है। इसलिए मम्मट ने गुण और अलङ्कारों की चर्चा करने के पहले दोष की चर्चा की है। शरीर के संस्कार में भी पहले दोषापनयन रूप संस्कार करने के बाद ही गुणाधान रूप संस्कार किया जाता है। इसीलिए मम्मट ने काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कारों की अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है और 'अलङ्कृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कार की गौणता को सूचित कर महाकवि कालिदास के इस मत का समर्थन किया है –

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।

इस प्रकार थोड़े शब्दों में भावगाम्भीर्य के द्वारा मम्मट ने अपने काव्यलक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

काव्य का वर्गीकरण

काव्य के नाना रूपों का वर्णन संस्कृत काव्यशास्त्र में मिलता है। उनमें प्रसिद्ध रूपों का ही यहाँ वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। काव्य मुख्यतया दो प्रकार का होता है – १. श्रव्यकाव्य तथा २. दृश्य काव्य। जैसा कि साहित्यदर्पण में कविराज विश्वनाथ ने कहा है –

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्[१]।

श्रव्य का अर्थ है – सुनने योग्य। इसलिए जिस काव्य को हम कानों से सुनकर आनन्द उठाते हैं, वह श्रव्यकाव्य है। साहित्यदर्पण में श्रव्यकाव्य लक्षण बतलाया गया है –

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा[२]।

अर्थात् जो केवल सुने जा सकें – जिनका अभिनय न हो सके – वे गद्य और पद्य दो प्रकार के श्रव्यकाव्य होते हैं। इस प्रकार के काव्यों को कोई वक्ता पढ़ता है और दूसरे लोग सुनकर उसका अर्थ समझते हैं तथा उससे आनन्द उठाते हैं। जैसे संस्कृत में कालिदास का महाकाव्य रघुवंश तथा कुमारसम्भव आदि और हिन्दी में तुलसीदास का रामचरितमानस तथा केशवदास की रामचन्द्रिका। दृश्य का अर्थ है देखने योग्य। अतः दृश्य काव्य उस काव्य को कहते हैं, जिसका आनन्द हम देखकर ही उठा सकते हैं।

ये काव्य पढ़े या सुने भी जा सकते हैं, परन्तु इससे उनका पूरा आनन्द नहीं उठाया जा सकता। पूरा आनन्द उठाने के लिए उनका रंगमंच के ऊपर नटों के द्वारा अभिनय किया जाना नितान्त आवश्यक होता है। श्रव्यकाव्य कानों के माध्यम से हमारे हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है, तो दृश्यकाव्य नेत्रों के माध्यम से आनन्द का बोध कराता है। फलतः इस माध्यम की भिन्नता के कारण काव्य के ये प्रसिद्ध दो भेद निष्पन्न होते हैं।

इन भेदों के भी उपभेद होते हैं। क्रमप्राप्त श्रव्यकाव्य के उपभेदों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। रचना की दृष्टि से काव्य के तीन भेद होते हैं – १. गद्य,

---

१. सा०द०, ६.१।

२. वही, ६.३१३।

२. पद्य और ३.चम्पू। जिनमें छन्दोबद्ध रचना पद्य कहलाती है, छन्द से रहित रचना गद्य और गद्य-पद्य की मिश्रित रचना चम्पू के नाम से अभिहित होती है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

छन्दोबद्धपदं पद्यम्[1]।

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्[2]।

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते[3]।

छन्दों में लिखे गये काव्यों को पद्य कहते हैं। वह यदि मुक्त – दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो, तो उसे मुक्तक कहते हैं। यदि दो श्लोकों में वाक्यपूर्ति होती है, तो युग्मक कहलाता है। तीन पद्यों का **सन्दानितक** अथवा **विशेषक**, चार पद्यों का **कलापक** और पाँच अथवा इससे अधिक पद्यों से सम्बन्ध रखने वाला **कुलक** कहलाता है। जैसा कि कहा है –

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्[4]।

गद्य चार प्रकार का होता है – १. मुक्तक, २. वृत्तगन्धि, ३. उत्कलिकाप्राय और ४. चूर्णक। पहला समासरहित होता है। दूसरे में पद्य के अंश पड़े रहते हैं। तीसरे में दीर्घ समास और चौथे में छोटे-छोटे समास होते हैं। साहित्यदर्पण की पंक्तियों का अवलोकन करें –

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।।

---

१. साहित्यदर्पण, ६.३१४;

२. वही, ६.३३०।

३. वही, ६.३३६।

४. वही ६.३१३-३१५।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्[१]।।

मुख्यतया गद्यकाव्य दो प्रकार का होता है – कथा एवं आख्यायिका। कथा में सरस वस्तु गद्यों द्वारा ही बनायी जाती है। इसमें कहीं कहीं आर्या छन्द और कहीं वक्त्र तथा उपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित निबद्ध होता है। जैसे कादम्बरी।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्[२]।

आख्यायिका भी कथा के समान ही होती है। इसमें कविवंश वर्णन होता है।अन्य कवियों का वृत्तान्त तथा पद्य भी कहीं कहीं रहते हैं। यहाँ कथाभागों का नाम आश्वास रखा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अगली कथा की सूचना की जाती है। जैसे – हर्षचरित। साहित्यदर्पण में कहा है –

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्त्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्।।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्रायां छन्दसा येन केनचित्।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्[३]।।

आख्यायिका की कथा नायक के मुख से ही निबद्ध होनी चाहिए, यह किन्हीं का मत है – यह ठीक नहीं है, क्योंकि आचार्य दण्डी ने यह कहा है कि **अपि त्वनियम इति** – आख्यायिका में भी अन्य लोगों के वचन होते हैं –

---

१. सा०द० ६.३३०-३३२

२. वही, ६.३३२-३३३।

३. वही ६.३२४-३३६।

केवल नायक ही के नहीं – अतः इस विषय में कोई नियम नहीं है। आख्यान आदि कथा और आख्यायिका के ही अन्तर्भूत हैं। यह भी दण्डी ने ही कहा है –

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः। इति।

इनके उदाहरण पञ्चतन्त्र आदि हैं।

जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों, उस काव्य को चम्पू कहते हैं – **गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते**[१]। गद्यपद्यमय राजस्तुति का नाम **विरुद** है – **गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते**[२]। विविधभाषाओं से निर्मित करम्भक कहलाता है – **करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्**[३]।

विषय की दृष्टि से श्रव्यकाव्य के मुख्यतया तीन भेद होते हैं – १. महाकाव्य, २. खण्डकाव्य तथा ३. मुक्तक। महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य उस विशिष्ट काव्य की संज्ञा है, जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण घटना, जैसे संग्राम आदि का वर्णन विस्तार तथा विशदता के साथ किया जाता है। महाकाव्य सर्गों में निबन्धित होता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय – जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों, नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक की सन्धियाँ रहती हैं। कथानक ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धी होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में एक उसका फल होता है –

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।।

---

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६.३३६।

२. वही, ६.३३७।

३. वही, ६.३३७।

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्[१]।।

महाकाव्य की सर्वप्रथम रचना महर्षि वाल्मीकि का रामायण है। इसी ग्रन्थ की समीक्षा करने पर महाकाव्य की कल्पना को आलङ्कारिकों ने प्रतिष्ठित किया। महाकाव्य की महत्ता स्वरूपजन्य नहीं, प्रत्युत गुणजन्य है। कोई भी काव्य अपने विपुल काय के कारण महाकाव्य की पदवी से विभूषित नहीं किया जा सकता है। उसके लिए कतिपय लक्षणों की स्थिति अनिवार्य होती है, जिनका निर्देश सबसे पहले दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक अलङ्कार ग्रन्थ में किया है[२]। दण्डी की महाकाव्य की कल्पना को ही पिछले आलङ्कारिकों ने कुछ शब्दभेद के साथ दुहराया है। रुद्रट तथा विश्वनाथ कविराज ने इसी को भिन्न-भिन्न शब्दों में वर्णित किया है। एक बात ध्यान देने की यह है कि ये आलङ्कारिक उतने ही विषयों के उपबृंहण तथा अलङ्करण को उचित मानते हैं, जिससे क़थावस्तु कथमपि विच्छेद न हो सके। यह बहुत ही आवश्यक वस्तु है। अलङ्करण तथा सजावट का अपना तो कोई मूल्य नहीं होता, वे इसीलिए आवश्यक माने जाते हैं, जिससे मूल वस्तु का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो। यदि अलङ्करणों में मूलवस्तु या कथानक का विच्छेद हो जाय और पाठक इन्हीं के झमेले में पड़कर मुख्य कथानक को एकदम भूल बैठता हो, तो इसमें लाभ ही क्या?

महाकाव्य के आवश्यक तत्त्वों पर दृष्टिपात करना समीचीन प्रतीत होता है –

१. कथानक – महाकाव्य का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होना चाहिए। भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटनाओं की कमी नहीं है, परन्तु इस कार्य के लिए वे ही चुनी जाती हैं, जिनका हमारे जातीय जीवन पर विशेष महत्त्व होता है तथा जिनका प्रभाव हमारे जीवन पर स्थायी रूप से होता है। क्षणिक महत्त्व की घटनाएँ इस कार्य के लिए कभी नहीं चुनी जातीं। महाकाव्य का कथानक किसी क्षुद्र या लघु घटना के आधार पर कभी नहीं निर्मित होता, न वह

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६.३१५-३१८।

२. दण्डी, काव्यादर्श, १.१४-१९।

किसी सामान्य व्यक्ति का ही चरित्र चित्रित करता है। कथानक के चुनाव के लिए तथा वर्णन के प्रकार के लिए भी भव्यता महाकाव्य के लिए नितान्त आवश्यक गुण है।

२. पात्रचित्रण – वर्णित पात्रों के चरित्र को भी सुन्दरता से दिखलाना महाकाव्य का उद्देश्य होता है। पात्रों में उदात्तता का होना नितान्त आवश्यक होता है। चरित्र ऐसा होना चाहिए, जिसको हम आदर्श मानकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए अनुकरण कर सकें। यदि उसके नायक में आदर्श गुणों का अभाव हो, तो वह हमारा हृदय कथमपि आकृष्ट नहीं कर सकता। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष दिखलाकर कथानक का विकास दिखलाया जाता है। नायक न्याय तथा धर्म का रक्षक होता है, जिसके कार्यों में विघ्न डालने के लिए प्रतिनायक खड़ा रहता है। फलतः प्रतिनायक को मारकर धर्म तथा न्याय का संरक्षण करना नायक का प्रधान कार्य होता है। नायक के चरित्र में इन शोभन गुणों का प्राधान्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

३. रस – महाकाव्य में शृङ्गार तथा वीररस का प्रदर्शन कवि को अभीष्ट होता है। शौर्य-मण्डित कथानक में वीररस का तथा शृङ्गारी विषयों में शृङ्गार रस का वर्णन नितान्त अपेक्षित होता है। अवान्तर रसों का भी वर्णन स्थान-स्थान पर आवश्यक होता है। परन्तु मुख्य रस का परिपोष ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है।

४. प्रकृति-चित्रण – कथानक को सरसता तथा महत्ता प्रदान करने के लिए अवान्तर सामग्री से मण्डित करना बहुत ही आवश्यक होता है। संस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति के चित्रण को महाकाव्य में विशेष महत्त्व दिया है। वे मानव तथा बाह्य प्रकृति को एक सुवर्णसूत्र में बाँधने के पक्षपाती थे। प्रकृति अपना प्रभाव मानवीय स्वभाव पर बिना डाले रह नहीं सकती और मनुष्य भी प्रकृति के प्रति अपना अनुराग प्रकट किये बिना रह नहीं सकता। महाकाव्य में प्रकृति का चित्रण दो रूपों में मिलता है – आलम्बन के रूप में और उद्दीपन के रूप में। तडाग में खिले हुए कमल, उपवन में विकसित फूल, पञ्चम में कूकती कोयल – इन सबका वर्णन हमारे कवि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करते हैं। वह प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से भी वर्णन करता है। बाह्य प्रकृति को हमारा कवि सुषमा का निकेतन तथा सौन्दर्य का सदन मानता है, परन्तु उसके भीतरी रहस्य

को जानने के लिए कवि में निरीक्षण शक्ति होनी चाहिए। आज की 'नागरिक सभ्यता' में नगर का कवि प्रकृति से दूर हटता जा रहा है और इसीलिए उसके वर्णन में कृत्रिमता है। प्रकृति को उसने कभी स्वच्छन्द विहार करने वाली देखा ही नहीं, तो वह उसका तद्रूप वर्णन कर ही कहाँ से सकता है? परन्तु संस्कृत के कवि प्रकृति के पुजारी थे और इसीलिए उनके वर्णन सामाजिक तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। इन्हीं तत्त्वों का योग महाकाव्य का जनक होता है।

खण्डकाव्य

वह काव्य जो मात्रा में महाकाव्य से छोटा हो, परन्तु गुणों में उससे कथमपि न्यून न हो, खण्डकाव्य कहलाता है। यह महाकाव्य का टुकड़ा न होकर स्वयं पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। परिमाण में कम होने के कारण इसमें महाकाव्य के विषय – युद्ध आदि का विवरण नहीं दिया जाता। परन्तु इसमें कवि किसी विशिष्ट विषय पर अपनी अनुभूति प्रकट करता है। महाकाव्य विषयप्रधान होता है, परन्तु खण्डकाव्य मुख्यतया विषयी-प्रधान होता है जिसमें लेखक कथानक के स्थूल साँचे में अपने वैयक्तिक विचारों को प्रसङ्गानुसार वर्णन करता है। इस प्रकार काव्य के अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

मेघदूत खण्डकाव्य का एक सुन्दर दृष्टान्त है। इसमें कालिदास ने एक विरही यक्ष के द्वारा अपनी वियोगविधुरा पत्नी के पास प्रणय का सन्देश भिजवाया है। इसमें कथानक तो बिलकुल छोटा है, परन्तु प्रकृति का वर्णन विशेष रूप से सुन्दर तथा भव्य है। यहाँ बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है और साथ ही साथ मानव हृदय के कोमल भावों का भी वर्णन बड़ा ही रुचिर है। यक्ष का प्रेम सन्देश उसके कोमल हृदय का, स्वाभाविक स्नेह का तथा सच्ची सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है। इसी प्रकार त्रिवेणी कवि अभिराज राजेन्द्र मिश्र का 'मृगाङ्कदूतम्' खण्डकाव्य २१वीं सदी का एक भव्य मनोरम दृष्टान्त है, जिसमें कवि ने अपने प्रवासी जीवन के स्नेहिल अनुभूतियों को अङ्कित किया है।

इस प्रकार महाकाव्य के विषय से खण्डकाव्य का कथमपि साम्य नहीं।

किन्हीं खण्डकाव्यों में ऐसा साम्य रह भी सकता है। परन्तु खण्डकाव्य उस पर भी अपनी स्वतन्त्रता से मण्डित रहता ही है। खण्डकाव्य के नाम को देखकर कितने ही आलोचकों की यह धारणा होती है कि यह प्रबन्ध काव्य का एक खण्ड मात्र है, परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है।

मुक्तक

मुक्तक का अर्थ है सन्दर्भ, प्रकरण आदि से मुक्त या विरहित काव्य। जो सन्दर्भ आदि बाहरी उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है, उसे मुक्तक कहते हैं। इसको समझने के लिए बाहरी सामग्री की तनिक भी अपेक्षा नहीं होती। स्वयं रस के समस्त उपकरण – विभाव, अनुभाव आदि उपस्थित रहते हैं, जिससे उसके पाठ से आनन्द उठाने के लिए पाठक को किसी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ता। मुक्तक तो उन रस-भरे मोदकों के समान है, जिनके आस्वादनमात्र से सहृदयों का हृदय तुरन्त तृप्त तथा उल्लसित हो जाता है।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में मुक्तकों के पाँच भेद किये हैं, परन्तु इस भेद का मूल आधार विशेष व्यापक नहीं है। राजशेखर के द्वारा निर्दिष्ट पाँच भेद ये हैं – **१. शुद्ध** – जिसमें बिना किसी अतिरिक्त सामग्री के किसी भावना का वर्णन होता है और जिसमें किसी इतिवृत्त का सम्बन्ध नहीं रहता। **२. चित्र** – जहाँ शुद्ध मुक्तक में भावों की अनेक चित्र-विचित्र कल्पनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। **३. कथोत्थ** – (कथा से उत्थ, उठा हुआ) – किसी अतीत घटना का वर्णन करने वाला मुक्तक। **४. संविधानकभू** – जिसमें घटना की सम्भावना की जाती है। **५. आख्यानकवान्** – जिसमें घटना को कवि अपनी मनोरम प्रतिभा के सहारे बहुत ही विस्तृत कर दिखलाता है। बिहारी की सतसई से इन प्रकरणों का हिन्दी उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। एक उदाहरण का अवलोकन करें। श्री राधिका की सुहावनी शोभा का, जिसमें किसी प्रकार की बनावट नहीं है, वर्णन पढ़ने से उनका चित्र सामने खड़ा हो जाता है –

रस सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन।
अंजन-रंजन हू बिना, खंजन-गंजन नैन।।

संस्कृत साहित्य में अमरुक तथा भर्तृहरि मुक्तक काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। अमरुक कवि के एक मुक्तक पर दृष्टिपात करें –

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्त्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रिय-सुहृत्सार्थं किमुत्यज्यते।।

भावी प्रोषितपतिका अपने जीवन से कह रही है – जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया, तभी हाथ के कंगनों ने प्रस्थान कर दिया – खिसक गये, प्रिय मित्र आँसू भी लगातार जाने लगे। धृति एक क्षण के लिए भी न टिकी। मन जाने के लिए पहले से ही तैयार हो गया। अरे मेरे प्राण, जब तुम्हारा भी जाने का निश्चय है, तो अपने इन प्रिय मित्रों का संग-साथ मत छोड़ो। तुम भी चलते बनो।

मुक्तक को हम मोटे तौर से दो भागों में बाँट सकते हैं – लौकिक तथा धार्मिक। **लौकिक मुक्तक** लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है, जबकि **धार्मिक मुक्तक** विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। इसका ही प्रचलित नाम 'स्तोत्र' है। संस्कृत में स्तोत्र का एक विशाल साहित्य है।

महाकवि मतिराम के निम्न पद्य को धार्मिक मुक्तक का अच्छा उदाहरण माना जा सकता है। इसमें कवि ने अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण के रूपवर्णन में अपने हृदय के भावों का अच्छा परिचय दिया है –

गुच्छनि के अवतंस लसै सिर, पच्छन अच्छ किरीट बनायौ
पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव सौं मतिराम सुहायो।
गुंजनि के उर मंजुल हार सुकुंजनि तैं कढि बाहर आयो
आजु के रूप लखै नँदलाल को, आजहि नैनन को फल पायौ।।

संस्कृत में गोवर्धनाचार्य तथा अमरुक मुक्तक भेद के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। उसी प्रकार हिन्दी में बिहारी तथा मतिराम इस कोटि के प्रमुख कवि हैं।

उपर्युक्त भेदों का यदि अंग्रेजी पद्धति से वर्गीकरण करना चाहें, तो हम महाकाव्य को **'एपिक पोइट्री'** के अन्तर्गत तथा पिछले दोनों भेदों को **'लिरिक पोइट्री'** के भीतर रखेंगे। एपिक के समान ही महाकाव्य में कवि विषय ढूँढ़ने

के लिए अपने से बाहर जाता है और जातीय घटनाओं के वर्णन में अपनी प्रतिभा का वैभव दिखाता है। ये घटनाएँ वर्णन-प्रधान होती हैं। अर्थात् उनमें संग्राम, आक्रमण, मार-पीट आदि बाहरी घटनाओं का विवरण ही मुख्य रहता है। 'लिरिक' के समान मुक्तक काव्य का कवि विषय-निर्वाचन के लिए अपने से बाहर नहीं जाता, प्रत्युत अपने ही भीतर डूबकर भावों को प्रकट करने में ही अपना गौरव मानता है। मुक्तक अपने अर्थ बतलाने के लिए स्वतः पूर्ण होते हैं और यही मुक्तक काव्य की निजी विशिष्टता होती है।

दृश्यकाव्य के दो भेद होते हैं – १. रूपक तथा २. उपरूपक। नाटकीय लक्षणों से पूर्ण रचना 'रूपक' कहलाती है, जिसके दस भेद होते हैं – नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक तथा ईहामृग। साहित्यदर्पण में रूपक का भेद इस प्रकार किया गया है –

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश[१]।।

उपरूपक में नृत्य की ही अधिकता रहती है और स्थान-स्थान पर नाटक के भी संवाद आदि तत्त्व मिले रहते हैं। इनके १८ भेद शास्त्रकारों ने बतलाये हैं, जिनके नामों का कथन साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है –

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च।।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्[२]।।

अर्थात् नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका,

---

१. कविराज विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६.३;

२. वही, ६. ४-६।

प्रकरणिका, हल्लीश तथा भाणिका ये अष्टादश उपरूपक के भेद बतलाये गये हैं। इन सब रूपक तथा उपरूपकों का लक्षण, कुछ विशेषताओं को छोड़कर नाटक की तरह ही होता है। इन पर विशेष चर्चा दृश्यकाव्य प्रकरण में आगे की जायेगी।

काव्य के भेद

काव्य लोकोत्तर आनन्द उत्पन्न करता है। जगत् के पदार्थों से जो सुख मिलता है, वह सीमित होने के कारण लौकिक होता है, वह खण्डित रहता है, अस्थायी होता है, परन्तु काव्य के द्वारा उत्पन्न आनन्द विलक्षण होता है। वह असीमित होता है – इसकी सीमा या इयत्ता नहीं होती। काव्य के आनन्द में कोई भेद-भाव नहीं, कोई अलगाव-विलगाव नहीं। सब लोग उसका एक ही प्रकार से, समभाव से आनन्द उठाते हैं। काव्य का यह विजयघोष है –

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
रसभावप्रसक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्।।

काव्य के मुख्यतः तीन भेद होते हैं – १. उत्तम, २. मध्यम, ३. अधम। काव्य में मुख्य अर्थ व्यङ्ग्यार्थ होता है। उसकी प्रधानता होने पर उत्तम काव्य होता है। जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ तो है, परन्तु गौण रूप में ही, वहाँ मध्यम काव्य होता है और जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ नहीं होता, वहाँ अधम काव्य होता है। अतः काव्य में उत्तमता की कसौटी व्यङ्ग्यार्थ ही होता है। इन्हीं तीनों प्रकारों का दूसरा नाम है – १. ध्वनि, २. गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा ३. चित्रकाव्य। इनका लक्षण उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

ध्वनिकाव्य

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्य अर्थ में अधिक चमत्कार होता है, उसे ध्वनि कहते हैं। अर्थात् वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ के अधिक चमत्कार युक्त होने पर उत्तम काव्य होता है और विद्वानों ने उसको ध्वनि काव्य नाम से कहा है। जैसा की आचार्य मम्मट ने कहा है –

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः[१]।

---

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, १.४।

कारिका में आये हुए बुध शब्द का अर्थ ग्रन्थकार ने वैयाकरण किया है। उससे यह स्पष्ट होता है कि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से वैयाकरणों ने किया था और काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र के इस ध्वनि शब्द को अपना लिया है। इस शब्द के प्रयोग को अपना लेने का कारण यह था कि व्याकरणशास्त्र में प्रधानभूत स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होती है, इसलिए '**ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्दों के लिए ध्वनि पद का प्रयोग किया गया था। इसी के आधार पर ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को दबा सकने में समर्थ जो व्यङ्ग्य अर्थ, उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए ध्वनि इस पद का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ वैयाकरणों के जिस ध्वनि पद के प्रयोग की ओर मम्मट संकेत कर रहे हैं, वह महाभाष्य में आया है। उसका प्रसङ्ग इस प्रकार है –

अथ शब्दानुशासनम्। .... अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। कि यत्तत् सास्नालाङ्गुलककुद-खुर-विषयाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह, द्रव्यं नाम तत्। .... कस्तर्हि शब्दः। येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गुल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके 'ध्वनिः' शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं मा कुरु मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः[1]।

इसमें ध्वनि को शब्द कहा गया है। परन्तु स्फोटरूप व्यङ्ग्य के अभिव्यक्त करने वाले शब्द के लिए ध्वनि पद का प्रयोग हुआ है, यह बात इस पंक्ति से नहीं निकलती है। फिर भी व्याकरणशास्त्र में अन्य स्थानों पर स्फोटसिद्धान्त की कल्पना की गयी है और उस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोतग्राह्य वर्ण या ध्वनि से ही होती है। इसलिए आचार्य मम्मट ने उक्त आशय की पंक्ति लिखी है – **बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्य-व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य[2]।**

---

१. महाभाष्य, प्रथमाह्निक पृ० ७।

२. काव्यप्रकाश, प्रथमोल्लास, ४ की वृत्ति।

ध्वनि काव्य के उदाहरण में एक हिन्दी पद्य का अवलोकन करें –

या ही अपमान मेरे शत्रु जो लखाई देत
तिनहूँ में तापस यौं लंक ही में आनो है।
करत विधंस वंस वीर जातुधानन कौं
देखौं हौं जिअत धिक रावन कहानो है।
इन्द्र को जितैया कौं सहस्त्र फिटकार और
व्यर्थ ही दिखात कुम्भकर्ण को जगानो है।
नेक ही सो नाक पुरवा को लूटि फूलि गये,
बीस इन विफल भुजान को बखानो है।

हनुमन्नाटक में रावण की गर्वोक्ति के प्रतिपादक निम्न प्रख्यात पद्य का यह हिन्दी अनुवाद है –

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।।

रावण कह रहा है कि यही मेरा अनादर है, जो मेरे भी शत्रु दिखाई देते हैं। उसमें यह है तापस और वह लङ्का में आया है तथा राक्षसों के वीर वंशों को नाश करता है और रावण जीता उसे देख रहा है। इन्द्र के जीतने वाले मेघनाद को हजारों फटकार है। कुम्भकर्ण को जगाना व्यर्थ है। स्वर्गरूपी पुरवा (छोटा गाँव) को जीतकर फूलने वाले इन हमारे बीसों भुजाओं को बारम्बार धिक्कार है।

इस पद्य में व्यङ्ग्यार्थ का एक सुन्दर व्यूह ही वर्तमान है। 'मे' पद से सूचित होता है कि मेरे सामने इन्द्र और यम भय से थरथराते रहते थे। उसके भी शत्रु हों, यह नितान्त अनादर का सूचक है। 'शत्रु' में बहुवचन विशेष महत्त्व का है। वह शत्रु यदि कोई वीर पुरुष होता, तो कोई बात भी होती। वह तो तपस्या में रत कोई तपस्वी है? और वह भी लङ्का में ही वर्तमान है, खास मेरी

राजधानी में ही। वह भी एक राक्षस को नहीं, प्रत्युत राक्षसों के वंश को मार रहा है। और आश्चर्य यह है कि रावण जी रहा है। 'रावण' का अर्थ है संसार को रुलाने वाला। इतना अपमान होने पर तो रावण को मर जाना चाहिए। परन्तु वह जी रहा है। यह अनौचित्य की पराकाष्ठा को सूचित करता है। इसी प्रकार मेघनाद को इन्द्रजीत कहने से उसकी अपराजेयता ध्वनित होती है अर्थात् वह सर्वथा अजेय है। अन्तिम चरण में स्वर्ग को एक छोटा पुरवा या टोला कहा गया है, जिससे यह सूचित होता है कि उसका जीतना मेरे लिए अत्यन्त सरल काम था, परन्तु उतने से ही मेरी बीसों भुजाएँ गर्व से फूल गयी हैं, जो अनौचित्य तथा अनादर का सूचक है। इस प्रकार इस सुन्दर पद्य में उत्साह स्थायी भाव तथा वीररस ध्वनि है। अतः उत्तम काव्य का उदाहरण है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य

जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान न होकर गौण हो जाय, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। अर्थात् पद्य में व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता तो अवश्य है, परन्तु काव्य अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है। ऐसी दशा में मध्यम कोटि का काव्य होता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का लक्षण मम्मट ने इस प्रकार किया है–

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्[१]।

अर्थात् वाच्य से अधिक चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ न होने पर गुणीभतव्यङ्ग्य नामक दूसरे प्रकार का काव्य होता है, जो मध्यम काव्य कहा जाता है। उसका उदाहरण देते हैं –

ग्रामतरुणं तरुण्या ननवञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया[२]।।

यहाँ अशोक या वेतस के लतामण्डप में ग्रामतरुण के साथ मिलने का संकेत देकर घर के काम में लग जाने अथवा अन्य लोगों की उपस्थिति के कारण निकलने का समय न मिलने से तरुणी नियत समय पर वहाँ नहीं आयी

---

१. काव्यप्रकाश, १.५;

२. वही १.३।

और ग्रामतरुण समय पर पहुँच गया; उसको देखकर तरुणी की मुखकान्ति मलिन हो रही है, यह व्यङ्ग्य वाच्य के ही उस व्यङ्ग्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होने से गुणीभूत हो गया है। इसलिए यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

ग्रामतरुण इस पद से यह भी व्यक्त होता है कि ग्राम में एक ही तरुण है, अनेक युवतियों द्वारा प्रार्थ्यमान होने से उसका दुबारा जल्दी मिलना कठिन है। इसलिए पश्चात्ताप का अतिशय सूचित होता है। यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा वाच्य अर्थ के ही अधिक चमत्कारी होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य का यह समुचित उदाहरण है। इसका विशेष विवेचन गुणीभूतव्यङ्ग्य प्रकरण में आगे किया जायेगा। एक हिन्दी पद्य का उदाहरण देखें –

बैठी गुरुजन बीच में, सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर, परे साँकरे प्रान।।

राधा गुरुजन के मध्य में बैठी हुई है। उसी समय श्रीकृष्ण की मुरली बजती है। उसकी तान सुनकर वह हृदय में अत्यन्त व्याकुल होकर मुरझा जाती है। प्राण संकट में पड़ जाते हैं। यह वाच्यार्थ है। मुरली के द्वारा संकेत पाने पर भी राधा कृष्ण से मिलने के लिए जाने में असमर्थ है। यह व्यङ्ग्य अर्थ है। यहाँ वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार है; क्योंकि तान सुनकर भी मिलने के लिए न जाना अनेक कारणों से हो सकता है। सम्भव है कि राधा के हृदय में कृष्ण के लिए अब तनिक भी प्रेम नहीं है और इसलिए वह नहीं जा रही है। अतः व्यङ्ग्यार्थ के मूल में स्नेह का अभाव भी कारण हो सकता है, परन्तु ऐसी दुविधा वाच्य अर्थ में नहीं है। हृदय मसोस कर मुरझाना तो स्पष्ट ही गाढ़ अनुराग का सूचक है। इसलिए यहाँ वाक्यार्थ में विशेष चमत्कार है। व्यङ्ग्यार्थ है अवश्य, परन्तु उसमें दम नहीं, चमत्कार नहीं, वह तो फीके रूप से झाँक रहा है।

चित्रकाव्य

काव्य के तीसरे भेद 'चित्रकाव्य' का लक्षण वाग्देवतावतार मम्मट ने इस प्रकार किया है –

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्[1]।

अर्थात् वह काव्य, जिसमें व्यङ्ग्य अर्थ का अभाव हो तथा वाच्य अर्थ की ही केवल मात्र सत्ता हो, वह अवर या अधम काव्य कहलाता है। इसी को 'चित्रकाव्य' कहते हैं। इसमें अलङ्कार की प्रधानता रहती है – शब्दालङ्कार के प्राधान्य होने पर शब्दचित्र होता है और अर्थालङ्कार की प्रधानता होने पर होता है अर्थचित्र। इस काव्य में कवि का लक्ष्य केवल शब्द या अर्थ को ही सुशोभित करने की या सजाने की ओर रहता है और इसलिए वह अन्य काव्याङ्गों के लिए उद्योगशील नहीं होता। शब्दचित्र का उदाहरण का अवलोकन करें –

कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन विकसंत हैं।
कहै पद्माकर परागहूँ में पौन हूँ मैं
पातन में पीकन पलासन पगंत हैं।
द्वार में दिशान में दुनी में देश-देशन में
देखो दीप-दीपन में दीयत दिगंत हैं।
वीथिन में व्रज में नवेलिन में वेलिन में
बनन में बागन में वगर्‌यो बसंत हैं।।

यहाँ क, प, द, ब आदि अक्षरों की आवृत्ति होने से यह वृत्यनुप्रास शब्दालङ्कार है। कवि का ध्यान इस शाब्दी सुषमा की ओर ही है। अतएव यह शब्दचित्र कहलायेगा। संस्कृत कवियों ने ऐसे ही श्लोकों की रचना की है, जिनमें एक अक्षर के अतिरिक्त दूसरा अक्षर ही नहीं। शाब्दी चमत्कृति का यह भव्य आदर्श है –

पूजापद्मपरम्परापुलकितौ पाष्ण्योः परं पेलवौ
पुण्यौ पातकिपापपाटनपटू पृथ्वीं प्रपन्नौ प्रथाम्।
प्रायः पर्वतपुत्रिकापृथुपटैः पस्त्ये पुरा पूरितौ
पादौ पण्डितपाजकः पशुपते प्रीत्या पुरः पश्यतु।।

---

१. काव्यप्रकाश १.५।

किसी प्राचीन कवि पाजक पण्डित की यह पकारबहुला सूक्ति है, जिसमें प्रत्येक शब्द पकार से ही प्रारम्भ होता है। इस घटाटोप का इतना ही अर्थ है कि कवि पशुपति के चरणों को प्रीति से अपने सामने अवलोकन करें। यह चतुर्थ चरण का अर्थ है। पहले तीन पादों में चरणों के विशेषणों का व्यूह खड़ा किया गया है।

मम्मट अर्थचित्र का उदाहरण देते हैं –

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।।

यहाँ 'भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता' अर्थात् अमरावती ने मानों भय के मारे आँखें बन्द कर ली हों, यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इस उत्प्रेक्षा में ही कवि का प्रधान रूप से तात्पर्य है। इसलिए यद्यपि वीररस की प्रतीति हो सकती है, परन्तु उसमें कवि का तात्पर्य न होने से इसको चित्रकाव्य में स्थान दिया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद माने हैं – उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। जबकि कविराज विश्वनाथ काव्य के दो ही भेद स्वीकार करते हैं –

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्[१]।।

OOO

---

१. सा०द० ४.१।

तृतीय उन्मीलन
शाब्दशक्ति विमर्श

शक्ति (शब्दवृत्ति) का निरूपण

भारतीय साहित्य में शाब्दबोध का विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेष रूप से किया गया है। इनमें व्याकरणशास्त्र में पद-पदार्थों का विवेचन है, इसलिए व्याकरण को 'पदशास्त्र' कहते हैं। न्याय में विशेषरूप से प्रमाणों का विवेचन किया गया है, इसलिए न्याय को 'प्रमाणशास्त्र' कहा जाता है। इसी प्रकार वाक्यार्थ-शैली का विवेचन मीमांसा में विशेषरूप से किया है, इसलिए मीमांसा को वाक्यशास्त्र कहा जाता है। शाब्दबोध में इन तीनों शास्त्रों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए शाब्दबोध में निष्णात इन तीनों शास्त्रों के पण्डित को 'पद-वाक्यप्रमाणज्ञ' इस गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित किया जाता है। मीमांसकों में भी वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य हैं। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि अभिहितान्वयवाद के मानने वाले हैं। इसके विपरीत प्रभाकर गुरु और उनके अनुयायी शालिक नाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवाद के मानने वाले हैं।

काव्यशास्त्र में वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकार का अर्थ माना गया है। उसी के अनुसार वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द माना गया है। इन तीन प्रकार के शब्दों से तीनों प्रकार के अर्थों की प्रतीति के लिए उन शब्दों में अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीन प्रकार की शब्दशक्तियाँ मानी जाती हैं। अन्य शास्त्रों में वाचक तथा लक्षक दो प्रकार के शब्द तो प्रायः माने गये हैं, परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्द का निरूपण काव्यशास्त्र को छोड़कर अन्य शास्त्रों में नहीं किया गया है। काव्य में तो व्यञ्जक शब्द के बिना कोई चमत्कार ही नहीं रह जायेगा, इसलिए यहाँ काव्य में तीनों प्रकार के शब्द माने जाते हैं। इनमें वाचक शब्द मुख्यार्थ का बोधक होता है, इसलिए सबसे पहले उसको रखा गया है लाक्षणिक शब्द वाचक शब्द के ऊपर आश्रित रहता है, इसलिए वाचक के बाद लाक्षणिक शब्द का स्थान आता है और व्यञ्जक शब्द

इन दोनों की अपेक्षा रखता है, इसलिए उसको तीसरे स्थान पर रखा गया है। उसमें भी विशेषरूप से यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह तीन प्रकार का विभाग केवल शब्द की उपाधियों का है, शब्दों का नहीं; क्योंकि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है या अमुक शब्द केवल व्यञ्जक है, इस प्रकार कोई निश्चित विभाग शब्दों में नहीं पाया जाता है। एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक तथा व्यञ्जक भी। इसलिए यह तीन प्रकार का विभाग शब्दों का नहीं, अपितु शब्दों की उपाधियों का ही समझना चाहिए। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति उपाधि के भेद से कभी वाचक कभी पाठक या श्रावक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधियों के भेद से एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक कहा जा सकता है। जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। इसी बात को आचार्य मम्मट ने कहा है –

वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः[१]।

अर्थात् वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य उन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं।

वाचक शब्द

अभिधा शक्ति के द्वारा जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को कहता है, वह वाचक शब्द कहलाता है। जैसा कि मम्मट ने कहा है –

साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः[२]।

छोटे बालक को लोकव्यवहार से संकेतग्रह किस प्रकार होता है, उस समझाने की प्रक्रिया को 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया कहते हैं, क्योंकि उसमें पहले उत्तम वृद्ध अर्थात् बालक के पिता आदि ने मध्यम वृद्ध अर्थात् बालक के बड़े भाई आदि को कलम उठाने की आज्ञा दी। फिर कलम रखकर दावात उठाने की आज्ञा दी और मध्यमवृद्ध ने उसी के अनुसार क्रिया की। उस व्यवहार में एक शब्द को हटाकर जो दूसरे शब्द का इसी प्रकार एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का निवेश किया गया, इसी को आवाप-उद्वाप कहते हैं, इसलिए व्यवहार में 'आवापोद्वाप' द्वारा संकेत का ग्रहण होता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह

---

१. का०प्र० २.६।

२. वही, २.७।

लोकव्यवहार संकेतग्रह का प्रधान साधन है, परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं, जिनका संग्रह निम्नलिखित कारिका में किया गया है –

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध–ज्ञात–पद के सान्निध्य से भी शक्ति या संकेत का ग्रहण माना जाता है। इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दों का और सबसे पहले शक्तिग्रह व्यवहार से ही होता है।

इनमें 'भू सत्तायाम्' आदि धातु पाठ से अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रों 'भूधातु' तथा करण आदि पदों का संकेतग्रह व्याकरण के द्वारा होता है। 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाण का उदाहरण है। जो व्यक्ति गौ को जानता है, पर गवय (नील गाय) को नहीं जानता है, उसको गौ के सदृश गवय होता है, इस वाक्य की सहायता से गवय पद का संकेत ग्रह हो जाता है। कोश तथा आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदि के बतलाने से भी नये पदार्थों के नामों का ज्ञान बालकों को होता ही है। व्यवहार का उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। विवृति अर्थात् व्याख्या भी संकेतग्रह का साधन है और 'वाक्यशेष' तथा सिद्ध पद अर्थात् ज्ञात अर्थ वाले पद की सन्निधि से अज्ञात अर्थ वाले पद का अर्थ भी ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार ये सब संकेतग्रह के उपाय माने गये हैं।

संकेतग्रह का विषय

यह शक्तिग्रह किसमें होता है, यह संकेतग्रह से सम्बन्ध रखने वाला महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका समाधान अनेक विवेचकों ने अनेक प्रकार से किया है। कोई जाति में संकेतग्रह मानते हैं, कोई व्यक्ति में और कोई जातिविशिष्ट व्यक्ति में। यद्यपि साधारणरूप से व्यवहार किसी व्यक्ति में ही होता है, इसलिए संकेतग्रह व्यक्ति में ही होना चाहिए। परन्तु व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने से 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकार के दोषों की सम्भावना रहती है। जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेतग्रह होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, बिना संकेतग्रह के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए यदि व्यक्ति में संकेतग्रह माना जाय, तो जिस व्यक्तिविशेष में संकेतग्रह हुआ है, उस शब्द से उस व्यक्तिविशेष की ही उपस्थिति होगी। अन्य व्यक्तियों की

प्रतीति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग संकेतग्रह मानना आवश्यक होगा। इस दशा में एक गो शब्द से प्रतीत होने वाली सभी गो व्यक्तियों में अलग-अलग संकेतग्रह मानने में अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। यही आनन्त्यदोष का अभिप्राय है। फिर व्यवहार से तो वर्तमान देश और वर्तमान काल की गो व्यक्तियों में ही संकेतग्रह हो सकता है, भूत, भविष्य और देशान्तर या कालान्तर की सब गो व्यक्तियों में संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है। इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है।

इस आनन्त्य दोष अर्थात् अनन्त शक्तियों की कल्पना को बचाने के लिए यदि यह कहा जाय कि अन्य सब व्यक्तियों में अलग-अलग शक्तिग्रह की आवश्यकता नहीं होती है, दो चार व्यक्तियों में व्यवहार से संकेतग्रह हो जाता है, शेष व्यक्तियों का बोध बिना संकेतग्रह के ही होता रहता है, तब व्यभिचार दोष होगा। व्यभिचार शब्द का अर्थ है नियम का उल्लंघन। संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है, यह नियम है। अब यदि यह मान लिया जाता है कि गो शब्द से बहुत सी गो व्यक्तियों का बोध बिना संकेतग्रह के होता है तो इस नियम का उल्लंघन होता है। इसलिए व्यभिचार दोष आ जाता है। इस प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य दोष हो जाता है और उसके बचाने का प्रयत्न करने पर व्यभिचार दोष आ जाता है। इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि महाभाष्यकार ने '**चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्धाः**', लिखकर जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द रूप से शब्दों का चार प्रकार का विभाग किया है। व्यक्ति में शक्ति मानने पर यह चारों प्रकार का शब्द-विभाग भी नहीं बन सकता है; क्योंकि जब व्यक्ति में संकेतग्रह माना जायेगा, तो गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः आदि चारों शब्दों से व्यक्ति का ही बोध होगा। इसलिए गौ शब्द जातिवाचक है, शुक्लपद गुणवाचक है, चलपद क्रियावाचक है और डित्थपद उस व्यक्ति का नाम होने से यदृच्छा शब्द है, इस प्रकार का विभाग नहीं बन सकता है। अतएव व्यक्ति में शक्ति न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप धर्मों में ही संकेतग्रह मानना उचित है, यह सिद्धान्त स्थिर होता है। इसी बात को वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने इस प्रकार लिखा है –

सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा[1]।

अर्थात् संकेतित अर्थ जाति आदि (जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। अथवा मीमांसकों के मत में केवल जाति रूप एक प्रकार का ही संकेतित अर्थ होता है। उपरोक्त कारिकांश में संकेतित अर्थ के विषय में 'जात्यादिः' और 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाया गया है। इनमें 'जात्यादिः' यह पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुयायी काव्यशास्त्रियों का है और 'जातिरेव' यह दूसरा पक्ष मीमांसकों का है। 'जात्यादि' रूप प्रथम पक्ष के अनुसार जात्यादि अर्थात् १. जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप वस्तु के उपाधिभूत इन चार धर्मों में संकेतग्रह होता है। इस पक्ष का आधार **'गौः शुक्लश्चलो डित्थः इत्यादौ चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः'** यह महाभाष्य का वचन है। इन चारों को शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानने का उपपादन ऊपर में किया गया है। अब 'जातिरेव' यह मीमांसकों का दूसरा पक्ष का उपपादन किया जायेगा।

केवल 'जाति' में शक्ति मानने वाला मीमांसक मत

मीमांसकों का सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द की शक्ति या संकेतग्रह होता है। अर्थात् केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीति के कारण को सामान्य या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है। जैसे – शंख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में शुक्ल; शुक्लः यह अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है, इसका कारण शुक्लत्व सामान्य ही है। जाति का ही दूसरा नाम सामान्य है। उसका लक्षण **'अनुगतप्रत्ययहेतुः सामान्यम्'** अनुगत–एकाकार प्रतीति का हेतु सामान्य कहलाता है, यह किया गया है। जैसे दस घट व्यक्तियों में घटः घटः इस अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीति का कारण घटत्व सामान्य माना जाता है, उसी प्रकार दस जगह रहने वाला शुक्लगुण में जिसके कारण शुक्लः शुक्लः यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है, वह 'शुक्लत्व सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थों के पाक में रहनेवाली पाक क्रिया में 'पाकः पाकः' इस अनुगतप्रतीति का कारण 'पाकत्वसामान्य' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित यदृच्छा

---

१. काव्य प्रकाश, २.८।

शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण विद्यमान उनके अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति शब्दों के समान शेष तीनों में भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए और जाति को ही उन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानना चाहिए।

जाति या सामान्य के लक्षण में दो बातें आवश्यक होती हैं। एक तो यह सामान्य ही अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीति का कारण होता है। दूसरी बात यह है कि वह नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है। '**नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्**' यह भी सामान्य का दूसरी तरह लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादि को 'सामान्य' मानने में तो कोई कठिनाई नहीं होती है; क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल रूप भिन्न-भिन्न हैं। अभी जात्यादि पक्ष की व्याख्या के अन्तिम भाग में अनेक पदार्थों में रहने वाले शुक्लादि गुणों के एकरूप होने का जो प्रतिपादन किया था, मीमांसक उस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल आदि को अभिन्न मानना अनुभव के विपरीत है, क्योंकि उनकी शुक्लता की प्रतीति में अन्तर है। अतः वे भिन्न ही हैं और उनमें अनुगत प्रतीति का कारण शुक्लत्व सामान्य को मानना ठीक है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओं में भी पारमार्थिक भेद होने के कारण उनमें पाकत्व आदि जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानना ही उचित है। इसलिए जातिशब्दों के समान गुण शब्द तथा क्रियाशब्दों में भी जाति को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर उसी में संकेतग्रह मानना उचित है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

परन्तु सामान्य जाति के उक्त लक्षण में 'अनेकसमवेतत्व' का समावेश होने के कारण यदृच्छा शब्दों में जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानने में थोड़ी कठिनाई प्रतीत हो सकती है। इसलिए उसके समाधान का विशेष मार्ग निकालना पड़ा है। कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदृच्छा शब्द तो अनेक व्यक्तियों के वाचक नहीं, अपितु केवल एक व्यक्तिवाचक रूढ शब्द होते हैं। उनमें अनेकसमवेतत्त्व के न रहने से जाति की कल्पना कैसे की जाय? जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहनेवाला अनेक समवेत-धर्म है और यदृच्छा शब्दों में स्फोटरूप शब्द भी एक है और उसका वाच्यार्थ व्यक्तिविशेष भी एक है, तब उसमें जाति की कल्पना कैसे की जाय?

इसका समाधान करने के लिए मीमांसकों ने उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से शब्दों में और प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि या ह्रासरूप परिवर्तन के

आधार पर व्यक्तियों में भेद की कल्पना की है। अर्थात् बाल, वृद्ध, शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जाने वाले 'डित्थ' या देवदत्त आदि एक व्यक्तिवाचक शब्द व्यक्तियों में अनेकत्व मानकर उनमें अनुगत प्रतीति कराने वाली 'डित्थत्व' आदि जाति की कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार '**प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः** एक मात्र चेतन आत्मा को छोड़कर सारे पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम, प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण यदृच्छा शब्दों के वाच्यार्थ व्यक्तियों में भी भेद की कल्पना करके उनमें अनुगत प्रतीति के कारण रूप में जाति को माना जा सकता है। अतः यदृच्छा शब्दों का संकेतग्रह भी जाति में ही मानना चाहिए।

इस प्रकार मीमांसक जाति आदि चार के स्थान पर केवल एक जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। मम्मटाचार्य ने अपनी कारिका में 'जातिरेव' लिखकर उसी मीमांसक मत का प्रदर्शन किया है।

संकेतग्रहविषयक नैयायिक मत

नैयायिकों के मत में न केवल जाति में शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में। केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं, तो केवल जाति में शक्तिग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता है। जाति में शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से माना जाय, तो उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि '**शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते**' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दशक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्दबोध में अन्वय हो सकता है। आक्षेपलभ्य अर्थ शाब्दबोध में अन्वित नहीं हो सकता है। इसीलिए नैयायिकों के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता। इसलिए '**व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः**' (न्यायसूत्र २.२.६८) जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है, यह नैयायिक सिद्धान्त है। इसे मम्मट ने 'तद्वान् पदार्थः' कहकर दिखलाया है। तद्वान् का अर्थ जातिमान है। अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानना चाहिए, यह नैयायिक-मत है।

संकेतग्रहविषयक बौद्धमत

बौद्ध-दार्शनिकों के मत में शब्द का अर्थ अपोह होता है। अपोह का अर्थ

'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। दस घट-व्यक्तियों में 'घटः घटः' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति का कारण नैयायिक आदि 'घटत्व सामान्य' को मानते हैं। उनका 'सामान्य' एक नित्य पदार्थ है; क्योंकि 'नित्यवे सति अनेकसमवेतत्त्वं सामान्यम्' यह सामान्य का लक्षण है। इसके अनुसार 'सामान्य' नित्य है। परन्तु बौद्धों का पहला सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। उनके मत से सारे पदार्थ क्षणिक हैं, इसलिए वे 'सामान्य' जैसे किसी नित्य पदार्थ को नहीं मानते। उसके स्थान पर अनुगतप्रतीति का कारण वे 'अपोह' को मानते हैं। 'अपोह' शब्द बौद्धदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' या तद्भिन्नभिन्नत्व होता है। अर्थात् दस घट-व्यक्तियों में जो 'घटः घटः' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण 'अघटव्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है, प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत् से भिन्न है। इसलिए उसमें 'घटः घटः' यह भी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है। उसी में संकेतग्रह मानना चाहिए। इस मत का संकेत काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थः' लिखकर किया है। इन सब पक्षों का विस्तारपूर्वक विवेचन ग्रन्थ गौरव के भय से तथा प्रकृत में विशेष उपयोग न होने से नहीं किया जा रहा है।

वृत्तिस्वरूपविमर्श

पहले बतलाया गया है कि शब्द के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं – वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। इन अर्थों को बताने वाली वृत्ति या शक्ति भी तीन प्रकार की होती हैं। जो अर्थ अभिधा से बोधित हो, वह वाच्य, जो लक्षणा से ज्ञात हो, वह लक्ष्य और जो व्यञ्जना से सूचित हो, वह व्यङ्ग्य कहलाता है। ये तीनों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना – शब्द की शक्तियाँ हैं। जैसा कि साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने कहा है –

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः।।

अभिधास्वरूपनिदर्शन

संकेतित (मुख्य) अर्थ का बोधन करानेवाली शब्द की सबसे पहली शक्ति का नाम अभिधा है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है –

तत्र सङ्केतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा[१]।

यहाँ 'संङ्केतित' शब्द का अर्थ मुख्य है। संकेतग्रहविषयीभूत यह अर्थ नहीं। इस अर्थ के मानने पर आत्माश्रय दोष होता है; क्योंकि संकेत अभिधा का ही नाम है, अतः 'अभिधाज्ञानविषयीभूत अर्थ का बोध करानेवाली शक्ति अभिधा है' यह लक्षण करने से अभिधा के लक्षण में अभिधा का ही आश्रयण करना पड़ेगा, इस कारण आत्माश्रय दोष होगा। अतः (संकेतित) शब्द का उक्त अर्थ मुख्य करना चाहिए। लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के पूर्व उपस्थित होना ही इसका मुख्यत्व है। व्याकरण, कोश आदि में प्रसिद्ध अर्थ मुख्य कहलाता है। उन्हीं को शक्तिग्रह का कारण माना गया है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है –

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।

संकेतग्रह के उक्त उपायों में व्यवहार मुख्य है, अतः पहले उसको स्पष्ट किया जा रहा है। किसी बड़े आदमी ने छोटे आदमी (नौकर आदि) से कहा कि 'गौ लाओ' और वह इस वाक्य को सुनकर, एक गौ ले आया, तो उन दोनों के समीप बैठा हुआ बालक – जिसे अबतक इन पदों के अर्थों का कुछ ज्ञान नहीं है – पहले पहल यही समझता है कि 'गौ लाओ' इस समुदाय का तात्पर्य इस जीव को ले आना ही है। अनन्तर 'गौ बाँध दो', 'घोड़ा लाओ' इत्यादि वाक्यों के सुनने पर की गयी क्रियाओं को देखकर वह आवोपोद्वाप (अन्वय, व्यतिरेक) के द्वारा 'गौ' 'बाँधो' 'लाओ' इत्यादिक प्रत्येक पद के संकेत (शक्ति) को समझता है। जब वह बालक देखता है कि जहाँ 'गौ' पद बोला गया है, वहीं यह जीव उपस्थित हुआ, अन्यत्र नहीं, तो यह समझ लेता है कि गौ-पद का वाच्य यही जीव है। इसी प्रकार 'आनय' आदि क्रियाओं का 'लाना' आदि अर्थ निर्धारित करता है। इस प्रकार व्यवहार से शक्तिग्रह होता है। व्याकरण से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे 'दाक्षि' पद का अर्थ दक्षपुत्र है, यह व्याकरण (दक्षस्यापत्यं दाक्षिः – अत इञ्) से प्रतीत होता है। 'गौ के सदृश गवय होता है' यह वाक्य सुनकर जङ्गल में गो के

---

१. सा०द० २.४।

सदृश व्यक्ति के देखने पर, पूर्व वाक्य के स्मरण द्वारा यह गवय से इत्याकारक ज्ञान उपमान से होता है। 'ईश्वरः शर्व ईशानः' इत्यादिक कोश से भी शक्तिग्रह होता है। कहीं आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष के उपदेश से भी शक्तिग्रह होता है – जैसे किसी बालक से उसके पिता आदि ने कहा कि यह घोड़ा है, तो उसे 'घोड़ा' पद की शक्ति उस जीव में गृहीत हुई। कहीं प्रसिद्ध अर्थात् पहले से ज्ञात पद के साहचर्य से भी शक्तिग्रह होता है, जैसे 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' – यहाँ मधुकर का अर्थ शहद बनाने वाली मक्खी है या भ्रमर, यह सन्देह 'कमल' पद के साथ होने से दूर होता है। कमल में भ्रमर के ही रसपान से तात्पर्य है, यह बात 'कमल' पद के सन्निधान से मालूम होती है, अतः यहाँ प्रसिद्धार्थक पद के समभिव्याहार (सान्निध्य) से मधुकर पद का शक्तिज्ञान होता है।

वाक्यशेष का उदाहरण –'यवमयश्चरुर्भवति' यहाँ 'यव' शब्द से आर्य जाति के व्यवहारानुसार जौ लेना चाहिए या म्लेच्छ जाति के व्यवहारानुसार मालकंगनी लेनी चाहिए, इस सन्देह में –

वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्।
मोदमान्यश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।।

इस पिछले वाक्य से 'जौ' ही लिये जाते हैं; क्योंकि वसन्त में वे ही फलते हैं। कहीं-कहीं 'विवृति' अर्थात् उस पद के अर्थ का विवरण करने से भी शक्तिग्रह होता है।

इन उपायों से ज्ञात हुए संकेतित (मुख्य) अर्थ का बोधन करनेवाली, दूसरी शक्ति से अव्यवहित अर्थात् शब्द की सबसे प्रथम शक्ति 'अभिधा' कहलाती है। लक्षणा आदि शक्तियों के पहले जैसे अभिधा आवश्यक है, जिस प्रकार वे अभिधा से व्यवहित हैं, वैसे अभिधा से पूर्व कोई शब्दशक्ति अपेक्षित नहीं है। अभिधा ही प्रथम शक्ति है।

शब्द चार प्रकार के होते हैं – १. जातिशब्द, २. गुणशब्द, ३. क्रिया शब्द और ४. यदृच्छाशब्द। ये चारों पदार्थों की उपाधियाँ (धर्मविशेष) हैं। इन्हीं में शब्दों की शक्ति (संकेत) का ज्ञान होता है, व्यक्ति में नहीं। ये जात्यादिक शब्दों की प्रवृत्तिनिमित्त भी कहलाते हैं। गौ आदि व्यक्ति में गोत्वादिक जाति

होती है। पदार्थ में विशेषता पैदा करने का कारण भूत धर्म, जो पहले से सिद्ध हो, (साध्य नहीं), उसे गुण कहते हैं। जैसे शुक्लादि गुण गौ आदि को, उसके सजातीय कृष्ण गौ आदि से व्यावृत्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि जातिशब्द से पदार्थ का सामान्य ज्ञान होता है। जैसे किसी ने कहा कि 'गौ है' तो यहाँ गोत्व जाति से अवच्छिन्न व्यक्तिमात्र का बोध होगा, उसमें कोई विशेषता नहीं प्रतीत होगी, परन्तु 'शुक्ल गौ' कहने से शुक्लपद कृष्ण आदि वर्णों की गौओं की व्यावृत्ति करता है। गोत्व जाति से युक्त एक जातीय (सजातीय) कृष्ण गौ आदि अब नहीं ली जा सकतीं, अतः शुक्लादि गुण, विशेषाधान के हेतु होते हैं, वे द्रव्यों की विशेषता के सूचक होते हैं और उन्हें भिन्न गुण वाले सजातियों से व्यावृत्त करते हैं। गुण क्रिया की भाँति साध्य नहीं होते, किन्तु वस्तु में पहले से विद्यमान (सिद्ध) होते हैं। अतः ये सिद्ध वस्तुधर्म कहलाते हैं।

द्रव्य – केवल एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि शब्दों को द्रव्य शब्द या यदृच्छाशब्द कहते हैं।

क्रिया – वस्तु के साध्य धर्म (पाकादिक) क्रिया कहलाते हैं। इन साध्य रूप वस्तुधर्मों में 'अधिश्रयण' अर्थात् चावल आदि के पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर 'अवश्रयण' अर्थात् पाकान्त में नीचे उतारने पर्यन्त जितने भी व्यापार करने पड़ते हैं, उन सबका नाम पाक है। आग जलाना, चमचे से चलाना, चावल निकालकर देखना, जल देना आदि सब क्रियाएँ मिलकर पाक कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि एक क्रिया को सिद्ध करने के लिए अनेक छोटे-मोटे व्यापार, आगे पीछे करने पड़ते हैं। इन्हीं सबकी यथावत् समाप्ति पर क्रिया की सिद्धि निर्भर होती है। यद्यपि ये देखने में अनेक होते हैं, किन्तु किसी एक ही प्रधान क्रिया के साधक होते हैं, अतः इन सबसे सिद्ध होनेवाली क्रिया को साध्यरूप वस्तुधर्म कहते हैं और जो शब्द इसे निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, उन्हें क्रिया कहते हैं, जैसे पाचक, पाठक आदि। इन्हीं चारों उपाधियों में शब्दों का संकेत गृहीत होता है। व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में ही सब शब्दों की शक्ति मानने से उक्त चार प्रकार के शब्दों का विषय भी विभक्त नहीं हो सकेगा।

जब उपाधियों में शक्ति मानते हैं, तब तो उपाधियों के भिन्न होने से एक ही व्यक्ति में 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इस प्रकार चारों प्रकार के शब्दों का प्रयोग हो जाता है, किन्तु व्यक्तिशक्तिवाद में व्यक्ति की अभिन्नता के कारण पुनरुक्त दोष होगा।

लक्षणास्वरूप निदर्शन

अभिधा शक्ति के द्वारा जिसका बोधन किया जाय, वह मुख्यार्थ कहलाता है, इसका बोध होने पर अर्थात् वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर या तात्पर्य अनुपपन्न होने पर रूढ़ि (प्रसिद्धि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध (युक्त) अन्य अर्थ का ज्ञान, जिस शक्ति के द्वारा होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शक्ति अर्पित या कल्पित (अमुख्य) है। अभिधा की भाँति ईश्वर से उद्भासित नहीं है। लक्षणा शक्ति का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने कहा है –

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता[1]।।

कुछ लोग बाध का अर्थ तात्पर्यानुपपत्ति करते हैं। वे अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का कारण नहीं मानते। यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का कारण माना जायेगा, तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा न हो सकेगी; क्योंकि यहाँ काक पद के अन्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं है। लक्षणा के चार कारण बतलाये गये हैं –मुख्य अर्थ का बाध और उसके साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध एवं रूढ़ि और प्रयोजन। इनमें पहले दो तो सर्वत्र आवश्यक है और पिछले दो में किसी एक (रूढ़ि या प्रयोजन) का होना आवश्यक है। इसी बात को सूचित करने के लिए कारिका में 'वा' शब्द के द्वारा इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। यद्यपि प्रयोजन लक्षणा के अनन्तर व्यञ्जना से ज्ञात होता है, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिक स्थल में शैत्य, पावनत्वादि के अतिशय रूप प्रयोजन का लक्षणा के पूर्व ज्ञान हो जाना सम्भव नहीं, क्योंकि वह लक्षणा का फल है और फल कारण से पीछे होता है, अतः प्रयोजन-ज्ञान को रूढ़ि की तरह

---

१. सा०द० २.५।

लक्षणा का कारण नहीं मान सकते, तथापि अवाचक पद का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन के लिए किया जाता है' इस सामान्यरूप से प्रयोजन-ज्ञान पहले रहता है, वही लक्षणा का कारण होता है और शैत्यातिशय आदि विशेष रूप से उसका ज्ञान लक्षणा के अनन्तर ही होता है।

मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की भी उपस्थिति यदि लक्षणा के द्वारा मानी जाय, तो गङ्गा शब्द से यमुना का तट भी उपस्थित होने लगे, अतएव मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान भी लक्षणा का कारण माना जाता है। इस कारिका में अन्य शब्द मुख्यार्थ से अन्य का बोधक नहीं है। ऐसा मानने से उपादान लक्षणा में यह सामान्य लक्षण अव्याप्त रहेगा, क्योंकि वहाँ लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी लगा रहता है। इस कारण यहाँ अन्य शब्द का अर्थ है – 'मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्न'। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादिक उपादान लक्षणा में मुख्यार्थतावच्छेदक है काकत्व, उससे अन्य धर्म है दध्युपघातकत्व, तदवच्छिन्न में काक शब्द की लक्षणा है। इसी प्रकार 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इस उदाहरण में मुख्यतार्थतावच्छेदक रामत्व है, तदतिरिक्त धर्म है दुःखसहिष्णुत्व, तदवच्छिन्न में राम शब्द की लक्षणा है।

'कलिङ्ग साहसिकः' इस वाक्य में कलिङ्ग शब्द का अर्थ है देशविशेष और साहसिक का अर्थ है साहसी, परन्तु साहस जड़ पदार्थों में नहीं रह सकता, अतः देश के वाचक कलिङ्ग शब्द का 'साहसिक' के साथ अभेद सम्बन्ध होना असम्भव है, अतः यह शब्द अन्वय में अपने मुख्यार्थ (देश) के बाधित होने के कारण संयोग सम्बन्ध से उस देश से सम्बन्धी पुरुष का लक्षणा से बोधन होता है। इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गा पद का मुख्य अर्थ है प्रवाहविशेष। उसके ऊपर घोष का होना असम्भव है, अतः गङ्गा शब्द, मुख्यार्थ का अन्वय बाधित होने के कारण, सामीप्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी तट का लक्षणा से बोधन कराता है।

मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की बोधिका अभिधा-शक्ति होती है और अन्य सबकी अपेक्षा सबसे पहिले अभिधा शक्ति ही अपने अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ का बोध कराती है, परन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थ का वाक्यार्थ के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन

के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। उस अन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ और उसकी बाधिका शक्ति को लक्षणा शक्ति कहा जाता है। लक्षणाशक्ति के व्यापार के लिए १. मुख्यार्थबाध, २. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा ३. रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतर इन तीन कारणों की आवश्यकता होती है। इसी अभिप्राय से लक्षणा का लक्षण करते हुए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट लिखते हैं –

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया[१]।।

इस कारिका में 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थल पर जो 'यत्' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसकी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्' यत् पद यया इस अर्थ में करण विभक्ति के लोप द्वारा बना हुआ तृतीयान्त अव्यय पद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' जिस शब्दशक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार यत् यह क्रिया विशेषण है, 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते' जो प्रतिपादित होता है, वह लक्षणा है। इन दोनों ही व्याख्याओं में और विशेषकर दूसरी व्याख्या में लक्ष्यते यह पद णिजन्त से बना हुआ आख्यात का रूप है। णिच् प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार होता है, 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ 'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' सिद्ध होता है। परन्तु यह व्याख्या अति क्लिष्ट हो जाती है। इसलिए यत् पद को यया के अर्थ में लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय मानना ही अधिक अच्छा है।

कुछ लोगों ने 'यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकार की व्याख्या भी की है। परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है; क्योंकि प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है, अपितु शब्द की शक्ति लक्षणा है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में 'अभिधेयाविनाभूत-प्रतीतिर्लक्षणोच्यते' यह लिखा है। उसी के आधार पर इन व्याख्याकारों ने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकार की व्याख्या कर दी है।

---

१. काव्यप्रकाश, २.९।

परन्तु एक तो वह काव्यप्रकाशकार का सिद्धान्तमत नहीं, अपितु मीमांसकों का मत है, इसलिए उसके आधार पर व्याख्या उचित नहीं है। काव्यप्रकाशकार को शब्दव्यापार को ही लक्षणा मानना अभिमत है, अतः 'यया' अर्थ में ही 'यत्' अव्यय का प्रयोग समझना चाहिए। दूसरे, वहाँ भी 'प्रतीति' पद का अर्थ ज्ञान नहीं, अपितु प्रतीति का कारणभूत व्यापार किया जाता है। करण में क्तिन् प्रत्यय करके 'प्रतीयतेऽनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह होता है।

लक्षणा के भेद

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का निरूपण किया है। वे कहते हैं–

लक्षणा तेन षड्विधा[1]।

१. उपादान लक्षणा – जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है और स्वयं भी बना रहता है, उसको उपादान लक्षणा कहते हैं। उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान या ग्रहण रहता है, इसलिए उसकी उपादान लक्षणा यह अन्वर्थसंज्ञा है। जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या 'यष्टयः प्रविशन्ति' आदि उदाहरणों में 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द भाला और लाठी रूप अचेतन अर्थों के वाचक हैं, उनमें प्रवेश-क्रिया का अन्वय नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बोध होने पर कुन्त आदि शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद या पदार्थ का आक्षेप कर लेते हैं। इस प्रकार कुन्त शब्द 'कुन्तधारी पुरुष' का बोधक हो जाता है और उसका अन्वय होने में जो बाधा थी, वह दूर हो जाती है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष घुसे आ रहे हैं' यह हो जाता है। कुन्तधारी पुरुषों का बाहुल्य सूचन ही लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण है। उपादानलक्षणा को ही अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं।

२. लक्षणलक्षणा – जहाँ वाक्य का कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस

---

१. काव्यप्रकाश २.१२।

उदाहरण में वाक्य में प्रयुक्त घोष पद के आधेयत्व रूप से अन्वय का उपादान करने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जलप्रवाह' रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से 'तट' रूप अन्य अर्थ को बोधित करता है, अतएव यह प्रयोजनवती 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण है। लक्षणा के इन्हीं दोनों भेदों को काव्यप्रकाशकार निम्नलिखित पंक्ति से दिखलाते हैं –

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा[१]।।

इससे यह स्पष्ट होता है कि शुद्धालक्षणा ही दो प्रकार की कही गयी है। गौणी के ये भेद नहीं होते हैं। इसी लक्षणा को जहत्स्वार्था भी कहते हैं।

३. शुद्धा सारोपा – जहाँ सादृश से भिन्न कार्यकारणभाव आदि के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ 'शुद्धा सारोपा' होती है। जैसे 'आयुर्घृतम्' इस उदाहरण में आयु के कारणभूत घृत के लिए आयु शब्द का प्रयोग किया गया है, यह शुद्धा सारोपा का उदाहरण है।

४. शुद्धा साध्यवसाना – जहाँ सादृश्य से भिन्न कार्यकारणभाव आदि के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग हो, परन्तु विषयी अर्थात् आरोप्यमाण, उपमान के द्वारा दूसरे अर्थात् आरोप विषय रूप उपमेय का अपने भीतर अन्तर्भाव कर लिये जाने पर वह शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा हो जाती है। जैसे 'आयुरेवेदम्' यहाँ आरोप विषय घृत के शब्दतः उपात्त न होने अर्थात् अपह्नुत स्वरूप होने से शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होती है। यद्यपि 'आयुरेवेदम्' में 'इदम्' सर्वनाम से आरोप विषय का संकेत हो ही जाता है। अतः वह साध्यवसाना का ठीक उदाहरण नहीं बनता है। इसलिए 'आयुः पिबामि' यह अधिक अच्छा उदाहरण है।

५. गौणी सारोपा – जहाँ अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग सादृश्य के कारण होता है, परन्तु आरोप्यमाण या उपमान तथा आरोप विषय अर्थात् उपमेय दोनों शब्दतः कथित होते हैं, वहाँ गौणी सारोपा लक्षणा होती है। जैसे 'गौर्वाहीकः' में वाहीकदेशवासी पुरुष में गौ के सदृश जाड्य,

---

१. काव्यप्रकाश २.१०।

मान्द्य आदि गुणों का योग होने से गौ शब्द का प्रयोग किया गया है। यह वाहीक के लिए गौ शब्द का प्रयोग गुणों से सादृश्य के कारण होने से गौणी सारोपा का उदाहरण बनता है।

६. गौणी साध्यवसाना – जहाँ अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग सादृश्य के कारण होता है, परन्तु विषयी अर्थात् आरोप्यमाण के द्वारा विषय रूप उपमेय का अन्तर्भाव कर लिया जाता है, वहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे – 'गौरयम्' में आरोप विषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौ के द्वारा निगीर्ण हो गया है। इसलिए वह साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने से गौणी साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण बनता है। 'गौरयम्' में 'अयम्' पद से आरोपविषय का संकेत मिल जाने से वह साध्यवसाना का ठीक उदाहरण नहीं बनता है। उसके स्थान पर 'गौर्जल्पति' उदाहरण अधिक अच्छा है। उपरोक्त चारों भेदों को दिखाने के लिए आचार्य मम्मट पहले सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद दिखलाते हैं। यथा –

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका[१]।।

पुनः इन सारोपा और साध्यवसाना के शुद्धा और गौणी दो भेद बतलाते हैं। यथा –

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणी शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा[२]।।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का निरूपण किया है। मम्मट ने इस प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ का बहुत उपयोग किया है; इसकी पुष्टि मम्मट की 'लक्षणा तेन षड्विधा' इस पंक्ति से भी होती है। लक्षणा का यह छः प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है। मम्मट ने भी उसी का अनुवाद करके यहाँ 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह कहा है।

---

१. काव्यप्रकाश २.११।

२. काव्यप्रकाश २.१२।

विश्वनाथ के मत में लक्षणा के सोलह भेद

साहित्यदर्पणकार ने 'तेन षोडशभेदिता' लिखकर यहाँ तक ही लक्षणा के छः भेदों के स्थान पर सोलह भेद करके दिखला दिये हैं। वे सोलह भेद इस प्रकार होते हैं – पहले रूढ़ि लक्षणा तथा प्रयोजनवती लक्षणा ये दो भेद हुए। पुनः उन दोनों के उपादान लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के भेद से दो दो भेद होकर चार भेद हुए। फिर इन चारों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप से दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए। पुनः उन आठों भेदों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने यहाँ तक लक्षणा के सोलह भेद कर दिये हैं। मम्मट एवं मुकुलभट्ट ने यहाँ तक केवल छः भेद ही किये हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि मम्मट और मुकुल भट्ट दोनों ने उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा ये दोनों भेद केवल शुद्धा के माने हैं; गौणी के नहीं। विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं। उनको मम्मट के छः भेदों में मिला देने से आठ भेद बन जाते हैं। विश्वनाथ ने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजन से दो भेद करके सोलह भेद बनाये हैं। मम्मट और मुकुल भट्ट ने ये भेद नहीं किये हैं। इसलिए उनके यहाँ भेदों की संख्या केवल छः रह गयी है।

व्यञ्जनास्वरूप-निदर्शन

अपना अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द तथा अर्थ आदि में रहने वाली वृत्ति (शक्ति) व्यञ्जना कहलाती है। शब्द– **'शब्द-बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'** अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म इनमें विराम के अनन्तर फिर व्यापार नहीं होता। जैसे देवदत्त ने किसी को थप्पड़ मारा – अब थप्पड़ लगने के बाद लाख यत्न करने पर भी वह थप्पड़ बेलगा नहीं किया जा सकता, उस विरतव्यापार (क्रिया) को फिर कोई वापिस नहीं कर सकता। एवं रस्सी को देखकर किसी को सर्पबुद्धि हो गयी और वह डर गया, फिर चाहे कुछ यत्न किया जाय, पहला ज्ञान निकल नहीं सकता। यह दूसरी बात है कि रस्सी का ज्ञान होने पर पहले ज्ञान की असत्यता प्रतीत हो जाय और अपने डर जाने पर हँसी आये, परन्तु उसे पहले ज्ञान में और कोई व्यापार नहीं हो सकता – वह

नहीं निकाला जा सकता। इसी प्रकार शब्द भी एक बार ही व्यापार करता है। अतएव अपना-अपना अर्थ उपस्थित करके अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक शब्द की तीन वृत्तियों (व्यापारों) के उपक्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ बोधित होता है, वह शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्ग आदि निष्ठ शक्ति व्यञ्जना कहलाती है और वही व्यञ्जना ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि नामों से भी व्यवहृत होती है। इसीलिए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है–

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च[१]।।

तात्पर्य यह है कि जैसे पदार्थोपस्थिति के अनन्तर अभिधा के विरत होने पर 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों पर तट आदि अर्थ का बोध करने के लिए दूसरी शक्ति लक्षणा माननी पड़ती है, उसी अभिधा को फिर से नहीं उठाया जा सकता, इसी प्रकार जब यह पूर्वोक्त तीनों शक्तियाँ अभिधेय, लक्ष्य एवं तात्पर्यार्थ का बोधन करके विरत हो चुकीं, तो उसके अनन्तर प्रतीत होने वाला अर्थ इन तीनों में से किसी द्वारा उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापारभाव' यह नियम है। उक्त अर्थ को बोधन करने के लिए कोई चौथी वृत्ति अवश्य माननी पड़ेगी, उसी को व्यञ्जना कहते हैं।

प्रयोजनविशेष का प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा वृत्ति का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अन्य किसी साधन या उपाय से उस प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अपितु उसी शब्द से होती है और उसके बोधन में शब्द का व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं है। इसी अभिप्राय से आचार्य मम्मट ने कहा है –

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया[२]।।

---

१. सा०द० २-१२-१३।

२. काव्यप्रकाश २-१४-१५।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में जो शैत्य पावनत्व आदि धर्म तट में प्रतीत होते हैं, उनमें गङ्गा आदि शब्दों का संकेतग्रह नहीं है, अतः अभिधा से उनका ज्ञान नहीं हो सकता है। मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा रूढ़ि एवं प्रयोजन में से कोई एक – ये तीन लक्षणा के कारण हैं। वे तीनों यहाँ नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रयोजन सामग्री के न होने से प्रयोजन का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रयोजन को मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ मानना सम्भव नहीं है। फिर भी यदि व्यञ्जनाविरोधी प्रयोजन को लक्ष्यार्थ ही मानना चाहें और उसके लिए प्रयोजन में भी कोई अन्य प्रयोजनसिद्ध करने का प्रयत्न करें, तो भी यह उचित नहीं होगा, क्योंकि उस दशा में वह दूसरा प्रयोजन भी लक्ष्य होगा, इसलिए उसके लिए तीसरे प्रयोजन की आवश्यकता होगी। फिर उस तीसरे प्रयोजन के लिए चौथे आदि प्रयोजनों की आवश्यकता होने से 'अनवस्था दोष' होगा। जो अनवस्था दोष मूल का ही नाश कर देने वाला होता है। इसलिए अनवस्थाभय से भी प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इसी बात को आचार्य मम्मट कहते हैं –

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी[१]।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रयोजन का बोध लक्षणा से नहीं हो सकता है; इसलिए उस प्रयोजन के बोधन के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानना आवश्यक है। परन्तु विशिष्ट लक्षणा मानने वाला एक दूसरा पक्ष उपस्थापित किया जाता है। उसका अभिप्राय यह है कि लक्षणा केवल तट का नहीं, अपितु शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनविशिष्ट तट का बोध कराती है, इसलिए उसके बोधन के लिए लक्षणामूला व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य मम्मट ने इस विशिष्ट लक्षणावाद के खण्डन के लिए जो युक्ति दी है, उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान का विषय तथा ज्ञान का फल, ये दोनों अलग-अलग होते हैं। उनको एक साथ मिलाया नहीं जा सकता है। लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट आदि है और उसका फल शैत्यपावनात्वादि का बोध है। इसलिए इन दोनों को एक साथ न मिलाकर अलग-अलग ही उनकी प्रतीति माननी होगी; क्योंकि विषय तथा फल में कार्यकारण भाव होता है। ज्ञान का विषय ज्ञान का कारण

---

१. काव्यप्रकाश २.१७।

होता है और ज्ञान का फल ज्ञान का कार्य होता है। इसलिए उनकी समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए कहा गया है कि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनों अलग-अलग होते हैं –

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्[१]।

अतः लक्षणाजन्य ज्ञान के विषय तटादि और उसके फल पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि शैत्य-पावनत्वादि की स्थिति में भी अलग-अलग है। उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस कारण प्रयोजन के सहित तट आदि को लक्ष्यार्थ मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसलिए तट आदि रूप लक्ष्यार्थ में जो पावनत्व आदि विशेष प्रयोजनभूत धर्म प्रतीत होते हैं, वे अभिधा, तात्पर्या तथा लक्षणा से भिन्न व्यापार से गम्य हैं और व्यञ्जना, ध्वनन, द्योतन आदि नामों से वाच्य वह व्यञ्जना व्यापार अवश्य मानना चाहिए, उसके बिना प्रयोजन आदि का बोध नहीं हो सकता है।

व्यञ्जना के भेद

यद्यपि व्यञ्जना अनेक प्रकार की होती है, तथापि मुख्य रूप से शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना भेद से दो प्रकार की हो जाती है। उसमें शाब्दी व्यञ्जना भी दो प्रकार की होती है – अभिधामूला तथा लक्षणामूला। लक्षणा के प्रसङ्ग में प्रयोजन के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता अनुभव में आयी, इसलिए लक्षणामूला व्यञ्जना का निरूपण किया गया है। शाब्दी व्यञ्जना के दूसरे भेद अभिधामूला व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है।

अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में संयोग आदि के द्वारा नियन्त्रण हो जाने पर भी उससे जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उस प्रतीति को कराने वाला शब्दव्यापार अभिधामूला व्यञ्जना नाम से जाना जाता है। अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोग आदि का क्या अभिप्राय है। इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए व्याकरणानुगत सिद्धान्त के अनुसार भर्तृहरिप्रणीत व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय से दो कारिकाएँ उद्धृत की जाती हैं। जो निम्नलिखित हैं –

---

१. का०प्र० २.१८।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग आदि रूप व्यक्ति तथा स्वर आदि अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं। अनेकार्थक शब्दों को एक अर्थ में नियन्त्रण करने के जो ये १४ कारण दिखलाये गये हैं, उनको उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है।

१. **संयोग** – अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे –

यमाऽनिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।।

परन्तु शंख, चक्र का सम्बन्ध केवल विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः 'सशङ्खचक्रो हैरिः' यह कहने पर शंख चक्र के संयोग से हरिपद विष्णु का ही बोधन करता है।

२. **विप्रयोग** – विप्रयोग का अर्थ विश्लेष है और विश्लेष वहीं होता है, जहाँ संयोग हो, अतः 'अशङ्खचक्रो हरिः' कहने पर भी हरिपद विप्रयोग के कारण विष्णु को ही कहता है।

३. **साहचर्य** – साथ रहने का नाम साहचर्य है। यद्यपि भीमपद का अर्थ भयानक है और अर्जुन का अर्थ एक जंगली वृक्ष है, परन्तु भीमार्जुनौ कहने से दोनों सहचारी पाण्डवों का ही बोध होता है।

४. **विरोधिता** – प्रसिद्ध वैर का नाम विरोधिता है। 'कर्णार्जुनौ' कहने पर प्रसिद्ध विरोध के कारण 'कर्ण' शब्द से सूतपुत्र महावीर कर्ण का ग्रहण होता है, कान का नहीं।

५. **अर्थ** – प्रयोजन को अर्थ कहते हैं और चतुर्थी विभक्ति आदि से

उसका ज्ञान होता है। यद्यपि 'स्थाणु' पद का अर्थ खम्भा और शिव दोनों है, परन्तु 'स्थाणुं वन्दे भवच्छिदे' इत्यादिक उदाहरणों में संसारोच्छेद रूप अर्थ शिवजी से ही सिद्ध होता है, खम्भे से नहीं, अतः स्थाणुपद का अर्थ यहाँ शिव ही है।

६. प्रकरण – वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता को प्रकरण कहते हैं। 'सर्वं जानाति देवः' यहाँ देव पद का अर्थ प्रकरणगत राजा आदि है, अप्रकृत नहीं।

७. लिङ्ग – अनेक अर्थों में से किसी एक ही के साथ रहने वाले और साक्षात् शब्द से बोध्य धर्म का नाम लिङ्ग है। यद्यपि मकरध्वज का अर्थ समुद्र भी है, परन्तु 'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य में इस पद से कामदेव का ही ग्रहण है, क्योंकि कोपरूप लिङ्ग समुद्र में नहीं रहता।

८. अन्यशब्दसन्निधि – अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ रहने वाले पदार्थ के वाचक शब्द का सामीप्य अन्यशब्दसन्निधि से अभीष्ट है। यद्यपि पुर का अर्थ देह भी है, 'पुरं देहेऽपि दृश्यते' – परन्तु 'देव' पद के सन्निधान से पुरारि का अर्थ शङ्कर ही है, देह आदि नहीं।

९. सामर्थ्य – मधु पद दैत्य, वसन्त, मद्य आदि अनेक अर्थों का वाचक है, परन्तु कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त ऋतु में ही है, अतः 'मधुना मत्तः पिकः' इस वाक्य में मधुपद का अर्थ वसन्त ही है।

१०. औचित्य – प्रियतमा के कुपित हो जाने के कारण खिन्न पुरुष के प्रति किसी मित्र या सखी की उक्ति है – 'पातु वो दायितामुखम्' यहाँ औचित्य के कारण मुख पद का अर्थ सामुख्य (अनुकूलता) है। प्रतिकूलता से खिन्न पुरुष का खेद अनुकूलता ही दूर कर सकती है, अतः उसी का ग्रहण उचित है। कामार्त पुरुष के परित्राण की योग्यता दयिता के सामुख्य (आनुकूल्य) में ही है, केवल मुख में नहीं। मुख यदि कुपित हो, तब तो उलटा भयावह है।

११. देश – स्थानविशेष को देश कहते हैं। यद्यपि चन्द्र का अर्थ कपूर आदि भी है, परन्तु 'विभाति गगने चन्द्रः' यहाँ चन्द्रमा का ही बोध होता है। क्योंकि आकाश (देश) में वही रहता है।

१२. काल – समय विशेष को काल कहते हैं। 'निशि चित्रभानुः' यहाँ

चित्रभानु का अर्थ अग्नि है, सूर्य नहीं। रात्रि काल में वही रहता है।

१३. व्यक्ति – व्यक्ति का अर्थ स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग आदि व्यक्ति है। 'भाति रथाङ्गम्' में नपुंसकत्व के कारण पहिए का ही ग्रहण होता है, चक्रवाक का नहीं।

१४. स्वर – स्वर उदात्त आदिक वेद में ही विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं। जैसे 'वृत्रशत्रुः' यहाँ पूर्वपदप्रकृतिस्वर बहुव्रीहि का और अन्तोदात्त तत्पुरुष समास का निर्णायक होता है, परन्तु काव्य में इससे अर्थ का निर्णय नहीं होता। अतः इसका उदाहरण नहीं दिया गया है। परन्तु कुछ लोग इसको सहन नहीं करते। वे कहते हैं कि काकु आदि कण्ठस्वर काव्य में विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है और उदात्त आदि स्वर भी भरतमुनि के कथनानुसार शृङ्गारादि का प्रत्यायक होता ही है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने शृङ्गार और हास्य में स्वरितोदात्त तथा करुण आदि में अनुदात्त स्वरित करना चाहिए – इत्यादि स्वरनियम लिखा है। इसलिए इसका भी उदाहरण देना ही चाहिए।

परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि काकु आदि अथवा भरतोक्त उदात्तादि स्वर केवल व्यङ्ग्य अर्थ की ही विशेषता बतलाते हैं। इस प्रकरण में कहे गये अनेकार्थक शब्द के किसी एक अर्थ को निर्णीत करना इनका काम नहीं है। ये स्वर अनेकार्थक शब्द को किसी एक अर्थ में नियन्त्रित नहीं करते।

इस प्रकार संयोग आदि के द्वारा एक अर्थ के नियन्त्रित होने पर भी शब्द के अन्य अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है, उसे अभिधा मूलव्यञ्जना कहते हैं। अभिधामूल व्यञ्जना का उदाहरण मम्मट प्रस्तुत करते हैं –

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।

इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की जा रही है। इसलिए उसमें जितने अनेकार्थक शब्द आये हैं, उन सबका प्रकरण से एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। फिर भी उसमें हाथीपरक दूसरे अर्थ और उसके साथ उपमानोपमेयभाव की भी प्रतीति होती है। राजा के सारे विशेषण हाथी के पक्ष में भी लगते हैं। वह दूसरी प्रतीति अभिधामूल व्यञ्जना से ही होती है।

आर्थी व्यञ्जना

वक्ता (कहने वाला) बोद्धव्य (जिससे बात कही जाय) वाक्य, अन्य का सन्निधान, वाच्य अर्थ, प्रस्ताव (प्रकरण) देश, काल, काकु (गले की विशेष ध्वनि, तथा चेष्टा आदि की विशेषता के कारण जो शब्दशक्ति अन्य अर्थ का बोधन करती है, उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। इस बात को साहित्यदर्पणकार ने कहा है –

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽर्थसम्भवा।।

वक्ता, वाक्य, प्रकरण और देश काल की विशेषता के कारण उत्पन्न हुई व्यञ्जना के उदाहरण में साहित्यदर्पणकार अपना ही बनाया पद्य लिखते हैं –

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-
र्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य।।

नायिका अपनी सखी से कहती है – वसन्तऋतु का उन्मादक समय है और फिर यह कामदेव कुपित है, रतिश्रम को हरने वाला धीर समीर मन्द-मन्द चल रहा है। अशोक के कुञ्जों से रमणीय, क्रीड़ा के योग्य यह छोटा-सा वन है और पति दूर है। हे सखी! बता तो सही, अब क्या करना चाहिए। इस पद्य में 'यहाँ शीघ्र प्रच्छन्नकामुक को तू भेज' यह बात व्यञ्जना के द्वारा सूचित हो रही है। अन्य का उदाहरण ग्रन्थों में देखना चाहिए।

तात्पर्यास्वरूप-निदर्शन

वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने अर्थविवेचन के प्रसङ्ग में मीमांसकों के सिद्धान्त को प्रदर्शित करने के लिए निम्न पंक्ति विशेषरूप से लिखी है –

'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'।

अर्थात् किन्हीं कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के मत में तीन प्रकार के वाच्य आदि अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का तात्पर्यार्थ भी होता है। उस तात्पर्यार्थ को प्रतिपादन करने वाली चौथी वृत्ति तात्पर्या नाम की भी स्वीकार करनी होगी। मीमांसकों में वाक्यार्थ विषय में कई मत पाये जाते हैं, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य हैं। यहाँ उनके अभिप्राय को जानना आवश्यक प्रतीत होता है, अतः उन दोनों मतों का सारांश यहाँ देना असंगत नहीं है।

अभिहितान्वयवाद

प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद' के मानने वाले हैं। उनका अभिप्राय है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थमर्यादा से उपस्थित होता है। इसलिए पहिले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होते हैं, बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिए अभिहित्त पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिलभट्ट आदि का यह सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद कहा जाता है। इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिए उसको तात्पर्यार्थ कहते हैं, वही वाक्यार्थ कहलाता है और उसकी बोधकशक्ति को 'तात्पर्या शक्ति' भी कहा जाता है, जो पहले बतलायी हुई तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी शक्ति मानी जा सकती है। परन्तु मीमांसक व्यञ्जना शक्ति नहीं मानते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि से तो यह चौथी नहीं, तीसरी ही शक्ति है।

उनका मत है कि पदार्थों का आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के बल से समन्वय परस्पर सम्बन्ध होने से पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ न होने पर भी तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होने के कारण विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है।

इस अनुच्छेद में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये नये शब्द हैं, इसलिए इनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। आकांक्षा वस्तुतः श्रोता की जिज्ञासारूप है। एक पद को सुनने के बाद वाक्य के अन्य

पदों के सुने बिना पूरे अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए वाक्य के अगले पद के सुनने की इच्छा श्रोता के मन में उत्पन्न होती है। इसी का नाम आकांक्षा है। जिन पदों के सुनने पर इस प्रकार की आकांक्षा होती है, उनके समुदाय को ही वाक्य कहते हैं। आकांक्षा से रहित 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि यों ही अनेक पद बोल देने से वाक्य नहीं बनता है। दूसरे योग्यता पद का अभिप्राय पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव है। जहाँ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा होती है, उस पद-समुदाय को वाक्य नहीं कहा जा सकता और न उससे वाक्यार्थ बोध होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' इस पद-समुदाय में योग्यता नहीं है अर्थात् अग्नि से सिंचाई नहीं की जा सकती है। इसलिए वह्नि तथा सिंचन के सम्बन्ध में बाधा होने से यहाँ योग्यता का अभाव है। इस कारण इसको वाक्य नहीं कहा जा सकता है। तीसरा 'सन्निधि' पद है, उसका अर्थ एक ही पुरुष द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण करना है। यदि एक ही व्यक्ति द्वारा घंटे-घंटे भर बाद में पदों का अलग-अलग उच्चारण किया जाय, तो वे सब मिलकर वाक्य नहीं कहला सकते हैं; क्योंकि उनमें आसक्ति या सन्निधि नहीं है। इसलिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त जो पदसमुदाय होता है, वही वाक्य कहलाता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। इसलिए इस मत में पहले पदों से केवल अनन्वित पदार्थ उपस्थित होता है, उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से 'तात्पर्यशक्ति' के द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थों का बोध होता है।

अन्विताभिधानवाद

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि हैं। इनका कहना है कि पहले केवल पदार्थ अभिहित होते हैं और बाद में उनका अन्वय होता हो, यह बात नहीं है, बल्कि पहले से 'अन्वित' पदार्थों का ही अभिधा से बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्त का नाम अन्विताभिधानवाद रखा गया है। इस मत में पदार्थों का अन्वय पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण, उसके कराने के लिए 'तात्पर्याशक्ति' की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभाकर अपने इस मत के समर्थन के लिए यह युक्ति देते हैं कि पदों से जो पदार्थों की प्रतीति हाती है, वह संकेतग्रह के बाद ही होती है और उस संकेत का ग्रहण व्यवहार से होता है। जैसे छोटा बालक है, उसको ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्द का क्या अर्थ है, कौन सा शब्द किस अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसी को आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो'। बालक न तो कलम को जानता हैं और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और भाई के व्यापार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समष्टि वाक्य के समष्टिभूत अर्थ का एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दावात उठा दो'। बालक फिर इस वाक्य को सुनता है और भाई को तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दावात, उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से संकेतग्रह होता है। यह संकेतग्रह केवल पदार्थ में नहीं, अपितु किसी के साथ अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसलिए जब केवल अनन्वित पदार्थ में संकेतग्रह नहीं होता है, तो केवल या अनन्वित पदार्थ की उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव अन्वित का ही अभिधान अर्थात् अभिधा से बोधन होने से अन्विताभिधान मानना ही उचित है। अभिहितान्वय का मानना उचित नहीं है, यह प्रभाकर के सिद्धान्त का सार है। अन्विताभिधानवाद के इस सिद्धान्त को आचार्य मम्मट इस प्रकार दिखलाते हैं – **वाच्य एव वाक्यार्थः इति अन्विताभिधानवादिनः**। अर्थात् पदों के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है, इस लिए पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। इसके लिए तात्पर्याशक्ति अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अन्विताभिधानवादी प्रभाकर आदि का मत है।

ध्वनि–विमर्श

व्याकरणशास्त्र में ध्वनि का एक विशिष्ट अर्थ होता है और उसी अर्थ की समता के कारण इस शब्द का व्यापक व्यवहार काव्यशास्त्र में किया जाता है। उच्चारित शब्द को ध्वनि कहते हैं। पानी लाने का इच्छुक व्यक्ति कहता है – 'घटम् आनय' (घड़ा लाओ)। यहाँ जिस घट शब्द का हम उच्चारण करते हैं,

वह ध्वनि कहलाता है। ध्वनि की सत्ता क्षणिक होती है। वह एक क्षण में उत्पन्न होता और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में वह अवसर ही नहीं आता, जब वर्णों का समुच्चय हो और वे मिलकर सामूहिक रूप से किसी अर्थ को द्योतित करें।

उदाहरणार्थ 'घट' शब्द पर दृष्टिपात करें। इस शब्द का प्रथम अक्षर 'घ' जब हमें सुनाई पड़ता है, तब 'ट' वर्ण भविष्य के गर्भ में ही छिपा रहता है। उधर 'ट' के श्रवण होने के समय 'घ' उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में विलीन हुआ रहता है। इस प्रकार वह समय ही नहीं आता, जब घ और ट समुच्चरित होकर एक साथ मिलकर किसी अर्थ का प्रकाश करें। इस त्रुटि को दूर करने के लिए वैयाकरणों ने एक नित्य शब्द की कल्पना की है, जो सदा विद्यमान रहता है और जो ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसी नित्य शब्द से अर्थ फूटता है और इसी का नाम स्फोट है – स्फुटति अर्थः, अस्माद् इति स्फोटः। इसके लिए अनित्य ध्वनि का काम इतना ही है कि वह स्फोट की अभिव्यक्ति मात्र कर देती है। इस प्रकार ध्वनि से अर्थ की उत्पत्ति न होने पर भी स्फोट के प्रकट करने के लिए उसकी महती आवश्यकता होती है। इस रीति से ध्वनि का स्वरूप हुआ अभिव्यञ्जक शब्द।

आलङ्कारिकों ने इसी ध्वनि शब्द को ग्रहण कर अपने शास्त्र में प्रयुक्त किया, परन्तु उन्होंने उसके अर्थ को विस्तृत कर दिया। जहाँ ध्वनि मूलतः अभिव्यञ्जक शब्द के ही लिए सीमित थी, वहाँ अब वह अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त की जाने लगी। इस प्रकार काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द केवल अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत अभिव्यञ्जक अर्थ के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। यही बात आचार्य मम्मट इस प्रकार प्रकट करते हैं – **बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्य-व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य**[1]।

इस प्रकार 'ध्वनि' शब्द के लिए साहित्यशास्त्र व्याकरणशास्त्र का अधमर्ण है।

---

१. का०प्र० १.४ पर वृत्ति।

ध्वनि का महत्त्व

ध्वनि का उपयोग काव्य की सृष्टि में बहुत ही अधिक है। ध्वनि की सत्ता बहुत ही प्राचीन है। यह उतनी ही प्राचीन है, जितनी काव्यकला। ध्वनि का आश्रय लेने से कवियों की प्रतिभा अनन्तरूप में विकसित होती है। प्राचीन अर्थ को ग्रहण कर लिखी गयी कविता ध्वनि से सम्पन्न होने पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करती है। काव्य में कथन प्रकार का ही विशेष महत्त्व रहता है। वर्णनीय वस्तु की एकता होने पर भी यदि उसके वर्णन प्रकार में विभिन्नता तथा नवीनता है, तब वह वस्तु हमारे लिए नवीन तथा चमत्कार युक्त प्रतीत होती है। वाटिका के वृक्षों में मूलतः किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है। वे ही पुराने वृक्ष होते हैं, परन्तु वसन्त ऋतु के प्रादुर्भाव से वृक्षों में अपूर्वता दिखने लगती है। ध्वनि से युक्त काव्य की भी यही दशा है। अर्थ की प्राचीनता होने पर भी ध्वनि का संयोग उसमें नवीन जीवन फूँक देता है तथा नयी शक्ति प्रदान करता है। ध्वनि के कारण अर्थों में अपूर्वता तथा नवीनता अवश्यमेव आ जाती है। एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होने के कारण नया तथा अपूर्व जान पड़ता है। इसलिए कवि लोग ध्वनि का आश्रय लिया करते हैं।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वे ही रूखे – सूखे पेड़ हैं; वही वृक्षों से रहित शाखायें हैं, वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब पुराना है; परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन हो जाता है। वृक्षों में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं; शाखायें हरी भरी सी दिखाई देती हैं। मञ्जरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। वृक्षों में यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने। उसी भाँति कवि भी रस के द्वारा चमत्कार पैदा कर पुराने भावों में नवीनता भर देता है। कहीं शब्द को बदल देता है, तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। वह भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। ध्वनि का यही चमत्कारी फल होता है –

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः, काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः[१]।।

---

१. ध्वन्यालोक, ४.१०८।

ध्वनि के विषय में प्राचीन मत

ध्वनि की शास्त्रीय मीमांसा करने का श्रेय आनन्दवर्धनाचार्य को है। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर हम कह सकते हैं कि ध्वनि के विषय में प्राचीन काल में तीन विशिष्ट मत थे –

१. अभाववादी

२. भक्तिवादी

३. अनिर्वचनीयवादी।

अभाववादी का मत

अभाववादी आचार्यों के मत में ध्वनि की सत्ता मान्य नहीं है, परन्तु विभिन्न आचार्यों ने इस अभाव को सिद्ध करने के लिए भिन्न–भिन्न युक्तियाँ दी हैं और इस मत में अनेक अवान्तर भेद हैं। इसलिए अभाववादी आचार्यों के भी तीन अवान्तर पक्ष हैं –

(क) प्रथम पक्ष का कहना है कि काव्य के गुणाधायक पदार्थों का विवेचन प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थों में किया गया है। शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है। शब्द अर्थ की चारुता दो प्रकार से होती है – १. स्वरूप मात्र से रहने वाली, तथा २. संघटना में रहने वाली। शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालङ्कार के द्वारा होती है और संघटनाश्रित चारुता शब्द–गुणों के द्वारा होती है। इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता उपमा आदि अलङ्कारों के द्वारा होती है और संघटनाश्रित चारुता अर्थगुणों के द्वारा होती है। वृत्तियों तथा रीतियों के द्वारा भी काव्य में चारुता उत्पन्न होती है, परन्तु ये वृत्तियाँ और रीतियाँ भी गुणालङ्कार से भिन्न नहीं होतीं। वृत्ति अनुप्रास का ही भेद मानी गयी है। वृत्तियाँ तीन होती हैं – १. परुषा, २. उपनागरिका और ३. कोमला। ये तीनों ही अनुप्रास के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार गौड़ी, वैदर्भी तथा पांचाली नामक रीतियाँ भी माधुर्य आदि गुणों का ही समुदाय रूप हैं। ऐसी दशा में वृत्ति और रीति गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं हैं। ये ही काव्य में चमत्कार उत्पादक तत्त्व हैं। तब ध्वनि नामक पदार्थ वस्तुतः असत्य है।

(ख) अभाववादी का दूसरा पक्ष प्रस्थानवादी कहा जा सकता है। यदि

कोई कहे कि ध्वनि शब्द अर्थ का स्वभाव भले न हो और वह शब्द अर्थ की चारुता का कारण भी न हो, प्रत्युत गुण और अलङ्कार से अतिरिक्त ही ध्वनि की सत्ता सिद्ध होती है; तो इस पक्ष का कथन इस प्रकार होगा। काव्य सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाले शब्द और अर्थ के युगल रूप से ही निर्मित होता है। काव्य की एक निश्चित परम्परा है। सकल सहृदयों के द्वारा निर्दिष्ट गुण और अलङ्कारों से समन्वित काव्य ही काव्य का अधिकारी होता है। ध्वनि के विषय में इस प्रकार का कोई भी सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। कतिपय सहृदयों का यह मनोरंजन भले ही करता रहे, परन्तु समग्र विद्वज्जनों के हृदय को यह आकृष्ट नहीं कर सकता। अतः ध्वनि की सत्ता इस दृष्टि से भी असिद्ध है।

(ग) अभाववादी का यह तृतीय पक्ष अन्तर्भाववादी के नाम से पुकारा जा सकता है। इस मत का सिद्धान्त है कि ध्वनि नामक किसी अपूर्व पदार्थ की सम्भावना ही नहीं हो सकती। ध्वनि स्वतः काव्य में चारुता उत्पन्न करने का कारण है। ऐसी दशा में काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले जितने साधन माने जाते हैं, उन्हीं के भीतर कहीं इसका अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार ध्वनि कोई विलक्षण वस्तु नहीं ठहरती, बल्कि किसी विशिष्ट चारुताधायक साधन का यह एक नवीन नामकरण है। शब्द और अर्थ की विचित्रता का क्या कहीं अन्त है। अलङ्कारों को ही लीजिए। भरत मुनि ने केवल चार ही अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। परन्तु पिछले आलङ्कारिकों ने नयी–नयी विचित्रताओं की कल्पना करके उन्हीं चार अलङ्कारों को बढ़ाते–बढ़ाते अलङ्कारों की संख्या एक सौ से ऊपर पहुँचा दी है। गुण और रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति आदि काव्यतत्त्वों का विवेचन एक ही युग की घटना नहीं है। यह कोई भी आलोचक नहीं कह सकता कि शब्द और अर्थ की विचित्रताओं की संख्या केवल इतनी ही है और इतने से अधिक नहीं हो सकती। फलतः इन्हीं विचित्रताओं में से एक विचित्रता का नाम ध्वनि है। अतः ध्वनि की सत्ता को स्वतन्त्र रूप से मानना कथमपि सिद्ध नहीं होती। उसकी स्थिति तो गुण और अलङ्कारों के भीतर ही कहीं सिद्ध की जा सकती है। अन्तर्भाववादियों का यही संक्षिप्त सिद्धान्त है।

इन तीनों अवान्तर मतों में भी सूक्ष्म भेद है। प्रथम पक्ष के अनुसार ध्वनि नामक कोई तत्त्व होता ही नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार भी ध्वनि काव्य विद्यमान नहीं होता; क्योंकि यह सर्वसम्मत काव्यतत्त्व नहीं है। कतिपय

आलोचक ही इसकी सत्ता में विश्वास करते हैं। परन्तु सब आलोचकों की सम्मति इसके पक्ष में नहीं है। तृतीय पक्ष में ध्वनि मान्य तो है, परन्तु एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में नहीं। गुण, अलङ्कार आदि सर्वसम्मत काव्यतत्त्वों के भीतर ही इसका अन्तर्भाव माना जा सकता है। इन तीनों पक्षों को हम क्रमशः अभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी का नाम दे सकते हैं।

२. भक्तिवादी आचार्यों का मत

भक्ति का अर्थ है लक्षणा। भक्ति के इस नवीन अर्थ के लिए अनेक कारण कल्पित किये जा सकते हैं। भक्ति का एक अर्थ है भंग यानी तोड़ना। अतः मुख्य अर्थ को तोड़कर जहाँ नवीन अर्थ की कल्पना की जा सकती है, ऐसे स्थल (लक्षणा) को शक्ति शब्द के द्वारा अभिहित करना न्यायसंगत है। भक्ति का दूसरा अर्थ है श्रद्धा का अतिशय। किसी विशेष प्रयोजन में श्रद्धा होने पर ही लक्षणा की जाती है, जिसका नाम प्रयोजनवती लक्षणा होता है। इस लक्षणा की सूचना भक्ति के इस द्वितीय अर्थ के द्वारा भलीभाँति दी जाती है। भक्ति का एक तीसरा अर्थ है सेवा अर्थात् पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाला नवीन अर्थ। इन तीनों अर्थों को संकेतित करने के कारण भक्ति शब्द का अर्थ काव्यशास्त्र में लक्षणा किया जाता है।

इस पक्ष वाले आचार्यों का मत है कि प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा के भीतर नहीं किया है। परन्तु उन्होंने शब्दों की दो प्रकार की वृत्ति स्वीकार की है – एक का नाम है मुख्य वृत्ति और दूसरी का नाम है गुणवृत्ति। इसी गुणवृत्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव ये आचार्य मानते हैं।

३. अनिर्वचनीयत्ववादी मत

अनिर्वचनीयवादी आचार्यों के मत में ध्वनि का तत्त्व वाणी के द्वारा किसी प्रकार प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यह केवल स्वतः अनुभूति का ही विषय होता है। इस मत में ध्वनि की सत्ता अवश्य है, परन्तु इसकी पूरी मीमांसा शब्दों के द्वारा कथमपि नहीं की जा सकती।

इन तीनों पक्षों की समीक्षा करने से हम कह सकते हैं कि अभाववादी सब प्रकार से भ्रान्त हैं। वे ध्वनि के मौलिक रूप से सर्वथा अपरिचित हैं। वे

प्रस्थानवादी होने के कारण प्राचीन लकीर से एक पग भी आगे बढ़ना नहीं चाहते और इस प्रकार काव्य में किसी भी नवीन तत्त्व के आविर्भाव तथा समावेश के नितान्त विरोधी हैं। भक्तिवादी उसके रूप से अवश्य परिचित हैं। वे जानते हैं कि ध्वनि वाच्य से भिन्न कोई नवीन पदार्थ अवश्य है, परन्तु सन्दिग्ध होने के कारण वे उसके रूप को वस्तुतः छिपाते हैं। अन्तिम मत वाले भी आचार्य ध्वनि के स्वरूप का परिचय तो रखते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या तथा मीमांसा के विरोधी हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अभाववाद में मिथ्या ज्ञान, भक्तिवाद में सन्देह की प्रबलता है और अनिर्वचनीयवाद में अज्ञान का प्राधान्य है।

ध्वनिविरोध की समीक्षा

इन मतों की समीक्षा कर आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी आचार्यों ने सिद्ध किया है कि ध्वनि का न तो अभाव है, न तो वह लक्षणा के ही अन्तर्गत है और न वह विवेचना से बाहर ही है, प्रत्युत वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है, वही काव्य की आत्मा है, जिसके रूप तथा भेदों का विवरण विशद रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्[१]।।

वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद

किसी शब्द के मुख्य अर्थ को वाच्य अर्थ कहते हैं,जैसे गङ्गा का मुख्य अर्थ है एक जल की धारा। व्यङ्ग्य अर्थ भी एक स्वतन्त्र अर्थ है और वह वाच्य अर्थ से एकदम भिन्न तथा अलग ही होता है। व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य से आठ प्रकार के भेदों के कारण नितान्त पृथक् माना जाता है। इस प्राचीन कारिका में इन भेदों का निर्देश एक साथ बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है –

---

१. ध्वन्यालोक, १.१

बोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः[१]।।

१. बोद्धा – अर्थ को समझने वाला प्राणी बोद्धा कहलाता है। वाच्य अर्थ का ज्ञान तो व्याकरण और कोश जानने वाले प्रत्येक पुरुष को हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ का ज्ञान तो केवल उन्हीं व्यक्तियों को होता है, जो काव्य के मर्मज्ञ तथा रसिक (सहृदय) होते हैं।

२. स्वरूप – वाच्य अर्थ कहीं पर विधि के रूप में रहता है, तो कहीं प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप में। कहीं वाच्य अर्थ निन्दा प्रकट करता है, तो व्यङ्ग्य अर्थ स्तुतिबोधक होता है। कहीं मुख्य अर्थ निषेध प्रकट करता है, तो प्रतीयमान अर्थ उसी पद्य में एक ही जगह विधि का बोध कराता है। इस प्रकार दोनों में स्वरूप का भेद नितान्त स्पष्ट है।

३. संख्या – वाच्य अर्थ सदा प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही होता है। धेनु शब्द का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति एक ही रूप से ग्रहण करता है, परन्तु प्रकरण, वक्ता, देश, काल आदि की भिन्नता होने के कारण प्रतीयमान अर्थ अनेक होता है। जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' – सूर्य डूब गया – इस वाक्य का मुख्य अर्थ एक ही होता है, परन्तु उसका प्रतीयमान अर्थ सन्दर्भ की विशिष्टता के कारण भिन्न-भिन्न अनेक हुआ करता है।

४. निमित्त – निमित्त का अर्थ है कारण। वाच्य अर्थ की उत्पत्ति का कारण तो व्याकरण, कोष आदि साधन हैं, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ प्रकरण, देश, काल, वक्ता तथा बोधक आदि के ज्ञान के साथ ही साथ प्रतिभा की निर्मलता की अपेक्षा रखता है।

५. कार्य – दोनों से उत्पन्न कार्य भिन्न ही होता है। वाच्यार्थ का कार्य होता है केवल अर्थ की प्रतीति अथवा ज्ञान, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ का कार्य सहृदयों की चमत्कृति है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञान से सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न होता है।

६. प्रतीतिकाल – दोनों की प्रतीति का काल एक समान नहीं रहता।

---

१. ध्वन्यालोक की टीका दीधिति, पृ० २८।

शब्द के सुनते ही व्युत्पन्न पुरुष को वाच्य अर्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ के लिए प्रकरण आदि की सहायता आवश्यक होती है और इसीलिए इसकी प्रतीति विलम्ब से ही होती है, तुरन्त नहीं। सारांश यह है कि वाच्यार्थ की प्रतीति पूर्व में होती है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति पीछे होती है। अतः इस काल भेद से ही दोनों में भिन्नता होती है।

७. **आश्रय** – वाच्यार्थ का आश्रय (आधार) केवल शब्द ही होता है। परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का आधार शब्द में, उसके एक देश में, शब्द के अर्थ में, वर्ण में और वर्ण की संघटना में होता है।

८. **विषय** – जिस व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर अर्थ प्रवृत्त होता है, वह उसका विषय कहलाता है। अर्थ का लक्ष्य कोई न कोई व्यक्ति ही होता है, जिसे उस अर्थ का ज्ञान कराना हम चाहते हैं। यह विषय भी दोनों अर्थों में भिन्न-भिन्न होता है। वाच्य अर्थ एक ही व्यक्ति के लिए अभीष्ट होता है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ का विषय उससे भिन्न अनेक व्यक्ति हो सकते हैं।

इस प्रकार बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि प्रतीयमान अर्थ एक स्वतन्त्र वस्तु है, जो वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है। काव्यशास्त्र में उपमा, अनुप्रास आदि अलङ्कार वाच्य-वाचक के ऊपर आश्रित रहते हैं, परन्तु ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के ऊपर। दोनों अर्थ भिन्न होते ही हैं। इसलिए ध्वनि का विषय अनुप्रास आदि से नितान्त भिन्न है।

प्रस्थानवादी का यह आक्षेप करना कि ध्वनि समग्र सहृदयों द्वारा ग्राह्य तथा उल्लिखित नहीं है, कथमपि ठीक नहीं है। लक्षण ग्रन्थ बनाने वाले आचार्यों में इसकी प्रसिद्धि भले न हो, परन्तु परीक्षा करने पर ध्वनि ही काव्य में उत्तम तत्त्व प्रतीत होता है। ध्वनि से विरहित काव्य तो साधारण काव्य होता है और 'चित्र काव्य' के नाम से पुकारा जाता है। संस्कृत भाषा के आदि कवि वाल्मीकि की प्रथम कविता – '**मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः**'– रसमयी अतएव ध्वनिमयी है। कालिदास तथा भारवि आदि प्राचीन कवियों के काव्यों में ध्वनि के उदाहरण प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं।

अन्तर्भाववादी का मत भी समीचीन नहीं है। वह ध्वनि को अलङ्कार के अन्तर्गत मानकर ध्वनि की सत्ता ही नहीं मानता। किसी भी वस्तु का अन्तर्भाव

तत्समान वस्तु में ही होता है। व्यङ्ग्य–व्यञ्जक सम्बन्ध के ऊपर आश्रित होने वाली ध्वनि का अन्तर्भाव गुण या अलङ्कार के भीतर कैसे माना जा सकता है, जब वे वाच्य–वाचक सम्बन्ध के ऊपर ही आश्रित रहते हैं। कतिपय अलङ्कारों जैसे समासोक्ति, पर्यायोक्ति आदि में, द्वितीय अर्थ अवश्य विद्यमान रहता है, परन्तु इससे क्या लाभ? ध्वनि का अन्तर्भाव इन अलङ्कारों में भी नहीं किया जा सकता, ऐसे स्थानों पर प्राधान्य का विचार करना पड़ता है कि कौन वस्तु प्रधान है? वाच्य अर्थ या व्यङ्ग्य अर्थ। इन अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ की तो बस एक झलक–मात्र होती है, पर्यावसान तो इनका वाच्यार्थ में ही होता है। एक बात और भी विचारणीय है। ध्वनि काव्य का अंगी होता है और अलङ्कार गुण आदि अंग होते हैं। अंग का अन्तर्भाव अंगी के भीतर तो नियमतः हो सकता है, परन्तु अंगी (ध्वनि) का अन्तर्भाव अंग (अलङ्कार आदि) के भीतर कैसे हो सकता है? स्पष्ट बात यह है कि ध्वनि का क्षेत्र बड़ा विशाल तथा विस्तृत है और उधर अलङ्कार आदि का क्षेत्र सीमित तथा संकीर्ण है। ऐसी दशा में अन्तर्भाव बनता नहीं और इसलिए मानना पड़ेगा कि अभाववादी का कोई भी पक्ष समीचीन नहीं है। इसलिए ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानना नितान्त उचित है।

लक्ष्यार्थ से भिन्न ध्वनि

लक्ष्यार्थ से भी ध्वनि भिन्न होती है। इसे सिद्ध करने वाली अनेक युक्तियों में से अन्यतम युक्ति यह है कि लक्षणा मुख्य अर्थ के साथ नियत रूप से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को ही प्रकट करती है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ की यह दशा नहीं है। उसे हम नियत सम्बन्ध के द्वारा बाँध नहीं सकते। वह कभी मुख्य अर्थ से, अनियत सम्बन्ध भी रखता है और कभी–कभी परम्परया सम्बन्ध अर्थ को भी प्रकट करता है। इसलिए ध्वनि की सत्ता स्वतन्त्र है।

लक्षणा के तीन हेतु माने गये हैं। पहला हेतु है – मुख्य अर्थ का बाधित होना (मुख्यार्थबाध)। मुख्य अर्थ का जहाँ वाक्य में यथार्थतः अन्वय नहीं जमता, वहीं लक्षणा होती है। दूसरा हेतु है – तद्योग अर्थात् मुख्य अर्थ के साथ अमुख्य अर्थ का सम्बन्ध। लक्षणा के द्वारा वही अर्थ द्योतित किया जाता है, जो वाच्य अर्थ के साथ सम्बद्ध होता है; असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा

कथमपि नहीं होती। तीसरा हेतु है – रूढ़ि अथवा प्रयोजन की सत्ता। रूढ़ि या प्रयोजन की सत्ता होने पर ही लक्षणा होती है। उदाहरण से समझिये। 'वह व्यक्ति कर्म में कुशल है' – इस वाक्य में कुशल का अन्वय कर्म के साथ उचित रीति से नहीं जमता। कुशल का मुख्य अर्थ है – कुश का लानेवाला (कुशं लातीति कुशलः), फलतः कर्म में कुश का लाने वाला का अर्थ कुछ नहीं होता। अतः यहाँ है – मुख्य अर्थ का बाध। अतः इस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की कल्पना होनी चाहिए। कुशल के मुख्य अर्थ से सम्बद्ध है – 'विवेचक' अर्थ। कुश को वही व्यक्ति ला सकता है, जो कुश को तज्जातीय अन्य तृणों से पृथक् करने की योग्यता रखता है, अर्थात् जो विवेचक होता है। यहाँ कुशल से चतुर या विवेचक अर्थ की कल्पना रूढ़ि द्वारा है। रूढ़ि है परम्परागत अर्थ। बहुत दिनों से कुशल का यही अर्थ चला आता है। अतः 'कुशल' शब्द लाक्षणिक है, जो लक्षणा के द्वारा विवेचक अर्थ को प्रकट करता है।

लक्षणा की यही स्थिति है। इस प्रकार 'लक्षणा' भी 'अभिधा' के समान ही होती है। अभिधा जिस प्रकार अपनी शक्ति से नियत रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी नियत अर्थ को प्रकट करती है। परन्तु व्यञ्जना की स्थिति इस विषय से भिन्न है। वह मुख्य अर्थ से असम्बद्ध अर्थ को भी प्रकट करती है। एक बात और – लक्षणा की अपेक्षा ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है। ध्वनि मुख्य अर्थ की सिद्धि के अनन्तर तथा मुख्य अर्थ के बाध (असंगति) होने के अनन्तर भी होती है। फलतः ध्वनि कभी वाच्यार्थ के अनन्तर और कभी लक्ष्यार्थ के अनन्तर होती है। इस प्रकार इसका क्षेत्र विशाल है। परन्तु लक्षणा तो मुख्य अर्थ के बाध होने पर ही होती है। उसका क्षेत्र संकीर्ण है। प्रयोजनवती लक्षणा भी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यञ्जना का आश्रय लेती है, तब लक्षणा के भीतर व्यञ्जना के गतार्थ मानने की योजना एकदम निःसार, निराधार तथा निःसहाय है।

अनिर्वचनीयवादी यदि ध्वनि को काव्य में नितान्त गूढ़ तथा सूक्ष्म तत्त्व मानते हैं, तो उनका कथन ठीक है। नहीं तो उनकी युक्ति यथार्थ नहीं है; क्योंकि ध्वनि के स्वरूप तथा प्रकारों का विवेचन हम भलीभाँति कर सकते हैं तथा करते हैं। फलतः ध्वनि को एक स्वतन्त्र काव्यतत्त्व मानना यथार्थ है।

ध्वनिस्वरूप विमर्श

जब हम कोई वाक्य उच्चारण करते हैं, तो कानों से जितना सुनाई पड़ता है, उतना ही उन वाक्यों का अर्थ नहीं होता, प्रत्युत उससे भिन्न तथा गम्भीर अर्थ की भी अभिव्यक्ति अवस्था तथा कारणविशेष से उसी वाक्य से होती है। इस द्वितीय अर्थ को हम प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। इस प्रतीयमान अर्थ को परिभाषित करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं –

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं बिभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

अर्थात् विकसितयौवना किन्हीं कामिनी स्त्रियों के चारु मुख, नयन, स्तन, जघनादि अवयवों के सौन्दर्य से उद्भूत एक विलक्षण दृश्यमान लावण्यधारा (सौन्दर्यछटा) जैसे युवकों को अमृताञ्जन की तरह नयनानन्दजनक होती है, वैसे ही अलङ्कारादि वाच्यार्थों से भिन्न सरसजनों द्वारा आस्वाद्यमान कुछ विलक्षण ही प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ महाकवियों के वाग्विलास में चमत्कृत होता हुआ सहृदयों का आनन्दजनक होता है। व्यञ्जनावृत्ति से प्रतिपाद्य वह व्यङ्ग्यार्थ – व्यङ्ग्यवस्तु, व्यङ्ग्य अलङ्कार और व्यङ्ग्यरसादि के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकारों में वाच्य से व्यङ्ग्य की अत्यन्त भिन्नता है। इस व्यङ्ग्य अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्य को ध्वनिकाव्य की संज्ञा दी जाती है। ध्वनि पद में जब अधिकरणार्थक प्रत्यय मानते हैं, तो 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' यह उत्तम काव्य का वाचक होता है और करण अर्थ मानने पर 'ध्वन्यतेऽनयेति ध्वनिः' व्यञ्जना शक्ति का बोधक होता है एवं भावप्रधान मानने पर 'ध्वननं ध्वनिः' रसादि की प्रतीति का और कर्मप्रधान 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' रसादि व्यङ्ग्य का वाचक होता है। ध्वनि काव्य का लक्षण बताते हुए आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

अर्थात् जिस काव्य में वाच्यार्थ या वाचक शब्द क्रमशः अपने स्वरूप या अपने अर्थ को दूसरे के प्रति समर्पण द्वारा अप्रधान बनाकर उस विलक्षण अत्यन्त रमणीय व्यङ्ग्यार्थ को व्यञ्जना द्वारा व्यक्त करता है, उस काव्य

विशेष को विद्वानों ने ध्वनि नामक उत्तम काव्य कहा है।

आचार्य मम्मट ने '**इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः**' ध्वनिकाव्य का लक्षण कहकर आनन्दवर्धनाचार्य के मत का समर्थन किया है। कविराज विश्वनाथ ने भी ध्वनिकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है –

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।

जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक हो, उसे ध्वनि कहते हैं, वह उत्तम काव्य है। यहाँ ध्वनि पद अधिकरणप्रधान 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' है।

ध्वनिभेद

मुख्यतया ध्वनि दो प्रकार का होता है – १. लक्षणामूलक ध्वनि (अविवक्षितवाचय) तथा २. अभिधामूलक ध्वनि (विपक्षितान्यपरवाच्य)। जिस ध्वनि के मूल में लक्षणा हो, उसे तो लक्षणामूलक तथा जिसके मूल में अभिधा हो, उसे अभिधामूलक कहते हैं। लक्षणामूलक ध्वनि में वाच्य अर्थ को प्रकट करने की इच्छा बोलने वाले में कभी नहीं रहती। जब वह उस शब्द का प्रयोग करता है, तब वह कभी नहीं चाहता कि उसका मुख्य अर्थ वहाँ प्रकट किया जाय। ऐसी दशा में मुख्य अर्थ की दो प्रकार की स्थिति हो जाती है। कभी तो वह दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाता है, बदल जाता है और कभी कभी तो वह बिलकुल ही छोड़ दिया जाता है तथा अपने से बिलकुल ही भिन्न अर्थ को वह प्रकट करने लगता है। जब मुख्य अर्थ अर्थान्तर में बदल जाता है, तब उसे **अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि** कहते हैं। मुख्य अर्थ के बिलकुल तिरस्कृत होने पर या छोड़ दिये जाने पर अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि होता है।

कोई मनुष्य किसी के सम्बन्ध में कहता है कि 'वह तो साक्षात् कुम्भकर्ण है'। यहाँ कुम्भकर्ण का वाच्य अर्थ होता है घड़े के समान लम्बा कान वाला व्यक्ति या लङ्कापति रावण का भाई। इस व्यक्ति के न तो कान ही घड़े के समान हैं और न वह रावण का भाई है। इसलिए मुख्य अर्थ बाधित होता है और यहाँ अर्थ परिवर्तित होकर अतिभोजी तथा अधिक निद्रालु व्यक्ति का बोध कराता है। अत्यन्त आलस्य ध्वनित होता है। अतः यह वाक्य अर्थान्तरसंक्रमित

वाच्य ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है। राधा की स्तुति में कथित इस दोहे पर दृष्टिपात कीजिए –

राधा अति गुन आगरी, स्वर्न बरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भयो, परसत जाके अंग।।

यहाँ राधा के अंग छूने से मोहन को मोहन बन जाने की बात कवि ने कही है। यहाँ पहला मोहन शब्द तो अपने मुख्य अर्थ कृष्ण का बोध कराता है, परन्तु दूसरा मोहन शब्द का अर्थ सबको मोहित करने वाला या सबके हृदय में बस जाने वाला है और इस अर्थ में संक्रमित होने के कारण मोहन शब्द अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि वहाँ होगी, जहाँ मुख्य अर्थ का एक भिन्न ही अर्थ किया जाता है, यथा –

साँस से आँधर दर्पन ही जस।
बादल ओट लखात है चन्दा।

बादलों की ओट में छिपा हुआ चन्द्रमा साँस से अन्धे होने वाले दर्पण के समान जान पड़ता है। यहाँ जड़ पदार्थ दर्पण को अन्धा बतलाया गया है। यह तो कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्धा होना तो प्राणी का धर्म है। इससे यहाँ 'आँधर' शब्द का अर्थ ही बिल्कुल बदल कर मैला या धुँधला किया गया है। 'आँधर' शब्द से अत्यन्त मालिन्य व्यङ्ग्य है।

अभिधामूलक ध्वनि में वक्ता शब्द के मुख्य अर्थ को बिलकुल छोड़ देना नहीं चाहता। बल्कि वह अन्यपरक बन जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ का बोधक होता है। इसलिए इस ध्वनि को **'विवक्षितान्यपरवाच्य'** ध्वनि कहते हैं। अर्थात् पूर्व दृष्टान्तों के समान, न तो मुख्य अर्थ संक्रमित होता है और न अत्यन्त तिरस्कृत होता है। उसे प्रकट किया जाता है, परन्तु वह व्यङ्ग्य अर्थ का बोधक बन जाता है। यही विशेषता इस ध्वनि की है। व्यङ्ग्य का तभी बोध होता है, जब वाच्य अर्थ का भी बोध होता है। यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ के बीच में कहीं तो क्रम लक्षित होता है और कहीं पर वह क्रम लक्षित नहीं होता। इस प्रकार इस ध्वनि के दो अवान्तर भेद होते हैं –

(क) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि तथा (ख) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। इनमें से

पहला ध्वनि का अभिप्राय रस भाव आदि से है। रस की प्रतीति में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव – ये तीनों कारण होते हैं और इनसे जब स्थायी भाव पुष्ट होता है, तब रस का आस्वादन होता है। यहाँ विभावादि अर्थ के प्रकट होने के साथ ही साथ रस का भी बोध हो जाता है। दोनों में किसी प्रकार का क्रम लक्षित नहीं होता। अतः रस आदि को असंलक्ष्यक्रम ध्वनि नाम से पुकारते हैं।

मतिराम की यह सवैया इस ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है –

आए विदेश तैं प्रानप्रिया, 'मतिराम' अनन्द बढ़ाय अलेखैं।
लोगन सौं मिलि आँगन बैठि घरी ही घरी सिगरौं घर पेखैं।।
भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमारि तिया तनकंप विसेखै।
घूँघट को पट ओट दियै, पट ओट किये पिय को मुँह देखै।।

पति परदेश से घर पर आया हुआ है। उसे नायिका घूँघट से अपने मुँह को छिपाकर कपड़े की ओट से पति का मुँह देख रही है। यहाँ नायिका के आचरण को देखकर उसके हृदय का प्रेमभाव छलक रहा है, जिसमें शृङ्गाररस की सद्यः प्रतीति होती है। यहाँ वाच्य अर्थ से शृङ्गार रस की प्रतीति इतनी जल्दी होती है कि दोनों के बीच में विद्यमान रहने वाले क्रम का (पूर्वापर भाव का) ज्ञान ही नहीं होता। इसलिए इसे असंलक्ष्यक्रमवाच्य ध्वनि कहते हैं।

'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' ध्वनि का क्षेत्र बड़ा विशाल है। इस ध्वनि में वाच्य अर्थ की प्रतीति पहले होती है और तदनन्तर विचार करने पर व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होता है। अतः दोनों अर्थों के बीच में विद्यमान क्रम पूरी तौर से लक्षित होता है। कहा गया है कि ध्वनि तीन प्रकार की होती है – रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि। रस ध्वनि तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। कारण यह है कि यहाँ रस की प्रतीति इतनी शीघ्रता के साथ होता है कि क्रम की स्थिति लक्षित नहीं होती है। परन्तु वस्तु तथा अलङ्कार को प्रकट करनेवाला ध्वनि इससे भिन्न होता है। इसमें शब्द से मुख्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर अनुसन्धान करने पर व्यङ्ग्य का बोध होता है। इस ध्वनि के स्वरूप को समझने के लिए आचार्यों ने अनुरणन का उपयुक्त उदाहरण दिया है। घंटा एक बार बजाने के बाद तदनुगामी अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जो मूल स्वर की अपेक्षा सूक्ष्म होती चली जाती हैं। पहला शब्द तो बड़ा जोरदार होता है, परन्तु पीछे उसकी केवल गूँज रहती है, जो धीरे-धीरे हलकी पड़ती जाती है। इस दोनों में क्रम स्पष्टतः लक्षित होता

है। इसी प्रकार क्रम के दिखलाई पड़ने के कारण इसे अनुरणन ध्वनि की संज्ञा प्राप्त है। इसके अनेक भेद होते हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं – शब्दशक्ति जन्य, अर्थशक्ति जन्य तथा उभयशक्ति जन्य। इनके अवान्तर भेदों तथा मिश्रित भेदों की गणना बड़ी लम्बी है। यहाँ एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे –

चिरजीवी जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।।

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे के व्यङ्ग्य अर्थ की मीमांसा कीजिए। कवि कहता है कि राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरकाल तक जीती रहे तथा उसमें गम्भीर स्नेह उत्पन्न हो। राधा वृषभानु की पुत्री ठहरी और कृष्ण हलधर (बलराम जी) के भाई ठहरे। दोनों उच्च कुल में पैदा हुए हैं। अतः दोनों का सम्बन्ध नितान्त उचित तथा स्नेहवर्धक है। इस वाच्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति की महिमा से एक नवीन अर्थ का ज्ञान हो रहा है। वृषभानुजा (वृषभ + अनुजा) का अर्थ बैल की बहन तथा हलधर का अर्थ हल को ढोने वाला बैल। अतः यहाँ बैल तथा गाय की बड़ी सुन्दर जोड़ी है। इन दोनों के मिलन से गम्भीर स्नेह (घृत) क्यों नहीं उत्पन्न होगा।

यह ध्वनि वृषभानुजा तथा हलधर के श्लेष पर आश्रित है। इन दोनों शब्दों के स्थान पर पर्याय के रखते ही यह ध्वनि गायब हो जायेगी। अतः यह शब्दशक्तिजन्य है। जिस व्यङ्ग्य अर्थ का यहाँ बोध होता है, वह अलङ्कार से रहित है, केवल वह एक वस्तु (बात) है। इसलिए इस ध्वनि का पूरा नाम होगा – शब्दशक्तिजन्य वस्तुध्वनि।

बिहारी के एक दूसरे दोहे पर दृष्टिपात कीजिए –

नित प्रति एकत ही रहत, बैस बान मन एक।
चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन जुगल अनेक।।

कवि का कहना है कि राधा और कृष्ण नित्य प्रति एक ही साथ रहते हैं। दोनों का वय, रंग तथा हृदय एक समान है। ऐसी जुगल जोड़ी को निरखने के लिए आँखों के असंख्य जोड़े होने चाहिए। इस मुख्य अर्थ से सौन्दर्य का अतिशय व्यङ्ग्य है, अर्थात् राधा कृष्ण नितान्त सौन्दर्यसम्पन्न हैं। इसलिए यहाँ अर्थशक्तिजन्य वाक्य ध्वनि मानी जायेगी।

मुख्य रूप से ध्वनि के ५१ भेद हैं, जिनमें मोटे तौर पर तीन ही ध्वनियाँ प्रधान होती हैं – १. रसध्वनि – जिनमें रस की व्यञ्जना होती है। २. वस्तु ध्वनि – जिसमें किसी सामान्य वस्तु या बात या कथन की ध्वनि होती है। ३. अलङ्कार ध्वनि – जिसमें किसी अलङ्कार की अभिव्यक्ति व्यङ्ग्यार्थ रूप से होती है। रस ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। अलङ्कार ध्वनि का दृष्टान्त यहाँ 'दास कवि' का दिया जाता है –

सखि, तेरो प्यारे भलो दिन न्यारो ह्वै जात।
मोते नहि बलवीर को पल विलगाव सोहात।।

राधा किसी सखि से कह रही है कि तुम्हारे प्रिय अच्छे हैं, जो तुमसे अनेकों दिन अलग रह सकते हैं। परन्तु मेरे कृष्ण को तो एक पल का भी वियोग नहीं सुहाता। यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। राधा का तात्पर्य यह है कि मैं तुमसे अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ, क्योंकि मेरा पति तुम्हारे पति से अधिक प्रेमी है। यहाँ वाक्यगत वस्तु से अलङ्कार ध्वनि है।

ध्वनि एवं व्यञ्जना

ध्वनि की प्रतीति केवल व्यञ्जना के द्वारा ही हो सकती है। व्यञ्जना के अतिरिक्त उनकी प्रतीति का और कोई मार्ग नहीं है। इसी दृष्टि से ध्वनि के वाच्यतासह और वाच्यता-असह दो भेद किया जाता है। वाच्यतासह के भी विचित्र तथा अविचित्र दो भेद करके विचित्र को अलङ्कार ध्वनि तथा अविचित्र को वस्तु ध्वनि के अन्तर्भूत करते हैं। यद्यपि व्यङ्ग्य होने के कारण प्रधान होने से वह अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ अलङ्कार्य होता है, अलङ्कार नहीं, फिर भी अन्यत्र उपमादि वाच्य अलङ्कार रूप में भी देखा जा चुका है। इसलिए भूतपूर्व गति अथवा ब्राह्मणश्रमण न्याय से अलङ्कार नाम से ही कहा जाता है। तीसरा रसादिध्वनि वाच्यता असह है, वह कभी वाच्य नहीं हो सकता है, सदा व्यङ्ग्य ही होता है। इसलिए ध्वनि की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

रसध्वनि की प्रतीति के लिए व्यञ्जना की अनिवार्यता

रसादिरूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता; क्योंकि उसको यदि वाच्य कहा जाय, तो वह या तो रसादि शब्द से या शृङ्गारादि शब्द से ही

अभिधा शक्ति से वाच्य रूप में कहा जा सकता है। परन्तु इन दोनों शब्दों से अभिधा शक्ति के द्वारा कहा नहीं जाता है; क्योंकि उन रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग होने पर भी विभावादि का प्रयोग न होने पर उसकी अनुभूति न होने और उन वाचक रसादि या शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग न होने पर भी विभावादि का प्रयोग होने पर उस रसादि की अनुभूति होने से, विभावादि के कथन द्वारा ही उस रसादि की प्रतीति होती है, यह बात अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है। इसलिए वह रसादि ध्वनि सदा व्यङ्ग्य ही होता है, वाच्य कभी भी नहीं हो सकता है। मुख्यार्थ बाध आदि लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के न होने से वह लक्षणीय अथवा लक्षणागम्य भी नहीं हो सकता है, इसलिए रसादि की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानना अपरिहार्य है। इस प्रकार अभिधामूल ध्वनि से असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि रूप अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानना अपरिहार्य हो जाता है।

लक्षणामूल ध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता

ध्वनि के अन्य जो भेद माने गये हैं, उनमें भी व्यञ्जना के द्वारा ही व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। अन्य किसी वृत्ति से काम नहीं चल सकता। लक्षणामूल ध्वनि के अन्तर्गत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य रूप दोनों भेदों में भी व्यञ्जना की अनिवार्यता है। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि का 'त्वामस्मि वाच्मि' इत्यादि तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य लक्षणामूल ध्वनि का 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादि उदाहरण आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है। उनमें पहले उदाहरण में 'वच्मि' आदि पद उपदेश आदिरूप अर्थान्तर में संक्रान्त हो जाते हैं और दूसरे उदाहरण में उपकृत आदि पर अपने अर्थ को बिलकुल छोड़कर 'अपकृत' आदि अर्थों का द्योतन करते हैं। इनमें व्यङ्ग्य प्रयोजन की प्रतीति ही लक्षणा का आधार है। यदि यह व्यङ्ग्य प्रयोजन न हो, तो उसमें लक्षणा ही न हो सकेगी। उस व्यङ्ग्य प्रयोजन का बोध अभिधा या लक्षणा द्वारा नहीं होता है। यह बात आचार्य मम्मट ने कहा है –

नाभिधा समयाभावाद् हेत्वभावान्न लक्षणा।

अतः लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत

वाच्य दोनों भेदों में प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

अभिधामूल ध्वनि में व्यञ्जना अनिवार्य

अभिधामूल ध्वनि के दो भेद होते हैं – असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। इनमें असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि में व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता अभी दिखला चुके हैं। संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ तथा उभयशक्त्युत्थ – ये तीन भेद किये गये हैं। उनमें पहले शब्दशक्त्युत्थ भेद को लेते हैं। जहाँ अनेकार्थक शब्द का प्रकरणादिवशात् एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे शाब्दी व्यञ्जना या शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि कहते हैं। यह वस्तु तथा अलङ्कार रूप से दो प्रकार का होता है। यहाँ अभिधा का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने से अन्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है। उसके लिए व्यञ्जना व्यापार मानना ही होगा। इसी प्रकार इस स्थल पर प्रतीत होने वाले प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेयभाव आदि अलङ्कार भी व्यञ्जना वृत्ति से बोधित होता है। इसलिए शब्दशक्तिमूल ध्वनि में भी व्यञ्जना का मानना अनिवार्य है।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के पहले वाच्यार्थ की उपस्थिति आवश्यक है। पहले वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के बाद उससे पुनः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसलिए उसे अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि कहा जाता है। वाक्य से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, इसका विवेचन यद्यपि व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि अनेक शास्त्रों में किया गया है, किन्तु वाक्यविचार में मीमांसकों को ही प्रधान माना जाता है। वैयाकरणों को केवल 'पदज्ञ' और नैयायिकों को 'प्रमाणज्ञ' कहा जाता है। वाक्यों का विचार मुख्य रूप से मीमांसकों का क्षेत्र है, इसलिए उनको 'वाक्यज्ञ' कहा जाता है। अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के विवेचन में पहले वाक्यार्थज्ञान की आवश्यकता होती है और वह मीमांसकों का क्षेत्र है। मीमांसकों के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं – एक अभिहितान्वयवाद और दूसरा अन्विताभिधानवाद। अभिहितान्वयवाद के संस्थापक आचार्य कुमारिलभट्ट हैं और अन्विताभिधानवाद के प्रतिपादक उनके शिष्य प्रभाकर हैं। उनमें पहले कुमारिलभट्ट के अभिहितान्वयवाद को लेते हैं। अभिहितान्वयवाद

में तो अभिधाशक्ति से केवल पदार्थों की उपस्थिति होती है। पदार्थों के परस्परसंसर्ग रूप वाक्यार्थ की प्रतीति भी अभिधा से नहीं होती है, उसके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति अलग मानी जाती है। तब व्यङ्ग्य अर्थ, जिसकी प्रतीति वाक्यार्थ की भी प्रतीति के बाद होती है, उसको अभिधाशक्ति से बोध या वाच्य कैसे कहा जा सकता है। इसलिए अभिहितान्वयवाद में व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद में यद्यपि अन्वित पदार्थों की ही अभिधा द्वारा उपस्थिति होती है, इसलिए वाक्यार्थबोध के लिए 'तात्पर्याख्या' वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु उनके यहाँ भी अभिधा द्वारा सामान्य रूप से अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति हो सकती है। किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ की उपस्थिति नहीं होती है; क्योंकि एक ही शब्द का अनेक शब्दों के साथ भिन्न-भिन्न रूप में प्रयोग होता है।

किसी एक ही विशेष अर्थ के साथ सम्बद्धरूप से शब्द का संकेत-ग्रह मान लेने पर अन्य विशेष अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। विशेष व्यक्ति के साथ संकेतग्रह मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष हो जाने के कारण अभिहितान्वयवाद में ही जब व्यक्ति में संकेतग्रह न मानकर जाति में संकेतग्रह मानना अनिवार्य हो गया था, तब अन्विताभिधानवाद में भी विशेष अर्थ के साथ अन्वित रूप में संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है। इसलिए यदि अन्विताभिधानपक्ष माना भी जाय, तो भी केवल सामान्य रूप से अन्वितमात्र में संकेतग्रह हो सकता है, विशेष के साथ अन्वितरूप में संकेतग्रह नहीं हो सकता है।

परन्तु वाक्यार्थ तो विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप होता है। इसलिए विशेष अर्थों का सम्बन्धविशेष रूप वाक्यार्थ उनके यहाँ भी अभिधा शक्ति से उपस्थित नहीं हो सकता है। तब उस विशेष रूप वाक्यार्थ से भी आगे बढ़े हुए उसके भी बाद प्रतीति होने वाले 'अतिविशेषभूत' व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से हो सकती है, यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसलिए अन्विताभिधानवाद में भी 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं' इत्यादि उदाहरणों में निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाले विधिरूप व्यङ्ग्य अर्थ

की प्रतीति कराने के लिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता स्वीकार करनी होगी।

नित्यानित्य दोष व्यवस्था से भी व्यञ्जना की सिद्धि

मीमांसकमत का खण्डन कर व्यञ्जनावृत्ति को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। अब साहित्यशास्त्र की प्रक्रिया से व्यञ्जनावृत्ति को सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियाँ दी जा रही हैं। 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों को यदि उलटकर 'रुचिं कुरु' यह पाठ कर दिया जाय, तो इसमें 'चिंकु' शब्द के योनिस्थित 'भगनासा' का वाचक हो जाने से अश्लीलता दोष आ जाता है। परन्तु यहाँ असभ्य भगनासा अर्थ 'रुचिं' और 'कुरु' दोनों में से किसी पद का वाच्यार्थ नहीं है। जब अश्लील अर्थ वाच्य नहीं है और अभिधा को छोड़कर और कोई अर्थबोधक वृत्ति नहीं है, तो असभ्यार्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती है। उस दशा में इस प्रकार के प्रयोग काव्य में वर्जित नहीं ठहराये जा सकते हैं। परन्तु सभी सहृदय व्यक्ति इस प्रकार के प्रयोगों को असभ्यार्थ का व्यञ्जक मानकर वर्जनीय ठहराते हैं। अतः अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना को भी अलग अर्थबोधक वृत्ति अवश्य मानना चाहिए।

दूसरी युक्ति यह है कि काव्यशास्त्र के दोष प्रकरण में नित्यदोष और अनित्यदोष, दो प्रकार के दोष माने गये हैं। असाधुपदत्व आदि दोष प्रत्येक रस के अपकर्षक होते हैं, इसलिए वे नित्यदोष माने गये हैं। परन्तु श्रुतिकटुत्व आदि दोष करुण, शृङ्गार आदि कोमल रसों में ही दोष माने जाते हैं। वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों में उनको दोष नहीं माना जाता है, इसलिए वे अनित्यदोष कहलाते हैं। यदि वाच्यवाचकभाव से अतिरिक्त व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न माना जाय, तो यह नित्य तथा अनित्य दोष की व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को अलग मानने पर व्यञ्जनावृत्ति से द्योत्य भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल या प्रतिकूल होने के आधार पर नित्य-अनित्य दोषों की व्यवस्था बन सकती है। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति को मानना आवश्यक है।

गुणव्यवस्था के द्वारा व्यञ्जना की सिद्धि

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

इस श्लोक में शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाली पार्वती की परीक्षा करने के लिए ब्रह्मचारी का वेष धारण कर आए हुए शिव जी पार्वती की शिव-समागम की इच्छा का उपहास करते हुए कह रहे हैं कि पहले तो यह सुना था कि अकेली चन्द्रमा की सुन्दर कला ही उस 'कपाली' के समागम की इच्छा करती थी, अब उसके साथ तुम भी जुड़ गयी हो। पहले अकेली चन्द्रकला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनों की दशा शोचनीय हो गयी है। इसमें शिव के वाचक 'पिनाकी' आदि अन्य शब्दों को छोड़ कर कवि ने 'कपाली' शब्द का ही विशेषरूप से प्रयोग किया है। उसका विशेष कारण है। उससे जिन दरिद्रता, वीभत्सता आदि अनेक गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, वह शिव के वाचक 'पिनाकी' आदि अन्य शब्दों से व्यक्त नहीं होता है। उसी के आधार पर शोचनीयता का औचित्य व्यक्त होता है। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को माना जाय, तो वाचकरूप से भी सभी शब्दों का समान ही स्थान होने से इस विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होना चाहिए था। परन्तु वह चमत्कार सहृदयों को अनुभूत होता है। इसलिए वाच्यवाचकभाव से भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव अवश्य मानना चाहिए। वाच्य और व्यङ्ग्य के स्वरूपभेद, प्रतीतिभेद, कालभेद, आश्रयभेद, निमित्तभेद, कार्यभेद, संख्याभेद और विषयभेद से भी वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ का भेद सिद्ध होता है। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति को मानना नितान्त आवश्यक है।

शब्द का व्यञ्जकत्व

वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्दों और उनके अनुसार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन किया गया है। उसके साथ अभिहितान्वयवादियों के मत में 'तात्पर्यार्थ' भी होता है, यह बात भी बतलायी गयी है। इन तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जकत्व भी रहता है अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी अर्थात् तीनों ही अर्थ व्यञ्जक हो सकते हैं। उन तीनों अर्थों के व्यञ्जकत्व के उदाहरण देते

हुए इसी बात को आचार्य मम्मट कहते हैं –

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते[१]।

अर्थात् प्रायः इन सभी अर्थों का व्यञ्जकत्व भी साहित्यशास्त्र में माना जाता है। उनमें वाच्य अर्थ के व्यञ्जकत्व का उदाहरण काव्यप्रकाश में आया है –

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी।।

अर्थात् हे मातः! आप घर की आटा दाल आदि गृह की सामग्री नहीं है, यह तुमने ही बतला दी है, तो यह बतलाओ कि क्या करना चाहिए; क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा, थोड़ी देर में दिन छिप जायेगा, फिर क्या होगा।

यहाँ कहनेवाली वधू स्वच्छन्द विचरण के लिए अर्थात् उपपति के पास जाना चाहती है, यह बात व्यङ्ग्य है।

लक्ष्य अर्थ के व्यञ्जकत्व का उदाहरण भी काव्यप्रकाश से देखें –

साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया।।

अर्थात् हे सखि! उस सुन्दर के पास बार-बार जाकर मेरे लिए तुमने बड़ा कष्ट उठाया, अब उसकी आवश्यकता नहीं है, मेरे प्रति अपनी सद्भावना और स्नेह के सदृश जो तुमको करना चाहिए था, वह तुमने कर लिया।

यहाँ मेरे प्रिय के साथ रमण करके तुमने मेरे साथ शत्रुता निबाही है, यह लक्ष्य अर्थ है और उससे कामुक और कामुकी विषयक अपराध का प्रकाशन व्यङ्ग्य है।

व्यङ्ग्य अर्थ के व्यञ्जकत्व का उदाहरण देते हुए आचार्य मम्मट निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं –

---

१. काव्यप्रकाश २.७।

पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव।।

अर्थात् देखो, कमल के पत्ते पर निश्चल और बिना हिले–डुले बैठी हुई बलाका निर्मल मरकत मणि की तश्तरी में रखी हुई शान्त शुक्ति की तरह विदित होती है।

इसमें बलाका निष्पन्द अर्थात् बिना हिले–डुले बैठी है, यह वाच्य अर्थ है। इससे वह सर्वथा आश्वस्त है, उसको किसी प्रकार का भय नहीं है, यह बात लक्षित होती है। इस आश्वस्तत्त्व से यह स्थान विजन एकान्त स्थान है, यह व्यङ्ग्य निकलता है। इस व्यङ्ग्य अर्थ से यह संकेत के लिए उचित स्थान है। यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ निकलता है, इसलिए यह व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण उचित है।

इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों भेदों में शब्द की व्यञ्जकता सिद्ध होती है। व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक शब्द कहलाता है। वह व्यञ्जक शब्द दूसरे अर्थ के योग से अर्थात् अपने मुख्यार्थ को बोधन करने के बाद उस प्रकार का दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है, इसलिए उसके सहकारी रूप में अर्थ भी व्यञ्जक होता है।

अर्थ का व्यञ्जकत्व

वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। उसके साथ लाक्षणिक शब्दों के प्रसङ्ग में प्रयोजन के बोध के लिए व्यञ्जना वृत्ति की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। वह व्यञ्जना शक्ति भी दो प्रकार की होती है। एक शाब्दी व्यञ्जना और दूसरी आर्थी व्यञ्जना। इनमें शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद होते हैं, एक अभिधामूला व्यञ्जना और दूसरी लक्षणामूला व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के इन दोनों भेदों का निरूपण पूर्व में किया जा चुका है। सम्प्रति अर्थव्यञ्जकता अर्थात् उनके ऊपर आश्रित आर्थी व्यञ्जना का वर्णन प्रस्तुत है। वह आर्थी व्यञ्जना किस प्रकार की होती है, इसके लिए आचार्य मम्मट कहते हैं –

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा[१]।।

अर्थात् वक्ता, बोधव्य अर्थात् जिससे बात कही जाय, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, आदि शब्द से ग्राह्य चेष्टा आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभावानों अर्थात् सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है, वह आर्थी व्यञ्जना ही कहलाता है। क्रमशः उदाहरण के प्रसङ्ग में वक्ता के वैशिष्ट्य से अर्थ व्यञ्जकत्व का उदाहरण देते हैं –

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्।।

अर्थात् हे सखि, मैं बड़ा भारी पानी का घड़ा लेकर भागी चली आ रही हूँ। परिश्रम के कारण पसीना और निःश्वास से परेशान हो गयी हूँ, इसलिए थोड़ी देर यहाँ बैठकर विश्राम करूँगी।

इसका अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरने के बहाने उपनायक के पास गयी और उसके साथ सम्भोग करके आ रही है। छिपकर किये गये इस सुरत के चिह्नरूप पसीना आदि उसके मुखपर स्पष्टरूप से व्यक्त हो रहे हैं। उनको देखकर शायद सखी चौर्यरत की शंका कर बैठे, इसलिए कहनेवाली स्त्री उस शङ्का के निवारण के लिए पहले ही कह देती है कि पानी का घड़ा लेकर और जल्दी–जल्दी चलकर आने के कारण यह सब हो रहा है। अर्थात् इस प्रकार वह अपने चौर्यरत को छिपाने का प्रयत्न कर रही है। यह बात वक्ता के वैशिष्ट्य से व्यक्त हो रहा है, चूँकि पूर्व से ज्ञात है कि वक्ता व्यभिचारिणी है।

हिन्दी के निम्नलिखित पद्य को वक्ता तथा बोद्धव्य दोनों के वैशिष्ट्य में विशेष अर्थ की व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

यदि अवसर किन कामना निज पूरन करि लेहु।
ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह क्षणभंगुर देहु।।

---

१. काव्यप्रकाश ३.२१–२२।

यदि इसका वक्ता या बोद्धव्य कोई कामुक व्यक्ति है, तो उससे विषयवासना की पूर्ति व्यङ्ग्य होगी और यदि उसका वक्ता या बोद्धव्य कोई विरक्त पुरुष है, तो उससे धर्म-साधना या मोक्षप्राप्ति व्यङ्ग्य होगी। इस प्रकार यह एक ही दोहा वक्ता और बोधव्य दोनों के वैशिष्ट्य में होने वाली आर्थी व्यञ्जना का उदाहरण है।

काकु का वैशिष्ट्य इस चौपाई में देखिए –

'सोह कि कोकिल विपिन करीला'।

क्या कोकिल करील के वन में सोहाती है? इस वाक्य को काकु अर्थात् ध्वनि को विकृत कर पढ़िए और देखिए व्यङ्ग्य अर्थ कितनी जल्दी से निकलता है कि करील के जंगल में कोकिल का रहना नितान्त अशोभन तथा अनुचित है। बिहारी के इस दोहे के व्यङ्ग्यार्थ पर दृष्टिपात कीजिए –

घाम घरीक निवारिए, कलति ललित अलिपुंज।
जमुना-तीर तमाल तरु मिलति मालती कुंज।।

यह स्वयं रमणोत्सुका नायिका की उक्ति है। इसका अर्थ यह है कि यमुना के किनारे तमाल वृक्ष के पास घनी मालती के कुञ्ज में भ्रमरगण मनोहर गुञ्जार कर रहे हैं। वहाँ तनिक देर बैठकर धूप से बचकर आराम कर लो। इससे रमण के लिए इस मालती कुञ्ज में प्रवेश करो, यह अर्थ वाक्य तथा वाच्य दोनों से व्यङ्ग्य है। अतः वाक्य-वैशिष्ट्य और वाच्य-वैशिष्ट्य दोनों में होने वाली व्यञ्जना का यह एक ही उदाहरण है। प्रस्ताव, देश और अन्यसन्निधि में भी यह पद्य उदाहरण बन सकता है।

काल का वैशिष्ट्य इस सवैये में कितनी रुचिरता से प्रतीयमान अर्थ को बतला रहा है –

भूमि हरी पै प्रवाह बह्यौ जल, मोर नचै गिरि पै मतवारे।
चंचला त्यौ चमकै 'लछिराम' चढ़े चहु ओरन तें घन कारे।
जान दै वीर विदेस उन्हैं कछु बोल न बोलिये पावस प्यारे।
आइहैं ऊबि घरी में घरै घन-घोर सों जीवनमूरि हमारे।।

इस सवैये में पावस का लक्षित वर्णन है, जिससे यहाँ कामोद्दीपक भय व्यञ्जित हो रहा है। नायिका जानती है कि नायक परदेश के लिए बाहर नहीं जा सकता। वह घरी आध घरी में अवश्य ही लौट आयेगा। इस ऋतु में नायक अपनी प्रियतमा को छोड़कर विदेश नहीं जा सकता है, इस बात को मानती हुई नायिका की यह उक्ति है। उसमें कामोद्दीपक भाव व्यक्त हो रहा है।

वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से मिलकर भी इनके उदाहरण दिखलाये जा सकते हैं। शाब्दी व्यञ्जना के अन्त में यह कहा गया है कि शाब्दी व्यञ्जना में शब्द मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है, उसके साथ अर्थ उसका सहकारी होता है। इसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में अर्थ के मुख्य रूप से व्यञ्जक होने पर शब्द की सहकारिता रहती है। इसी बात को आचार्य मम्मट निम्न पंक्तियों में कहते हैं –

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता[१]।।

इस प्रकार वक्ता, बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य से आर्थी व्यञ्जना अर्थात् अर्थ की व्यञ्जकता के दस भेद का कथन किया गया है। उनका विशेष उदाहरण अन्यान्य ग्रन्थों से देखा जा सकता है।

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अधिक चमत्कारिता

साहित्यशास्त्र में व्यञ्जनावृत्ति की सत्ता मानी गयी है। ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की गाड़ी व्यञ्जना के बिना एक पल भी नहीं चल सकती है। यहाँ सीधी तरह से अभिधा द्वारा बात को कहना केवल फूहड़पन है। उसमें कोई चमत्कार नहीं, कोई रस नहीं। ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयों के काम की चीज नहीं है। नैयायिक और वैयाकरण, मीमांसक और वेदान्ती इस नग्न यथार्थवाद से भले ही सन्तुष्ट हो जायँ, पर साहित्यशास्त्र तो रसशास्त्र है। रसास्वादन के बिना सहृदय की तृप्ति नहीं होती है और उस रसाभिव्यक्ति के

---

१. काव्यप्रकाश ४-३५।

लिए व्यञ्जना आवश्यक है। इसलिए कविगण सीधी तरह से बात न कहकर व्यञ्जना द्वारा ही बात को कहना अधिक पसन्द करते हैं। कवियों की वर्णनशैली के विषय में किसी ने लिखा है –

व्यङ्ग्यप्रधानाभिनवैव भङ्गी मुख्यार्थबाधः परमप्रकर्षः।
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्।।

अपनी इस वक्रोक्ति और मुख्यार्थबाधवाली शैली पर उन कवियों को गर्व है। उनका कहना है कि जब वेदों ने भगवान् की स्तुति की है, तो उसमें भगवान् को वैयाकरण या नैयायिक, मीमांसक या वेदान्ती नहीं कहा है। अपितु बार-बार 'कवि' कहकर ही उनकी स्तुति की है –

स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः।।

इस कवित्व की कसौटी और काव्य का प्राण व्यञ्जना है।

वाच्यार्थ सब ज्ञाताओं के प्रति एकरूप ही होता है, इसलिए उसका स्वरूप निश्चित है; क्योंकि 'गतोऽस्तमर्कः' सूर्य छिप गया इत्यादि में वाच्यार्थ कहीं भी बदलता नहीं है, अपितु सब जगह एक सा ही रहता है। परन्तु उस प्रकरण के वक्ता, बोद्धा आदि की सहायता से प्रतीयमान अर्थ अलग-अलग हो जाता है। जैसे कि सूर्य छिप गया इस वाक्य को यदि दूती नायिका से कहती है, तो नायक के पास अभिसरण की तैयारी करो, यह, यदि सखी नायिका से कहती है, तो तुम्हारे पति आते ही होंगे यह, इसी प्रकार कहीं हम काम समाप्त करते हैं यह, कहीं सन्ध्याकालीन विधि करनी चाहिए यह, कहीं दूर मत जाना यह, कहीं गायों को घर ले जाओ यह, कहीं अब गर्मी नहीं रही यह, कहीं दूकान बढ़ाओ, विक्रय वस्तुओं को समेटना चाहिए यह, और कहीं अब तक भी प्राणनाथ नहीं आये यह, इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थलों पर अनन्त प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है, इसलिए वाक्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की संख्या में भी भेद होने से व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य से भिन्न चमत्कारी अर्थ मानना होगा। वाच्य और व्यङ्ग्य में स्वरूपभेद, प्रतीतिभेद, काल के भेद, आश्रय भेद, निमित्त भेद, कार्यभेद, संख्या भेद और विषय भेद होने से भी वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ का भेद सिद्ध होता है। इसीलिए वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ के अधिक

चमत्कारयुक्त होने पर उत्तम काव्य माना गया है और विद्वानों ने उसको ध्वनि क़ाव्य के नाम से कहा है। व्यङ्ग्य के तीन प्रकार के होने से इस ध्वनि के भी तीन भेद होते हैं। जैसे कि उन तीनों प्रकार के व्यङ्ग्यों में कोई वस्तु तथा अलङ्कार रूप दो प्रकार का ध्वनि वाच्यता को सहन कर सकता है, अर्थात् वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि के रूप में जो अर्थ व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत होता है, वह अर्थ अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है और कोई रस ध्वनि अन्य प्रकार का अर्थात् वाच्यता का सहन न करनेवाला, कभी वाच्य न हो सकने वाला होता है। रसादि रूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता है। रसादि ध्वनि तो सदा व्यङ्ग्य ही होता है, वाच्य कभी भी नहीं होता है।

इसी प्रकार अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दोनों भेदों में वस्तुमात्ररूप व्यङ्ग्य के बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती है।



चतुर्थ उन्मीलन
रसस्वरूप विमर्श

रस के स्वरूप के विषय में अर्वाचीन आलोचकों तथा प्राचीन आलङ्कारिकों में पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है, रस के आस्वाद का स्वरूप क्या है? इसके विषय में बड़ा मतभेद है। आलोचकों का बहुमत इसी पक्ष में है कि रस आनन्दरूप और सुखात्मक है, परन्तु कतिपय आलोचकों की दृष्टि में रसों की सुखानुभूति में तारतम्य है। एक ही प्रकार की सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रस के आस्वाद में उत्पन्न नहीं होती। किसी में इस अनुभूति की मात्रा तीव्र होती है और किसी में सौम्य। अनेक आलोचक सब रसों में इस अनुभूति को सुखात्मक भी नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में रस की अनुभूति निश्चित रूप से सुखात्मक है, परन्तु करुण, भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों की अनुभूति दुःखात्मक है – या सुख और दुःख का मिश्रण है।

भारतीय आलङ्कारिकों की दृष्टि में रस आनन्दात्मक ही होता है, परन्तु कुछ आलोचक रस को दुःखात्मक मानने के पक्षपाती हैं –

१. नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने इस मत का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धान्त है कि 'सुखदुःखात्मको रसः' अर्थात् रस में सुख और दुःख दोनों होते हैं। भयानक, वीभत्स, रौद्र तथा करुण रस के वर्णनों के श्रवण या दर्शन से श्रोता तथा दर्शकों के चित्त में एक विचित्र प्रकार का क्लेश होता है। इन रसों के अभिनय से इसीलिए दर्शक उद्विग्न होते हैं। सुख के आस्वाद से उद्वेग उत्पन्न नहीं होता। अतः उद्वेग का उदय ही स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसों की अनुभूति सुखात्मक नहीं है। दुःखात्मक अनुभूति होने पर भी सामाजिक की प्रवृत्ति इसीलिए होती है कि कवि की शक्ति और नट के कौशल से वस्तु के प्रदर्शन में विचित्र चमत्कार का उदय होता है। इसी चमत्कार से दर्शक दुःखात्मक दृश्यों को भी देखने के लिए व्याकुल रहता है। दर्शक की प्रवृत्ति का यही कारण है। 'रस कलिका' के लेखक रुद्रभट्ट इसी

मत से सहमत हैं। वे भी करुण रस की अनुभूति को दुःखात्मक मानते तथा रस को सुख-दुःख दोनों के मिश्रित रूप में स्वीकार करते हैं।

२. प्रसिद्ध अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती भी इसी मत का आंशिक रूप से समर्थन करते हैं। उन्होंने सांख्य तथा वेदान्त पक्ष का अवलम्बन कर रस-निष्पत्ति की द्विविध प्रक्रिया बतलायी है। सांख्यमतानुयायी व्याख्या में रस की अनुभूति के अवसर पर आनन्द में तारतम्य दिखलाया है। उनके मतानुसार क्रोधमूलक रौद्र रस में तथा शोकमूलक करुणरस में विशुद्ध आनन्द की सत्ता नहीं होती, प्रत्युत रज तथा तम के मिश्रण से सब रसों में एक समान सुख का अनुभव नहीं होता।

परन्तु रसानुभूति का यह एक पक्ष है, जो युक्तिहीन होने से न तो माननीय है और न आदरणीय ही। इसका कारण गम्भीर है। अखिल विश्व में व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य कर तैत्तिरीयश्रुति कहती है – **'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति'**।

वह रस रूप हैं। रस को पाकर संसार का प्राणी आनन्दित होता है। यह रसात्मक ब्रह्म जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जब रम जाता है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थों के रस के उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। सच तो यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है और काव्य में गृहीत होने पर आनन्ददायक है। भाव दो प्रकार के होते हैं – १. बोध्यनिष्ठ और बोद्धृनिष्ठ – अर्थात् वर्णनीय विषय में रहनेवाला तथा बोद्धा – सामाजिक – के हृदय में रहनेवाला। इन दोनों में बोध्यनिष्ठ स्थायीभाव अपने स्वभावानुसार सुख, दुःख तथा मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है, परन्तु बोद्धा सामाजिक के चित्त में रहने वाले समस्त भाव केवल सुख के ही कारण होते हैं।

इस पार्थक्य का एक गम्भीर कारण है। भाव दो प्रकार के होते हैं – लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक भावों का सम्बन्ध संसार से है और इसलिये वे संसार के नाना परिणामों को उत्पन्न करते हैं। कभी वे सुखदायक होते हैं और कभी दुःखदायक। कभी वे मोह पैदा करते हैं और कभी शोक। वे ही भाव काव्य में वर्णित तथा नाट्य में प्रदर्शित होने पर अलौकिक कहलाते हैं। अलौकिक भाव केवल आनन्द के ही जनक होते हैं। लौकिक भाव वैयक्तिक होते हैं – वे किसी विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अलौकिक भाव

साधारणीकृत होते हैं अर्थात् वे सर्वसाधारण के होते हैं। मनुष्य को लोक में अपनी वस्तु से प्रेम उत्पन्न होता है, शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है, और तटस्थ व्यक्ति की वस्तु से उदासीनता उपजती है, परन्तु शब्द के माध्यम द्वारा वर्णित होते ही इन भावों में एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वे व्यक्तिगत सम्बन्ध से दूर हटकर सर्वसाधारण के भाव बन जाते हैं। इस दृश्य में उनसे आनन्द ही उत्पन्न होता है। रंगमंच पर अभिनीत 'शकुन्तला' किसी प्राचीन युग की सुन्दरी नहीं होती, प्रत्युत वह कमनीय नायिका की प्रतिनिधि बनकर ही वहाँ उपस्थित होती है। इस साधारणीकरण व्यापार के द्वारा प्रत्येक काव्य-वस्तु किसी व्यक्ति का सम्बद्ध पदार्थ न होकर रसिकमात्र से सम्बद्ध बन जाती है तथा अलौकिक होने से वह केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है। रस के सुखात्मक होने में यही बीज है।

रस की अनुभूति

रस का अनुभव द्रष्टा (दर्शक) होने पर ही होता है। प्रकृति में लीन होने पर नहीं। द्रष्टा का अर्थ है तटस्थ रूप से किसी वस्तु के रूप को देखने वाला। यदि हममें तटस्थ रूप से पदार्थों के देखने की क्षमता नहीं है, तो हम रस का अनुभव भी नहीं कर सकते। काव्य की अनुभूति का यही तत्त्व है। कला में भी यही नियम संगत होता है। यह अनुभूति न न्यायमत में ठीक उत्पन्न होती है, न सांख्यमत में। इसके लिए बहुत ही गम्भीर तथा व्यापक कारण है। वेदान्त मत के अनुसार रस की व्याख्या आचार्यों ने, विशेषतः पण्डितराज जगन्नाथ ने, अवश्य की है, परन्तु वह ठीक जमती नहीं। वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों के साथ रस प्रक्रिया के तथ्यों का मेल नहीं खाता। दोनों में कतिपय मौलिक अन्तर है।

वेदान्त के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है – (१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द और (३) रसानन्द। ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है। वह स्वयं आनन्दरूप है। उसी आनन्दमय ब्रह्म से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। आनन्द की उच्चतम कोटि ब्रह्मानन्द है, जिसके अन्तर्गत जगत् के समस्त आनन्द सिमट कर एकत्र हो जाते हैं। उपर्युक्त तीनों आनन्दों में विषयानन्द हेय है तथा अन्य दोनों आनन्द उपादेय हैं। विषयानन्द की अपेक्षा रसानन्द नितान्त विलक्षण और उदात्त है। विषयानन्द लौकिक है और रसानन्द अलौकिक। ब्रह्मानन्द और रसानन्द में आकाश-पाताल का अन्तर है। ब्रह्मानन्द वासना या कामना के

नाश से उत्पन्न होता है, परन्तु रसानन्द में वासना का नाश नहीं होता, प्रत्युत वासना का शोधन होता है। जगत् की दशा में 'वासना' होती है अशुद्ध, जो हमें विषय की ही ओर ले जाती है। इस वासना का जब नाश होता है, तभी वेदान्तसम्मत मुक्ति का उदय होता है। उधर रसदशा में वासना की आवश्यकता बनी रहती है। स्थायी भाव रस के रूप में परिणत होता है और यह स्थायी भाव ही वासनारूप होता है। अतः वेदान्त की प्रक्रिया में रस की निष्पत्ति ठीक नहीं जमती। वेदान्त में काम का सर्वथा उन्मूलन अभीष्ट होता है। परन्तु रसशास्त्र में काम का शोधन आवश्यक होता है। वासना में एक बड़ा दोष रहता है कि वह सकाम हुआ करती है। सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत करने पर ही रस का उन्मीलन होता है। इसका नाम है साहित्य में – भावशुद्धि; बौद्धदर्शन में 'परावृत्ति' तथा आधुनिक मनोविज्ञान में 'सब्लिमेशन' (उदात्तीकरण)। भावों की अशुद्धि का कारण होता है उनका व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध। 'मेरी यह रति है' – यह सम्बन्ध स्थापित करते ही वह हीनभाव तथा अशुद्ध हो जाता है। व्यक्ति सम्बन्ध से हटाते ही वह विशुद्ध बन जाता है। अतः भाव–शोधन का कार्य शास्त्र 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा करता है।

निष्कर्ष यह है कि 'ब्रह्मानन्द' वासना के क्षय पर आश्रित आनन्द है और 'आनन्द' वासना की शुद्धि पर अवलम्बित आनन्द है। अतः वह पहिले से भिन्न है। इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहलाता है ब्रह्मस्वरूप नहीं। इस पार्थक्य का यह मुख्य कारण है। अन्य कारणों का उल्लेख अन्यत्र किया गया है। रसानन्द के स्वरूप का विवेचन करते हुए डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे कहते हैं – "न रसो मनोरञ्जनमात्रं, काल्पनिकसुखास्वादो वा, लौकिक भावानुसारिणा बा मनसा तद्विषयास्वादः स्वाभाविकस्य वा चिदानन्दस्य आस्वादः, सहि भावत्यङ्ग्य सत्यसाक्षात्कारः आत्मावभासो वा" (भक्तिरसविमर्शः पृ० ११२)

पण्डितराज जगन्नाथ और अभिनवगुप्त ने रस की बड़ी मीमांसा की है। अभिनवगुप्त का मत है कि वस्तुतः आनन्द ही रस है। रस एक है, अनेक नहीं। रस, रस ही है। उसके लिए किसी पर्यायवाची शब्द की आवश्यकता नहीं है। रस ब्रह्म के समान है। जिस प्रकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं, उसी प्रकार शृंगार, हास्य आदि रस की अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुतः असत्य हैं। रस अंशी है। शृंगारादि रस उसके अंशमात्र हैं। अभिनवगुप्त ने मूल स्थानीय रस के लिए 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अंशभूत रसों को केवल 'रस' कहा है। रस की एकरूपता की सिद्धि के लिए भरत ने निम्नांकित विख्यात वाक्य में एकवचन का प्रयोग किया है –

"न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"।

कवि कर्णपूर ने 'अलङ्कार–कौस्तुभ' में लिखा है कि आनन्दमय रस ही 'महारस' है। अन्य रस उस मूल महारस के केवल विकारमात्र हैं। इसलिए रस वस्तुतः एकरूप ही है। भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धान्त है – एको रसः।

नाट्य रस –

नाट्य रस के उन्मेष का सबसे अधिक रम्य प्रतीक है। इसलिए भरतनाट्य-शास्त्र में उसे नाट्यरस की संज्ञा प्राप्त है। नाट्य रस की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है –

(१) नाट्य के समुदायरूप से उत्पन्न रस।

(नाट्यात् समुदायरूपाद् रसः)

(२) नाट्य ही रस है। रस–समुदाय ही नाट्य है।

(नाट्यमेव रसः। रससमुदायो हि नाट्यम्)

इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य, रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। यह व्याख्या काव्य में रस की सत्ता का निराकरण नहीं करती। नाट्य रस के उपकरणभूत विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव कराता है। यही योग्यता जब श्रव्यकाव्य को भी प्राप्त होती है, तभी काव्य में रस का आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्य में भी यह 'प्रत्यक्ष साक्षात्कार' कवि की अलौकिक वर्णनशक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का यह सम्मानीय सिद्धान्त है –

रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थ के विषय में भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कार के उदय पर ही रस का उदय सम्पन्न होता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि रूपक की पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नटजन्य? इस विषय में भारतीय आलोचकों की यह स्पष्ट सम्मति है कि नाटक की रोचकता में नट की अपेक्षा कवि का चमत्कार अधिक होता है। इसलिए भोजराज अभिनेता की अपेक्षा कवियों को तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य (रूपक) को सर्वाधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करने के पक्षपाती हैं।

"अतो अभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमन्यामहे।
अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति।।"

दृश्य तथा श्रव्य काव्यों की मौलिक एकता संस्कृत आलोचना में विद्यमान रहती है। कारण यह है कि दोनों समान प्रतिभा के विलास हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र में रूपक का रचयिता तथा श्रव्य काव्य का निर्माता दोनों ही समान रूप में 'कवि' कहलाते हैं। पाश्चात्य साहित्य में 'ड्रामेटिस्ट' (नाटककार) तथा 'पोयट' (कवि) में शब्दतः तथा अर्थतः पार्थक्य किया जाता है, परन्तु हमारे साहित्य में दोनों ही कवि हैं। समस्त साहित्यिक रचना काव्य के नाम से ही अभिहित की जाती है और यही काव्यरूपक, श्रव्य काव्य और गीतिकाव्य आदि नाना विभेदों में विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्य के द्वारा सामाजिकों के हृदय में रागात्मिका वृत्ति का उदय करानेवाली वस्तु को काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य में कवि स्वयं वर्णन, कथन तथा चित्रण के द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता है, जिससे श्रोता के हृदय में शीघ्र ही रस का उन्मीलन होता है। रूपक में भी यही कार्य है, यही ध्येय है, परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटों के द्वारा। अतः आनन्द के उदय की दृष्टि से दोनों में यही तारतम्य है। महिमभट्ट ने इस विषय का एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्तिविवेक में उद्धृत किया है –

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्।।

पाश्चात्य आलोचक भी इस मत से सहमत हैं। अरस्तू का कहना है कि महाकाव्य के समान ही दुःखान्त रूपक, अभिनेय के बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है – केवल पठन-मात्र से वह अपनी शक्ति का उन्मीलन करता है। अनेक पश्चिमी विद्वानों का यह विचार है कि नाटक के लिए अभिनेयता अत्यन्त आवश्यक गुण नहीं है। परन्तु 'काव्यत्व' होना अनिवार्य है। इन पश्चिमी आलोचकों के मतानुसार भी दृश्य तथा श्रव्य काव्य की भौतिक एकता सिद्ध होती है।

प्रकृति और रस

कवि अपने काव्य में प्रकृति का वर्णन बड़ी सजीवता के साथ करता है। प्रकृति और रस में क्या सम्बन्ध है? यह विचारणीय प्रश्न है। प्रकृति क्या किसी विशिष्ट रस के उदय में समर्थ होती है? प्रकृति से रस या भाव के उदय के सम्बन्ध में आलोचकों में वैमत्य नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह भाव या रस सर्वथा सब परिस्थितियों में एक ही रूप रहता है अथवा नाना भावों या नाना रसों का आविर्भाव परिस्थिति की अनुकूलता या विषमता के कारण हुआ करता है।

आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता, जो विभाव का रूप धारण कर रस का अंश नहीं बन जाता। रस आदि चित्तवृत्ति विशेष ही तो है। ऐसी दशा में उस पदार्थ का सर्वथा अभाव है, जो किसी विशिष्ट चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् जगत् का क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थ, महान् से महान् पदार्थ द्रष्टा के हृदय में किसी विशेष चित्तवृत्ति को अवश्यमेव उत्पन्न करता है। यदि वह किसी चित्तवृत्ति का उत्पादन नहीं करता, तो काव्य का विषय ही नहीं बन सकता।

प्रकृतिगत पदार्थ इस नियम का अपवाद नहीं है। सुतरां वे भी द्रष्टा के हृदय में किसी विशिष्ट वृत्ति के उत्पादन की क्षमता रखते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन की स्पष्ट उक्ति है –

भावान् अचेतनानपि चेतनवद अचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।।

(ध्वन्या०, ३, पृ० ५५१)

आनन्दवर्धन के इस कथन का यही तात्पर्य है कि बाह्य प्रकृति में स्वतः किसी विशिष्ट भाव की सत्ता नहीं होती। कवि ही अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार उसमें परिस्थिति के अनुकूल भावों का आरोप किया करता है।

संस्कृत के भावुक कवियों का प्रकृति वर्णन आनन्दवर्धन के नियम का साक्षात् परिचायक है। मेघदूत के विरह से विधुर यक्ष की दृष्टि में निविन्ध्या नदी वियोगसन्तप्ता नायिका के समान अपना दयनीय जीवन बिता रही है –वियोग की आग में झुलसी हुई नायिका के समान नायक (मेघ) के सौभाग्य की सूचना दे रही है –

वेणीभूतप्रतनुसलिला सावतीस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः।।

(मेघदूत, पूर्व भाग, श्लोक २९)

प्रकृति और भाव

बाह्य वस्तु का प्रथम प्रभाव कवि के चित्त पर पड़ता है। वह उसके निरीक्षण में तन्मय होकर अपने चित्त में एक विशिष्ट वृत्ति का उदय करता है।

यह हुआ कवि चित्त में रस-संचार। प्रकृति के स्पर्श से कवि के चित्त में कौन-सा भाव उठेगा? यह प्रधानतया कवि की तात्कालीन चित्तावस्था (मूड) पर अवलम्बित होता है। इस विषय में मनोवैज्ञानिक मिचेल का यह कथन मनन करने योग्य है कि सूर्य से उद्भाषित समुद्र के ऊपर यदि हम दृष्टिपात करते हैं, तो वह सरल भाव से अथवा कपट भाव से मुस्काता दीख पड़ता है। यह सब हमारी मानसिक अवस्था का एक विशिष्ट व्यापार होता है।

प्रकृति की एकरूपावली (एकात्मिका) आकृति दर्शकों की चित्तवृत्ति की भिन्नता के कारण नाना रूप धारण करती है। रात की एकान्तता में जोर से बहनेवाली हवा का स्पर्श किसी के चित्त में भय, किसी के चित्त में शान्ति आदि भावों को उत्पन्न करता है। प्रकृति न तो स्वतः भय का संचार करती है और न स्वतः शान्ति का उद्गम करती है। यह अनुभवकर्ता की चित्तवृत्ति की ही विषमता है, जो उसे नाना रूपों में अंकित करती है।

मूल रस की मीमांसा

ऊपर प्रतिपादित किया गया है कि मूलतः रस एक ही है और स्थायी भाव की भिन्नता के कारण उसी से नाना रसों का अनुभव होता है। अब विचारणीय प्रश्न है कि वह मूल रस कौन है? प्रकृतिरस कौन है? जिसकी विकृति नाना रसों के द्वारा उपस्थित की जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं तथा उनके भिन्न-भिन्न तर्क हैं।

(१) भवभूति एवं करुण रस

महाकवि भवभूति की सम्मति में करुणरस ही वह मूलभूत रस है। इस मत का प्रतिपादन उन्होंने अपने 'उत्तररामचरितम्' नाटक के इस प्रख्यात पद्य में किया है –

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमया विकारान्
अम्भो यथा, सलिलमेव तु तत् समग्रम्।।

(तृतीय अंक)

मुख्य रस एक ही है और वह करुण है। वह निमित्त की भिन्नता से, कारणों के भेद से, भिन्न-भिन्न विकृति को प्राप्त होता है। करुण ही स्थायी भावों

की भिन्नता के कारण शृंगारादि रसों के रूप में अवतीर्ण होता है। इस विषय में उसकी तुलना जल से की जा सकती है। हवा के झोंकों के अन्तर के कारण वही जल कभी आवर्त बन जाता है, कभी वही बुद्बुद बन जाता है और कभी वह उत्ताल तरंगों का रूप धारण करता है। वह सब जल ही जल होता है, परन्तु निमित्त के कारण विभिन्न आकारों को धारण करता है। करुण रस की भी यही स्थिति होती है।

करुण रस में शोक स्थायी भाव रहता है। अतः किसी प्रियजन की मृत्यु से जो शोक उत्पन्न होता है, वही इस रस में स्थायी भाव माना जाता है। फलतः मृत्यु से आनन्द की उत्पत्ति व्यावहारिक दृष्टि से अनुचित तथा विरुद्ध है; इसलिए इसकी मीमांसा हमारे आचार्यों ने बड़ी छान-बीन के साथ की है। उनका कथन है कि शोक में दुःखाभिव्यञ्जना की शक्ति तभी तक है, जब तक वह अलौकिक वस्तु की विभावना करने लगता है और तब उससे आनन्द की प्राप्ति होती है; दुःख का उदय नहीं होता।

अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यात् सुव्यक्तमिति स्थितिः।

(भक्ति-रसामृत-सिन्धु २।५।०६)

करुण रसात्मक नाटक के देखने का आग्रह भी इसलिए होता है कि वे आनन्ददायक होते हैं। दुःख की प्रतीति होने पर उनके पास कोई भी नहीं फटकता। दुःख की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है, दुःख की प्राप्ति के लिए नहीं। सीता-वनवास, सत्य हरिश्चन्द्र आदि करुणरस से संवलित नाटकों का अभिनय उसी प्रकार आकर्षक होता है, जैसे मिलन-प्रधान नाटकों का। आँसुओं का गिरना, रोमाञ्च का होना चित्त के द्रवीभूत होने से ही होता है। यह आनन्द के अभिव्यञ्जक चिह्न हैं, शोक के नहीं।

एक बात और। दुःख होने पर सहानुभूति का उदय सुख होनेवाली घटनाओं की अपेक्षा अधिक होता है। दुःख में दुःखी होना समचित्तता तथा सहानुभूति का प्रकट चिह्न होता है। फलतः करुण का आकर्षण विश्वव्यापी है और अधिकतम व्यापक है। इसलिए भवभूति के द्वारा करुण के आदिरस मानने की उक्ति को हम तर्कयुक्त मान सकते हैं।

(२) भोजराज का शृंगाररस

भोजराज (१२ शती) शृंगाररस को प्रकृतिरस मानने के पक्षपाती हैं।

उन्होंने 'श्रृंगाररस' नामक विपुलकाय तथा प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना इसी तत्त्व के प्रतिपादन के निमित्त की है। उनका स्पष्ट कथन है –

श्रृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य-
वीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।।

(श्रृंगार प्रकाश)

उनकी श्रृंगाररस की कल्पना विलक्षण है। वे श्रृंगार को अभिमान रूप मानते हैं और इसे अन्य रसों के भीतर प्राणरूप से प्रतिष्ठित करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान इस मत की वैज्ञानिकता की यथेष्ट पुष्टि करता है। इसीलिए श्रृंगार को रसराज के नाम से पुकारते हैं।

(३) नारायण पण्डित आश्चर्यरस

साहित्यदर्पण के अनुशीलन से पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती) के पूर्वज कोई नारायण पण्डित आलोचक थे, जिन्होंने 'आश्चर्य रस' को ही आदिरस माना है। उनका कथन है कि प्रत्येक रस में जब तक विस्मय की बात सामने नहीं आती, तब तक वह श्रोताओं तथा द्रष्टाओं के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता। सामान्य बातों से श्रोताओं का न तो मनोरंजन होता है, और न उनके हृदय का अनुरंजन। फलतः असामान्य बातें काव्य में होनी ही चाहिए और इसलिए आश्चर्य को मूलरस मानना चाहिए। इसी मत को मूल मानकर शक्तिभद्र ने रामकथा में आश्चर्य रस से समन्वित 'आश्चर्यचूड़ामणि' नामक प्रौढ़ नाटक की रचना की है। धर्मदत्त ने नारायण के द्वारा अद्भुत रस की मान्यता की बात अपने ग्रन्थ में लिखी है –

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।

(४) रूप गोस्वामी एवं मधुररस

यह मत गौड़ीय वैष्णवों का है जिन्होंने, श्री चैतन्यदेव के द्वारा प्रचारित मत तथा उपासना को अपने सिद्धान्त का सारभूत तत्त्व माना है। यह मत संक्षेप

में इस पद्य में प्रदर्शित किया गया है –

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः।।

इस मत में गोपियों की उपासना ही आदर्श मानी गई है। वे भगवान् आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र की उपासिका थीं। भगवान् में उनकी रति स्वाभाविक थी। उनकी अटूट श्रद्धा तथा नैसर्गिक रति श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द की सेवा में थी और इसलिए उनके हृदय में शुद्ध भक्ति का उदय हुआ। यही इस बात की आदर्श उपासना है। अतः इनके मत में श्रीकृष्ण के प्रति रति ही इस रस का स्थायीभाव है। वह स्थायीभाव अपने उचित विभावादिकों के द्वारा पुष्ट होने पर 'मधुररस' के नाम से विख्यात होता है। यही सर्वश्रेष्ठ आदिभूत रस है और इसी की विकृतियाँ शृंगारादि अन्य रस हैं। श्री गोस्वामी ने इस मत का प्रौढ़ प्रतिपादन 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' में बड़े विस्तार के साथ किया है।

काश्मीर के आचार्यों के मत का भी समन्वय यहाँ किया गया है। ये आचार्य लोग देवविषयक रति को 'भाव' ही मानते हैं, उसे वे रसकोटि में निविष्ट नहीं मानते। इसीलिए मम्मट की यह प्रसिद्ध उक्ति है –

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः[१]**।।**

इस मत से भी यहाँ विरोध नहीं है। श्री रूपगोस्वामी का युक्तिवाद यह है कि 'मधुररस' में श्रीकृष्णविषयक रति ही स्थायी भाव है, देवविषयक रति नहीं। श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही ठहरे – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् (भागवत)। अतः भगवान् के विषय में किया गया प्रेम ही भक्तिरस में परिणत होता है। देवविषया रति में इतनी क्षमता तथा स्थायिता नहीं है कि वह रसमयी प्रौढ़ि की प्राप्ति कर सके। फलतः उसे हीन होना ही चाहिए। अतः देवविषया रति तो भावमात्र है, परन्तु भगवद्विषया रति स्थायीभाव है और इस स्थायी भाव से

---

१. काव्यप्रकाश ४-३१-३४।

प्रबुद्ध होनेवाला रस 'मधुररस' के नाम से विख्यात है। यही मूल रस है। इसके विषय में आलोचकों की यही मीमांसा है कि यह शुद्ध साहित्यिक रस नहीं है, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में धर्म के प्रवेश से जायमान यह कल्पना है। जो भी हो, यह कल्पना नवीन है और तर्कमण्डित होने से चिन्त्य नहीं है।

(५) अभिनवगुप्त एवं शान्तरस

काश्मीरी आलोचकों की सम्मति में शान्तरस ही आदिरस और मोक्षकारक होने से मुख्यरस है[१]। अभिनवगुप्त उस मत के प्रतिनिधि आलोचक हैं। इस मत का युक्तिवाद यह है कि रस आनन्द-रूप होता है। शृंगारादि रसों में यह आनन्द रत्यादिकों के द्वारा व्यवच्छिन्न होता है अर्थात् रति उसके आनन्द के रूप को अपनी प्रभुता से एक प्रकार व्यावृत्त कर लेती है, जिससे आनन्द की विशुद्धि जाती रहती है और वह अपने मूल रूप से हटकर विकृत दशा को प्राप्त कर लेता है। प्रकृत दशा में रस विशुद्ध आनन्दरूप रहता है और यह दशा शान्तरस में ही सम्भावित है। शान्तरस का स्थायीभाव है शम। जब चित्त संसार के प्रपंचों से हटकर शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब शान्ति का उदय होता है। तब चित्त को विकृत करने के लिए न किसी सजातीय वृत्ति का उदय होता है और न विजातीय वृत्ति का। फलतः चित्त अपने विशुद्ध सात्त्विक रूप में सर्वदा विद्यमान रहता है और तभी शान्तरस होता है। बाह्य वस्तु के आने पर जब यह चित्त उसके आकार को ग्रहण कर लेता है, तब उसमें तदाकार वृत्ति का उदय होता है। इस दशा में शृंगारादि रसों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस मत में शान्त ही मूल रस है और अन्य रस उसी की विकृतियाँ हैं।

प्रत्यभिज्ञावादी शैव दार्शनिकों का मत यही है। वे हृदय की उपमा अष्टदल कमल से देते हैं। कमल में आठ दल होते हैं और बीच में होती है कर्णिका। उसी प्रकार रति, शोक, हास आदि आठ स्थायी भावों का उदय होता है और हृदय के केन्द्र या कर्णिका में विद्यमान रहता है – शान्त रस, जिसमें रति आदि भावों की साम्यावस्था रहती है। अपने विशिष्ट निमित्त को लेकर ये शृंगारादि रस उसी मूलभूत रस से उत्पन्न हुआ करते हैं। इन दार्शनिकों का यही सिद्धान्त है, जो आलोचना-जगत् में सर्वथा मान्य है। भरतमुनि के एक प्रसिद्ध श्लोक की व्याख्या करते समय अभिनवगुप्त ने इस मत का उत्थान दिखलाया है। वह श्लोक है –

---

१. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानमः (लोचन टीका)

स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।

(नाट्यशास्त्र, अध्याय ६)

विशेष दार्शनिक युक्तियों से मण्डित तथा तर्क से समर्थित होने के कारण इस विषय में यही अन्तिम मत प्रामाणिक माना जा सकता है। अनेक आचार्यों की यही सम्मति है।

रसोन्मीलन में विभिन्न मत

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की सबसे पहली प्रतिष्ठा अपने नाट्यशास्त्र में की। इस विषय में उनका प्रसिद्ध सूत्र है – **विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है। भरत की इस सूत्र की व्याख्या बड़ी ही सीधी-सादी है, परन्तु उनके टीकाकारों ने इसके व्याख्यान में अपनी प्रतिभा तथा विशिष्ट मत का पूरा उपयोग किया है।

१. भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाटक के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है, वह रस कहलाता है। लोल्लट भरतसूत्र के व्याख्याकारों में उत्पत्तिवाद के मानने वाले हैं। उनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को बोधित करने वाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रस के परिपोषक होते हैं। अतः स्थायीभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य-उत्पादक भाव, अनुभावों का गम्य-गमक भाव और व्यभिचारिभावों का पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होता है। इसलिए भरतसूत्र में जो 'संयोग' शब्द आया है, भट्टलोल्लट के मत में उसके भी तीन अर्थ हैं। विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भाव सम्बन्ध, अनुभावों के साथ गम्य-गमक भाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषक भाव रूप सम्बन्ध संयोग

शब्द का अर्थ होता है। इसलिए संयोग शब्द की व्याख्या में क्रमशः जनितः, प्रतीतियोग्यः कृतः तथा उपचितः इन पदों का प्रयोग किया जाता है। दूसरी बात यह है कि इस मत में रस मुख्य रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है और उनका अनुकर्ता होने के कारण गौणरूप से नट में भी रस की स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिक में रस की उत्पत्ति नहीं होती है। तीसरी बात यह है कि जैसे भरतसूत्र में आये हुए 'संयोग' शब्द के तीन अर्थ यहाँ माने गये हैं, उसी प्रकार भरतसूत्र में आये हुए निष्पत्ति शब्द के भी तीन अर्थ समझने चाहिए। विभाव के साथ स्थायिभाव का संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध होने पर रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। यहाँ निष्पत्ति शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' होता है। अनुभावों के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमक भाव सम्बन्ध होने पर रस की निष्पत्ति अर्थात् प्रतीति होती है। यहाँ निष्पत्ति शब्द का अर्थ प्रतीत होता है और व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति अर्थात् पुष्टि होती है। यहाँ निष्पत्ति शब्द का अर्थ पुष्टि होता है।

इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। मीमांसा से यहाँ उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त को ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भय आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अभिनय आदि के समय रामादिगत सीताविषयिणी अनुरागादि रूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् उत्तरमीमांसा या वेदान्त का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्या के करने वाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।

भट्ट लोल्लट के मत की न्यूनता

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौणरूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है। परन्तु सामाजिक को रसानुभूति क्यों होती है, इस समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि

अनुकार्य सीता–राम आदि तो अब इस जगत् में नहीं हैं। अतः इस समय किये जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ये दो इस व्याख्या के मुख्य दोष हैं। इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्यों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

शंकुक का अनुमितिवाद

न्याय-सिद्धान्त के अनुयायी भरतसूत्र के दूसरे टीकाकार शंकुक ने इस सूत्र की दूसरे प्रकार की व्याख्या उपस्थित की है। उसमें उन्होंने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया है। वह '**अनुमितिवाद**' के नाम से प्रसिद्ध है। विभाव आदि अनुमापक होते हैं और रस होता है अनुमाप्य। दोनों में अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार 'धूम की सत्ता होने से यह पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमान नैयायिक पद्धति पर किया जाता है, उसी प्रकार विभाव आदि के अनुकरण करने से हम अनुमान करते हैं कि यह नट रस से युक्त है। अभिनय की कला में चतुर तथा काव्य नाटक में व्युत्पत्ति रखने वाला नट रंगमंच के ऊपर इतनी रोचकता से मूलपात्रों का अभिनय करता है कि दर्शक आनन्द से विभोर हो उठता है; क्योंकि वह नट को ही राम से अभिन्न समझता है ठीक चित्रतुरग की तरह। जिस प्रकार चित्र में चित्रित तुरंग वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी घोड़ा माना ही जाता है, उसी प्रकार नट भी अपनी अभिनयकुशलता के कारण राम से भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही माना जाता है। अतः राम में जो रस वस्तुतः उत्पन्न होता है, वही रस नट में भी अनुमान के द्वारा आरोपित किया जाता है। सामाजिक, नट के द्वारा रत्यादि भाव का प्रकाशन देखता है और यह अनुमान कर लेता है कि नट के हृदय में रत्यादि भाव रस के रूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक का यह अनुमान नैयायिक अनुमान की तरह नहीं होता, प्रत्युत विलक्षण अनुमान होने से रसपूर्ण होता है तथा सामाजिक को स्वयं भी रसानुभव होता है।

श्री शंकुक के इस मत में भी रस की स्थिति रामादिपात्रों में ही मानी गयी है; किन्तु पूर्व मत के समान श्री शंकुक सामाजिकों में रस का सर्वथा अभाव नहीं मानते। वस्तुतः रस राम में ही रहता है और तदुपरान्त नट में अनुमानतः सिद्ध माना जाता है। दर्शक को इस अनुमान से ही यत्किञ्चित् आनन्द आता है। परन्तु प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान में विशेष आनन्द नहीं आता।

शंकुक के मत की न्यूनता

शंकुक ने सामाजिक में रस प्रतीति का उपपादन करने का प्रयत्न अवश्य किया है; परन्तु वह पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक नहीं बन पड़ा है। उनकी प्रक्रिया के अनुसार सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों के साथ कृत्रिम स्थायीभाव के सम्बन्ध में नट में कृत्रिम रामसीतादिविषयक रति का अनुमान होता है। परन्तु उससे सामाजिक की रसानुभूति की समस्या हल नहीं होती है। सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है, इसका उपपादन करना चाहिए। रसानुभव में इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक प्रतीति का उपपादन अनुमान के द्वारा नहीं किया जा सकता है। अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। फिर वह अनुमिति भी कैसी, जिसमें सब कुछ कृत्रिम है। इसलिए अनुमितिवाद के आधार पर रसास्वादन का ठीक तरह से उपपादन नहीं किया जा सकता है। यही अनुमितिवाद का सबसे बड़ा दोष है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहले दर्शक या सामाजिक के महत्त्व को अंगीकार किया। ये रस को न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोज्य तथा विभावादि हैं भोजक। दोनों में भोज्य-भोजक सम्बन्ध है। भट्टनायक काव्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त अन्य दो व्यापारों को भी मानते हैं, जिनके नाम हैं भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार। अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। 'भावकत्व' का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाटक में अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक और व्यक्तिगत निर्देशों को छोड़कर सामान्य प्राणी के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस का भोग करता है। इस अवसर पर उसके हृदय में राजस तथा तामस भाव बिलकुल दब जाते हैं और सत्त्वगुण का एकमात्र अतिशय हो जाता है। सात्त्विक भाव के उदय होने पर ही रस की भुक्ति होती है। इस मत के अनुसार सूत्र में संयोग का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

यह मत रस सिद्धान्त को समझने में एक प्रबल तथा युक्तियुक्त सिद्धान्त माना जाता है। इस मत के अनुसार दर्शक में रस का निवास माना जाता है, जो यथार्थ है। साधारणीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन भट्टनायक के मनोवैज्ञानिक अनुशीलन का परिचायक है। अभिनवगुप्त ने भोगवाद को न मानकर भी साधारणीकरण व्यापार को माना है। परन्तु भट्टनायक ने जिन नये दो व्यापारों को काव्य में माना है, उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे प्रमाणहीन तथ्य के ऊपर अपने विलक्षण सिद्धान्त की इमारत खड़ी करना एकदम अनुचित है।

भट्टनायक के इस 'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त माना है। इस सिद्धान्त को सांख्यसिद्धान्त का अनुगामी इस रूप में कहा जा सकता है कि जैसे सांख्य में सुख–दुःख आदि वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं। परन्तु पुरुष का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष में उनकी औपाधिक प्रतीति होती है। उसी प्रकार सामाजिक में न रहने वाले रस का भोग उसको होता है, इस सादृश्य के आधार पर ही रस सिद्धान्त को सांख्य सिद्धान्त का अनुगामी कहा जा सकता है।

भट्टनायक के मत की न्यूनता

भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन का अच्छा प्रयत्न किया है। पर उसमें उन्होंने शब्द में भावकत्व तथा भोजकत्व नामक जिन दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है, वे अनुभव सिद्ध नहीं हैं और जिस स्थायिभाव का 'भोग' बतलाया है, वह राम सीतादिगत स्थायिभाव है या नटगत या सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। इसलिए मुख्य रूप से अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापार पर आश्रित होने से भट्टनायक का भुक्तिवाद विद्वानों में आदर प्राप्त न कर सका।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भरत नाट्यशास्त्र के चतुर्थ किन्तु सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने उत्तर मीमांसा के, शंकुक के न्याय के और भट्टनायक ने सांख्य के आधार पर अपने-अपने मतों की स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर अपने

'अभिव्यक्तिवाद' का प्रतिपादन किया है, इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है।

आचार्य अभिनवगुप्त ध्वनितत्त्व के व्याख्याकार हैं तथा भरतमुनि के रस तत्त्व के भी व्याख्याता हैं। फलतः रस ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम है। यह रस अभिधा शक्ति के द्वारा न वाच्य होता है और न लक्षणा के द्वारा लक्ष्य प्रत्युत व्यञ्जना शक्ति के द्वारा यह अभिव्यक्त किया जाता है। इस प्रकार रस तथा विभावादिकों में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। विभावादि होते हैं व्यञ्जक तथा रस होता है व्यंग्य। मनोविज्ञान की दृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित होने के कारण यह सिद्धान्त नितान्त लोकप्रिय तथा पूर्ण माना जाता है।

इस तथ्य की मीमांसा के लिए दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक श्रोता या वक्ता में प्रेम, शोक, क्रोध आदि के भाव सदा विद्यमान रहते हैं। संसार में रोज-रोज का अनुभव करने से हमारे हृदय में नाना भाव एकदम स्थिर होकर नित्य स्थित रहते हैं। विभावादि के देखने से यही सुप्त भावना जाग्रत होकर प्रबुद्ध हो जाती है। अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में 'वासना' का इसीलिए बड़ा महत्त्व है। यदि सहृदय के हृदय में ये भाव वासना रूप से स्थित नहीं होते, तो उनका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता। क्या कारण है कि हरिश्चन्द्र नाटक के देखने से एक व्यक्ति की आँखों से भावावेश में आँसुओं की झड़ी लग जाती है और दूसरे व्यक्ति के नेत्र पसीजते भी नहीं? राम-रावण युद्ध को देखने से एक का हृदय मानों जलने लगता है, उत्साह से वह प्रफुल्लित हो उठता है, वहीं दूसरा व्यक्ति जड़ता की मूर्ति बना हुआ सब दृश्यों को उदासीनता से देखता रहता है। इस व्यावहारिक अन्तर को अभिनवगुप्त ने 'वासना' के सिद्धान्त पर समझाया है। जिस व्यक्ति में पूर्ण वासना विद्यमान रहती है, वह तो रस का अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकता। इसलिए अभिनवगुप्त का यह तथ्य नितान्त मनोवैज्ञानिक है।

दूसरी बात – साधारणीकरण की। ललित कला की अनुभूति के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूप से तथा सम्बन्ध रहित होकर ही स्वीकृत किया जाता है। किसी उपवन में खिले फूल को देखिए। गुलाब के फूल को देखते ही जब चित्त प्रफुल्लित हो उठता है, तब दर्शक के हृदय में कौन-सी भावना

जागती है? यदि आप उसे 'अपना' समझते, तो उसे तोड़ने के लिए आगे बढ़ते। शत्रु का फूल समझते, तो उससे द्वेष उत्पन्न होता। किसी तटस्थ व्यक्ति का मानते, तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः वह गुलाब का फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है, और न किसी उदासीन व्यक्ति का है। इस विषय में न तो सम्बन्ध का ग्रहण ही हो सकता है और न सम्बन्ध का परिहार ही हो सकता है।

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादो विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।।

(साहित्यदर्पण ३।१२)

वस्तु को केवल साधारण रूप में ही लेना होगा। गुलाब का फूल सुन्दर वस्तु का प्रतीकमात्र होता है। राम दशरथ के पुत्र न होकर केवल एक वीर के रूप में तथा सीता एक सुन्दरी के रूप में प्रतिष्ठित होती है। तभी रस की अभिव्यक्ति होती है। रसाभिव्यक्ति की दशा में सब वस्तुओं का साधारणीकरण होता है – केवल आलम्बन विभाव का आश्रय का नहीं, प्रत्युत सब सामाजिकों को रस का अनुभव–कर्ता मानता है। इन दोनों आधारों पर अभिनवगुप्त ने अपना सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया है।

रस का आनन्द अलौकिक होता है। लौकिक आनन्द सीमित होता है, अलौकिक अपरिमित होता है। इसका आस्वाद प्रपाणक रस के स्वाद के समान होता है। 'प्रपाणक' (शरबत) में एला, लवंग, मिर्च, मिश्री आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है, जिसमें प्रत्येक वस्तु के आस्वाद से भिन्न प्रकार का आस्वाद उत्पन्न होता है। इसी के समान रस के आनन्द में भी विभाव आदि के आस्वादों से भिन्न आस्वाद उत्पन्न होता है। रस के अलौकिकत्व का यह रहस्य है कि जो वस्तु संसार में भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोध का कारण बनती है, वही वस्तु काव्य में वर्णन होने पर केवल आनन्द ही उत्पन्न करती है। इसीलिए क्रोध स्थायी भाववाला रौद्र रस भी आनन्द का ही उत्पादक होता है। भयानक भी रस होता है। घृणाजनक वीभत्स भी आनन्दरूप होता है। इसीलिए रस 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहलाता है। अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का यही संक्षेप रूप है।

रस-सामग्री

'भाव' सामग्री के सहयोग से राग के रूप में परिणत हो जाता है – यह सामग्री कौन सी है? इस सामग्री के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, संचारी भाव की गणना की जाती है। इनकी उदाहरण मुखेन यहाँ व्याख्या की जा रही है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रथम अंक के कथानक पर दृष्टिपात कीजिए। हस्तिनापुर का सम्राट् दुष्यन्त कण्व के आश्रम में गुप्त भाव से पहुँचता है। आश्रम में पहुँचकर वह शकुन्तला को आश्रम के वृक्षों को सींचती हुई पाता है। शकुन्तला युवावस्था में पदार्पण करनेवाली एक अलौकिक लावण्यवती युवती है। दोनों की आँखें चार होती हैं और दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम भाव का उदय होता है। शकुन्तला की दशा विचित्र हो जाती है। सखियों के आग्रह करने पर भी वह वहाँ से नहीं जाती। भ्रमर की बाधा उत्पन्न होने पर वह इधर-से-उधर भागती हुई दृष्टिगोचर होती है। राजा के चले जाने पर, आँखों की ओट होने पर शकुन्तला अचानक खड़ी हो जाती है और पैर में कुश के काँटे चुभ रहे हैं, इस व्याज से खड़ी होकर काँटों को निकालती है। पौधों में न अटकने वाले अपने वस्त्र को वह निकालने का बहाना करती हुई मुड़कर राजा को देखती है। आश्रम का वह एकान्त वातावरण तथा मालिनी का वह मनोरम तीर इन दोनों के हृदय में प्रेम को पुष्ट करता है। यही थोड़े में कथानक है। इसकी मीमांसा करने पर रस की उपयुक्त सामग्री समझ में आ सकती है। एक बात ध्यान देने की यह है कि इस कथानक के दो पक्ष हैं – एक तो व्यवहारपक्ष अर्थात् वास्तव जगत् में यह घटना जैसे घटती है। दूसरा है काव्य-पक्ष अर्थात् नाटक के द्वारा उसी घटना का चित्रण नाटककार कैसे करता है। पहला है लौकिक पक्ष और दूसरा अलौकिक पक्ष। दोनों पक्षों में रस का उदय नहीं होता। पहली दशा तो भौतिक दशा है, जिसमें शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वस्तुतः 'प्रेम' नामक एक भाव उदित होता है। रस की दशा दूसरे पक्ष में होती है अर्थात् जब वही घटना कवि की प्रतिभा के बल पर शब्दों के माध्यम द्वारा काव्य या नाटक का चोला पहनकर आती है, तब वह एक अलौकिक वस्तु होती है और तभी वह रस की अनुभूति कराती है। आनन्द तभी उत्पन्न होता है।

पूर्वोक्त घटना की समीक्षा करने पर कतिपय तथ्य हमारे सामने आते हैं–

(१) शकुन्तला के प्रति 'रति' दुष्यन्त के हृदय में 'रस' के रूप में परिणत हो जाती है। दुष्यन्त के हृदय में श्रृंगाररस के उन्मीलन के लिए शकुन्तला आलम्बन का काम करती है। यदि शकुन्तला उपस्थित नहीं होती, तो यह रस दुष्यन्त के हृदय में उदित ही नहीं हो सकता था। इसीलिए दुष्यन्त के हृदय में रस को उद्दीप्त करने का काम करती है। भ्रमर की बाधा होने पर उसका इधर से उधर भागना, सखियों के साथ बैठकर विश्रम्भालाप करना, अपने मन की बातें प्रकट करना – आदि उसकी चेष्टायें हैं, जो दुष्यन्त के श्रृंगार रस को बढ़ाने का काम करती हैं। इसका नाम हुआ उद्दीपन। आलम्बन तथा उद्दीपन मिलकर 'विभाव' के रूप को पूर्ण करते हैं। 'विभाव' का अर्थ है रस को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाले भाव।

(२) दुष्यन्त के हृदय में रति उत्पन्न होने पर उसकी चेष्टाओं में अन्तर होने लगता है। उसका शान्त चेहरा अब तमातमा उठता है। वह नेत्र के कोनों से शकुन्तला की मुख-शोभा को निरखने लगता है। शकुन्तला के मीठे वचनों को सुनने के लिए उसके कान उतावले हो उठते हैं। ये चेष्टाएँ इस बात को सूचित करती हैं कि शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय में वह मनोरम भाव उत्पन्न हो रहा है, जिसे 'प्रेम' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं शारीरिक चेष्टाओं का नाम 'अनुभाव' है। 'अनुभाव' के दो अर्थ माने जाते हैं – (क) अनु + पश्चात्, भाव = उत्पन्न होने वाले चिह्न। अर्थात् 'रति' के उत्पन्न होने के पश्चात् दुश्यन्त के शरीर में उत्पन्न होने वाले चिह्न। (ख) अनुभावयन्तीति अनुभावाः। अर्थात् वे साधन जो उत्पन्न रति को दर्शकों के अनुभव में लाते हैं। बिना इन चिह्नों के देखे दर्शक इस बात से अनभिज्ञ ही रहता है कि दुष्यन्त के हृदय में 'रति' का जन्म हुआ है या नहीं। लोकपक्ष में यह 'कार्य' कहा जाता है।

(३) दुष्यन्त के हृदय में कभी चिन्ता उत्पन्न होती है कि शकुन्तला ऋषि कण्व की पुत्री है। अतः उसके लिए मेरा यह सब अनुराग व्यर्थ सिद्ध होगा (चिन्ता)। कभी वह विश्वामित्र के वृत्तान्त को सुनकर शकुन्तला को सुलभ मानता है, जिससे उसके हृदय में हर्ष तथा आशा का संचार होता है। चिन्ता,

हर्ष, आशा आदि ये सब भाव क्षणिक हैं, अस्थायी हैं। एक क्षण के लिए आते अवश्य हैं, परन्तु रति की स्थिति की सूचना देकर और पुष्टि कर फिर विलीन हो जाते हैं ठीक तरंगों के समान। शान्त समुद्र की सतह पर हवा के झोकों से तरंगें उठती हैं, कुछ देर तक वे अवश्य अपनी लीला दिखलाती हैं; परन्तु फिर वे उसी समुद्र के अंक में विलीन हो जाती हैं। तरंगों से समुद्र के जल की स्थिति की सूचना अवश्य मिलती है। परन्तु तरंगों के अस्त होने पर एक विशाल समुद्र शान्त भाव से प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तुलना में समुद्र-स्थानीय है स्थायी भाव और तरंग स्थानीय है संचारीभाव। संचरणशील होने के कारण ही ये भाव 'संचारी' कहलाते हैं तथा विविध रूप से (वि) स्थायी के अनुकूल (अभि) संचरण करने के कारण इनकी दूसरी संज्ञा है व्यभिचारीभाव।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यंजित होने पर स्थायी भाव ही रस के रूप में परिणत हो जाता है और अलौकिक आनन्द का जनक बनता है।

भाव के भेद

भाव दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो देर तक टिकने की योग्यता रखते हैं। वे 'स्थायीभाव' कहलाते हैं। दूसरे वे जो कई एक क्षणों तक ही टिकते हैं। इसी अस्थायित्व के कारण संचारीभाव कहलाते हैं। इन दोनों की संख्या भी नियत-सी ही है। संचारी भाव संख्या में ३३ ही माने जाते हैं, परन्तु स्थायी भावों के विषय में बड़ा मतभेद है। अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थायियों की संख्या नव है और इनसे उत्पन्न होनेवाले रस की संख्या भी ९ ही है –

स्थायीभाव	रस
१. रति	शृंगार
२. हास	हास्य
३. शोक	करुण
४. क्रोध	रौद्र
५. उत्साह	वीर
६. भय	भयानक

७. जुगुप्सा	वीभत्स
८. विस्मय	अद्भुत
९. शम	शान्त

आगे चलकर स्थायी तथा रसों की संख्या बढ़ती गई। विश्वनाथ कविराज ने 'वत्सल' भाव तथा 'वात्सल्य रस' की प्रतिष्ठा की तथा रूप गोस्वामी ने 'माधुर्य रस' (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा अपने 'उज्ज्वल-नीलमणि' में की। इस भक्तिरस का भी स्थायी भाव 'रति' ही है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ कान्ताविषयक रति शृंगार की जननी होती है, 'भक्तिरस' के लिए दिव्या-रति या कृष्णविषयक रति ही स्थायी भाव का काम करती है। शान्तरस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस की स्थिति नाटक में नहीं मानते, परन्तु अभिनव, मम्मट आदि मान्य आलङ्कारिक काव्य में इसकी सत्ता मानते हैं।

व्यभिचारी भाव तैंतीस होते हैं, जिनके नाम ये हैं –

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।।

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च।।

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावा समाख्यातास्तु नामतः[१]।।

निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, असूया, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता (१०) चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा (२०) विबोध, व्रीड़ा, अपलाप, मोह, मति, आलस्य, आवेग, वितर्क, अवहित्था (हृदय के भाव या विकार को लज्जा आदि के द्वारा छिपाना), व्याधि (३०)

---

१. काव्यप्रकाश ४-२९।

उन्माद (पागलपन), विषाद और औत्सुक्य (३३)। इनमें से कतिपय भाव रसों के साथ हुआ करते हैं। वे आकर मुख्य रस की पुष्टि करते हैं और अनन्तर वे अन्तर्हित हो जाते हैं। स्थायी के पोष के लिए संचारी का होना नितान्त आवश्यक होता है।

रस के भेद

यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने आठ से लेकर ग्यारह तक रसों की संख्या मानी है, किन्तु इनमें भी आचार्यों ने प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से अलग-अलग मूल रसों की कल्पना की है। स्वयं भरतमुनि आठ रसों में से श्रृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को प्रधान मानकर शेष चार रसों की उत्पत्ति इन चार रसों से ही होती है, इस बात का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं–

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः।।
शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।।
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः
वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः।।

इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र के आद्य आचार्य भरतमुनि के मत में ये ही आठ प्रधान रस हैं, जिसको मम्मट ने अङ्गीकार करते हुए कहते हैं –

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः[1]।।

यह कारिका मूल रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की है। मम्मट ने उसे भरत के नाट्यशास्त्र अ. ६-१६ से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसों का क्रमशः नाम मात्र से कथन किया गया है। भरतमुनि ने इन आठों रसों का जो इस विशेष क्रम से कथन किया

---

१. काव्यप्रकाश ४.३५।

है, उसका विशेष प्रयोजन है। इस प्रकार का उपपादन करते हुए 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने लिखा है कि रति या काम न केवल मनुष्य-जाति में, अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है और शृङ्गार को स्थान दिया गया है। हास्य शृङ्गार का अनुगामी है, इस लिए शृङ्गार के बाद हास्यरस को स्थान दिया गया है। सम्भोग शृङ्गार में नायक-नायिका का मिलन होता है, इसलिए एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। विप्रलम्भ शृङ्गार में भी दोनों को मिलन की आशा रहती है, अतः वे दोनों सापेक्ष आशामय रस हैं। हास्य से विपरीत स्थिति करुणरस की है। इसलिए हास्य के बाद करुणरस को स्थान दिया गया है। अपने प्रियतम बन्धु के वास्तविक विनाश या भ्रमवश ही उसके विनाश का निश्चय हो जाने के बाद करुणरस की सीमा प्रारम्भ होती है, उसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती है। अतएव करुणरस वैराग्यमय होने से निरपेक्ष रस माना जाता है। भवभूति ने '**तटस्थं नैराश्यात्**' कहकर करुणरस के निराशात्मक स्वरूप को सूचित किया है। अतः आशामय सापेक्ष भाव से विपरीत नैराश्यमय-निरपेक्ष रस होने से शृङ्गार और उसके अनुगामी हास्य के बाद करुणरस को रखा गया है। करुण की सीमा मरण के बाद प्रारम्भ होती है। मरण का सम्बन्ध प्रायः रौद्ररस से होता है। इसलिए करुणरस का निमित्त रूप होने से करुण के बाद उससे सम्बद्ध रौद्ररस को स्थान दिया गया है। यह रौद्ररस अर्थप्रधान होता है। काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से रौद्ररस के बाद वीररस रखा गया है। वह धर्म प्रधान होता है। वीररस का मुख्य कार्य भयभीतों को अभय प्रदान करना है। इसलिए वीर के साथ उसके विरोधी भयानक रस को स्थान दिया गया है। उस भयानक रस के समान ही वीभत्स रस के विभाव होते हैं; क्योंकि वीररस के प्रभाव से ही वीभत्स दृश्य उपस्थित होते हैं। इसलिए भयानक के बाद वीभत्सरस को रखा गया है। वीर के बाद अद्भुत होता है। इसलिए वीर के बाद अद्भुतरस को रखा गया है। उसके बाद धर्म-अर्थ काम रूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्तिधर्मों से विपरीत निवृत्तिधर्मप्रधान और मोक्षफलवाला शान्तरस आता है। यद्यपि शान्तरस की गणना यहाँ नहीं की गयी है, परन्तु काव्य में शान्तरस भी माना जाता है। इसलिए सबसे अन्त में उसको स्थान दिया जा सकता है। इसलिए आचार्य मम्मट कहते हैं –

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[१]।

१. शृङ्गाररस तथा उसके भेद

कामदेव के उद्भेद (अंकुरित होने) को शृङ्ग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृङ्गार कहलाता है। परस्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि उसके उद्दीपन विभाव होते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेद आदि इसके संचारी होते हैं। इसका स्थायी भाव रति है और वर्ण श्याम है। इसके देवता भगवान् विष्णु माने गये हैं। शृङ्गार रस के मुख्य दो भेद होते हैं – सम्भोग शृङ्गार तथा विप्रलम्भ शृङ्गार। एक दूसरे में अनुरक्त नायक और नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृङ्गार सम्भोग शृङ्गार कहलाता है। जहाँ उत्कट प्रेम होने पर भी प्रिय समागम न हो सके, उसे विप्रलम्भ कहते हैं।

इन दो प्रधान भेदों के अतिरिक्त एक तीसरा भी भेद आचार्यों ने माना है, जिसका नाम है – अयोग। अयोग मिलन से पूर्व की दशा है और विप्रयोग मिलन के पश्चात् की दशा है। अयोग शृङ्गार की वह दशा है, जहाँ नायक–नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग होता है और उनका चित्त एक दूसरे के प्रति पूरे तौर से आकृष्ट होता है, परन्तु परतन्त्रता (जैसे पिता, माता आदि) के कारण या भाग्य के फेर से दोनों एक दूसरे से अलग ही रहते हैं और इसलिए उनका संगम नहीं होता। इनकी दशाओं का निर्देश तथा वर्णन आचार्यों ने किया है –१. अभिलाष, २. चिन्तन, ३. स्मृति, ४. गुण कथन, ५. उद्वेग (न मिलने से व्याकुलता), ६, प्रलाप (बकवाद करना) ७. उन्माद (पागलपन अर्थात् जड़ चेतन का विवेक न होना) ८. संज्वर (व्याधि), ९. जड़ता (चेष्टाशून्य होना), १०. मरण (मृत्यु की पूर्व स्थिति)। ये ही कामदशा के नाम से विख्यात हैं। इन दशाओं की केवल दश ही संख्या मानना प्रयोगवाद है। वस्तुतः ये दशाएँ अनन्त होती हैं, जिनका वर्णन महाकवियों के प्रबन्धों में प्रचुरता से मिलता है। पूर्वोक्त दशाओं में

---

१. का०प्र० ४.३५।

उत्तर दशाएँ पूर्व दशाओं की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। अन्तिम दशा का दिखलाना उचित न मानकर कविजन उसका संकेत मात्र कर देते हैं।

अभिलाष वह अवस्था है, जब नायक के प्रति नायिका का आकर्षण होता है। यह अनेक कारणों से उत्पन्न होता है– साक्षात् देखने पर या नायक के चित्र देखने पर अथवा नायक के गुण सुनने पर। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द तथा भय आदि की उत्पत्ति होती है। गुण-श्रवण अनेक प्रकार से हो सकता है। सखियों के गीत या बन्दीजनों के द्वारा रचित गुणस्तवन को चुपके-चुपके बहाने से सुनने से अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण –

प्रेम कहा तिनसों पहिले हरि कानन आन समीप किये तें।
चित्र-चरित्र न मित्र भये सपने में हूँ मोहि मिलाय लिये तें।
देव जू दूर तें दौरि दुराय के प्रेम सिखाय दिखाय दिये तें।
वारिज के विकसे मुख वे निकसे इस ह्वै निकसे न हिये तैं।।

यहाँ नायक के गुणश्रवण आदि के द्वारा अनुरागवती नायिका का प्रेम वर्णित है। इसका नाम है – पूर्वानुराग। नायक-नायिका की रति स्थायीभाव है। नायक आलम्बन है तथा उसका गुणश्रवण आदि उद्दीपन है। हृदय से न निकलना अनुभाव है। उत्कण्ठा, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। पूर्वोक्त दशाओं में अभिलाष का सुन्दर चित्रण है। पूर्वानुराग होने से अयोग शृङ्गार का रमणीय उदाहरण है।

सम्भोग शृङ्गार परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकार का हो जाता है, इसलिए उसके भेदों की गणना सम्भव न होने से एक ही प्रकार का माना जाता है। उदाहरण –

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।

यह पद्य 'अमरुकशतक' से उद्धृत है। पति के बराबर अलग पलंग पर लेटी हुई नवोढ़ा नायिका ने वासगृह अर्थात् अपने लेटने के कमरे को शून्य अर्थात् सखियों से खाली देखकर अपनी खाट पर से तनिक सा

उठकर और नींद का बहाना करके लेटे हुए पति के मुख को बहुत देरतक देखकर, ये सो रहे हैं, ऐसा समझ कर निश्शंक भाव से चुम्बन कर लेने से उसके पति के कपोल पर प्रसन्नताजन्य रोमाञ्च देखकर नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे। इसलिए उसका मुख लज्जा से झुक गया। उस लज्जा से नम्र मुखवाली बाला को पकड़कर हँसते हुए प्रियतम (नायक) ने बहुत देर तक चुम्बन किया।

यह सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण है। नायक इसका आलम्बन है, शून्य वासगृह उद्दीपन विभाव है। मुख-निर्वर्णन, चुम्बन आदि अनुभाव तथा लज्जा हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। रति स्थायीभाव है। उससे सामाजिक को रसचर्वणा होती है। काव्यशास्त्र में पहले नारी के अनुराग का वर्णन उचित माना गया है – **'पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गितैः'**। इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ सम्भोगशृङ्गार का यह उदाहरण दिया गया है। इसमें नायिका की प्रथम अनुरक्ति दिखलायी गयी है।

हिन्दी के महाकवि बिहारीलाल ने अमरुक के इस पद्य का छायानुवाद एक दोहे में इस प्रकार किया है –

हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चुम्यो ढिग जाय।
हस्यों, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय।।

अमरुक के इस लम्बे पद्य के भाव को दोहे के छोटे से कलेवर में भरकर बिहारी ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इसीलिए बिहारी के दोहे के विषय में कहा गया है –

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।।

नायक की अनुरक्ति का प्रदर्शन करने वाला दूसरा उदाहरण निम्न है, जो अमरुक शतक से लिया गया है –

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखी नेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।।

हे सुन्दर नेत्रों वाली प्रियतमे ! तुम तो बिना कञ्चुकी धारण किये हुए ही बड़ी सुन्दर मालूम होती हो, ऐसा कहकर नायक को उसके बटन को खोलने के लिए छूते देख शय्या के पास बैठी हुई, मुसुकाती हुई सखी के नेत्रों की प्रसन्नता से आनन्दित हुई अन्य सखियाँ किसी आवश्यक काम का झूठा बहाना करके धीरे-धीरे कमरे से निकल गयीं।

सम्पूर्ण रूप से आलिङ्गन करने का लोभी अतएव व्यवधान करने वाली कञ्चुकी को हटाने में तत्पर नायक का वर्णन है। यहाँ मुग्धाक्षी आलम्बन विभाव है। नयन-सौन्दर्य, अङ्ग शोभा आदि उद्दीपन-विभाव हैं। आभाषण और बीटिका संस्पर्श अनुभाव तथा उनकी तुल्यकालता से अवगत उत्कण्ठा आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सब सामग्री के द्वारा सामाजिक को रस की अनुभूति होती है।

हिन्दी के महाकवि बिहारी ने पूर्व पद्य के समान अमरुक के इस पद्य का भी अनुवाद अपने इस दोहे में किया है –

पति रति की बतियाँ करीं सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टला-टली अली चलीं सुख पाय।।

अमरुक के लम्बे शार्दूलविक्रीडित छन्द के सम्पूर्ण भाव को दोहे के छोटे से कलेवर में भर देने का बिहारी का कौशल यहाँ भी द्रष्टव्य है।

सम्भोग शृङ्गार के इन दोनों उदाहरणों में से पहले में नायिका और दूसरे में नायक का अनुराग दिखलाया गया है। नीचे के हिन्दी पद्य में सीता और राम के युगपत अनुराग का सुन्दर वर्णन पाया जाता है –

दोऊ जने दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि-सागर को छोर हैं।
चिन्तामणि केलि की कलानि के विलासनि सों,
दोऊ जने दोऊन के चित्तन के चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसुकानि-सुधा बरसत,
दोऊ जने छके मोद, मद दोऊ ओर हैं।
सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम-नैन सीतामुख चन्द्र के चकोर हैं।।

इस प्रकार सम्भोग शृङ्गार के दो उदाहरण देकर आगे विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन किया जा रहा है। विप्रलम्भ शृङ्गार अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप रूप पाँच प्रकार के हेतुओं से होने के कारण पाँच प्रकार का होता है। एक उदाहरण का अवलोकन करें –

नैननि को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो विरहागि में तैये।
एक घरी न कहू कल पैये, कहां लगि प्राननि को कलपैये।
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहू के गृह जैये।
मान घटे ते कहा घटि है, जू पै प्रानपियारे को देखन पैये।।

यहाँ नायक तथा नायिका का पारस्परिक अनुराग रति स्थायी भाव है। नायक और नायिका आलम्बन विभाव है। नैनन को तरसाना, एक घरी को कल न पाना, सौत के घर तक चलने का आग्रह आदि अनुभाव हैं। देखने की उत्सुकता तथा उद्वेग संचारी भाव हैं। यह विप्रयोग विरह के कारण से है। अतः विरहहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार का मनोहर उदाहरण है।

कुछ लोग विंप्रयोग के दो मुख्य भेद मानते हैं – मान और प्रवास। मान का अर्थ है रुठना। जहाँ नायिका प्रेम से नायक से रूठती है, वहाँ 'प्रणय मान' होता है और नायक से ईर्ष्या के कारण रूठती है, वहाँ होता है – ईर्ष्या मान। प्रवास विप्रयोग से तात्पर्य है – प्रियतम के परदेश जाने के कारण उत्पन्न वियोग। यह भी अनेक कारणों से होता है – कार्य से, किसी गड़बड़ी से अथवा किसी शाप के कारण। इसी का एक और भी भेद होता है – करुण विप्रलम्भ। मरे हुए नायक के प्रति किया गया अनुराग जो किसी कारण से उसके जीने की आशा से बना रहा है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः[१]।।

जैसे कादम्बरी में शाप के कारण वैशम्पायन तथा महाश्वेता का वियोग। वैशम्पायन की मृत्यु अवश्य होती है, परन्तु उसके पुनरुज्जीवित होने की आशा

---

१. सा०द० ३.२०९।

भी आकाशवाणी के द्वारा सूचित की जाती है। अतः महाश्वेता का अनुराग बना रहता है। करुणरस में शोक स्थायिभाव होता है, रति नहीं।

इस प्रकार सम्भोग शृङ्गार के दो भेद और विप्रलम्भ शृङ्गार के पाँच भेद, कुल मिलाकर शृङ्गार के सात भेद हो सकते हैं, उदाहरण काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए। अब शेष हास्य आदि रसों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

२. हास्य रस

विकृत आकार, वेष, बोली, चेष्टा तथा व्यवहार आदि के वर्णन तथा चित्रण से हास्य रस उत्पन्न होता है। हास्य रस का स्थायिभाव हास, आलम्बन- विकृत वेष तथा विकृत वचन वाला व्यक्ति।

उद्दीपन – अनुपयुक्त वचन, वेष, भूषा आदि।

अनुभाव – मुख का फैल जाना, आँखों का भींचना आदि।

संचारी – निद्रा, आलस्य, चपलता, अवहित्था (लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावों का छिपाना) आदि। उदाहरण –

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्मसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे।
तारस्वनं प्रथितथूलमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा[१]।।

अर्थात् वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को सिकोड़ कर (मुट्ठी बाँध कर) जोर से थूत्कार करते हुए मन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रित जलबिन्दुओं से प्रतिपद पवित्र किये हुए मेरे सिर पर प्रहार किया है, हाय-हाय मार डाला- यह कहकर विष्णु शर्मा रो रहा है।

विष्णु शर्मा की दशा देखकर सबको हँसी आती है। यहाँ विष्णु शर्मा आलम्बन विभाव है। रोदन उद्दीपन विभाव है। स्मित, हसित, अतिहसित आदि अनुभाव हैं। हास स्थायिभाव है।

---

१. का०प्र० ४.३७।

हिन्दी साहित्य में पद्माकर का निम्नलिखित पद्य हास्यरस का सुन्दर उदाहरण है –

हँसि हँसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनो जे आवै हिमाचल के उछाह मैं।
कहै 'पदमाकर' सू काहू को कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसाई तहाँ राह मैं।
मगन भएई हँसै नगन महेस ठाढ़े,
और हँसे बेऊ हँसि हँसि के उमाह मैं।
सीस पर गंगा हँसे, भुजनि भुजंगा हँसे,
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह मैं।।

यहाँ महादेव के विवाह का प्रसङ्ग है। उन्हें नंगा देखकर हँसना (हास) स्थायी भाव है। महादेव जी आलम्बन विभाव हैं। विवाह के समय भी नंगा रूप उद्दीपन विभाव है। लोगों का हँसना, गंगा तथा साँपों का भी हँसना, लोट-पोट हो जाना-अनुभाव हैं। शिव जी के इस विचित्र रूप को देखने के लिए लोगों की दौड़ पड़ने में उत्सुकता, चपलता आदि संचारी भाव हैं। पूर्ण हास्य रस है।

आचार्यों ने हास्य रस के छः भेद माने हैं – स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित। इनमें से प्रथम दो उत्तम प्रकृतिवाले व्यक्तियों में रहते हैं, मध्यम दो मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों में और अन्तिम दोनों अधम प्रकृति के व्यक्तियों में होते हैं। हास की न्यूनाधिक मात्रा होने से ही इनमें विलक्षणता है। साहित्यदर्पण में हास्य के छः भेद बतलाये हैं –

ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः[१]।।

जहाँ नेत्रों में कुछ विकास हो और ओठ जरा सा फरकें वह स्मित कहलाता है। यदि उक्त क्रियाओं के साथ दाँत भी कुछ-कुछ दीखने लगें, तो उसे 'हसित' कहते हैं। इन सबके साथ मधुर शब्द भी हो, तो 'विहसित' कहते हैं और यदि कन्धे, सिर आदि में कँपकँपी भी हो, तो वह 'अवहसित' कहलाता

---

१. सा०द० ३.२१७।

है। जिसमें आँखों में पानी भी आ जाय, वह अपहसित और जिसमें इधर उधर हाथ पैर भी पटके जायँ, वह अतिहसित होता है। जैसा कि कहा गया है –

ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्।
किञ्चिल्लक्ष्मद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः।।
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरः कम्पमवसहितम्।
अपहसितं सास्राक्षं निक्षिप्ताङ्गं (च) भवत्यतिहसितम्[१]।।

३. करुण रस

करुण रस का स्थायिभाव शोक है। इसका आलम्बन – कोई मृतबन्धु या सम्बन्धी अथवा दीन-हीन दशा को प्राप्त होने वाला व्यक्ति होता है। उद्दीपन – मृतक का दाह तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली चीजें, जैसे वस्त्र, भूषण, घर, पुस्तकें आदि का देखना, उसकी कथा या बातचीत सुनना।

अनुभाव – पृथ्वी पर गिर पड़ना, भाग्य का कोसना, रोना, उच्छ्वास, प्रलाप, बकवाद आदि।

संचारी – निर्वेद, मोह, अपस्मार, विषाद, जड़ता आदि।

इस प्रकार इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस आविर्भूत होता है। इसका कपोतवर्ण होता है। इसके देवता यमराज हैं। जैसा कि कहा गया है –

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः।।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम्।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः।।
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च।।

---

१. सा०द० ३.२१८-२१९।

निर्वेदमोहोपस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषाद जडतोन्मादचित्राद्या व्यभिचारिणः[१]।।

उदाहरण –

विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटनाविधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम्।।

अर्थात् कहाँ जङ्गल में जाकर जटाओं का बाँधना और कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार मनोहर देह! विधि का इन दोनों को जोड़ना वैसा ही है, जैसा तलवार से शिरीस के कोमल फूल का काटना।

इस पद्य में राम-वनवास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की हुई दैवनिन्दा है। इसी प्रकार बन्धुवियोग और धननाशादि के भी उदाहरण जानना चाहिए। हिन्दी में श्रीपति कवि का निम्नलिखित पद्य करुणरस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

मातु को मोह, न द्रोह विमातु को, सोच न तात के गात दहे को।
प्रान को छोभ न, बन्धु विछोह न, राज को लोभ न मोद रहे को।
एते तै नेक न मानत 'श्रीपति' एते मैं सीय वियोग सहे को।
ता रनभूमि में राम कह्यो मोहि सोच विभीषण भूप कहे को।।

यह लक्ष्मण के शक्ति लगने पर रामचन्द्र जी के विलाप का प्रसङ्ग है। लक्ष्मण के लिए विलाप करने से शोक स्थायिभाव है। लक्ष्मण का निश्चेष्ट शरीर तथा उनका विपुल पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव है। लक्ष्मण आलम्बन विभाव है। रामचन्द्र का विलाप करना अनुभाव है। ऐसी दशा में भी विभीषण को राजा बनाने का ध्यान होने से मत, स्मृति, वितर्क, विषादादि सञ्चारीभाव हैं।

करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार का भेद

करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की स्थिति के विषय में कभी कभी भ्रम हो जाता है। उनकी सीमा अलग-अलग है। भ्रम की सम्भावना मुख्यतः प्रेमियों के

---

१. सा०द० ३.२२२-२२५।

वियोग की अवस्थाओं में रहती है। प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का हो सकता है – १. स्थायी वियोग, २. अस्थायी वियोग। दोनों प्रेमियों के जीवन-काल में जो वियोग किसी भी कारण होता है, वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा में आता है। किन्तु दोनों प्रेमियों में किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जो वियोग होता है, उसमें मिलने की कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है। इसीलिए वह स्थायी वियोग होता है। वह करुणरस की सीमा में आता है। इस प्रकार जहाँ तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है, उसमें विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुणरस की सीमारेखा 'मृत्यु' है। मृत्यु से पूर्वतक विप्रलम्भ शृङ्गार और मृत्यु के बाद करुण रस का क्षेत्र होता है।

करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार का भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है –

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः[१]।।

अर्थात् करुण रस का स्थायिभाव शोक होता है और विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायिभाव रति होता है; क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। मृत्यु के बाद भी पुनः समागम होने की स्थिति में करुण विप्रलम्भ नाम से विप्रलम्भ शृङ्गार के एक अलग भेद की कल्पना की गयी है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है –

यूनोरेकतरस्मिन् गतवती लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः[२]।।

भरतमुनि ने विप्रलम्भ को सापेक्ष अर्थात् आशामय और करुण को निरपेक्ष अर्थात् निराशामय रस कहकर उनका भेद दिखलाया है –

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति[३]।

---

१. सा०द० ३.२२६

२. सा०द० ३.२-९।

३. भरतनाट्यशास्त्र ६.४५ पृ० ३०९।

यहाँ सापेक्ष और निरपेक्ष शब्दों का अर्थ क्रमशः 'आशामय' तथा 'निराशामय' करना चाहिए। विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहने से दुःखमय होने पर भी उसमें जीवन का आशामय दृष्टिबिन्दु बना रहता है। परन्तु करुणरस में पुनर्मिलन की कोई सम्भावना न रहने से निराशामय दृष्टिकोण हो जाता है। करुण के इसी नैराश्यमय रूप को भवभूति ने **'तटस्थं नैराश्यात्'** कहकर व्यक्त किया है। यहाँ तटस्थ शब्द 'निराशामय' निरपेक्षभाव को सूचित करता है। इसलिए करुण और विप्रलम्भ की सीमा अलग-अलग है।

४. रौद्ररस

स्थायी भाव – क्रोध।

आलम्बन – अपकार करने वाला व्यक्ति, शत्रु आदि।

उद्दीपन – मत्सर अथवा शत्रु के द्वारा किये गये अपकार आदि।

अनुभाव – शस्त्र को बार-बार चमकाना, बड़ी डींगे मारना। जमीन पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना, त्यौरी चढ़ाना, ओंठ चबाना आदि।

संचारी – अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, आवेग आदि। रौद्र रस का वर्णन करते हुए साहित्यदर्पण में कहा गया है –

रौद्रः क्रोधस्थायीभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।।

मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढ़ा।।

भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्दंशबाहुस्फोटनतर्जनाः।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च।
उग्रता वेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः।।

अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसन्दर्शनादयः।
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः[१]**।।**

---

१. सा०द० ३.२२६-२३१।

रौद्ररस का उदाहरण देते हैं –

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणां सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्[१]।।

द्रोणाचार्य का वध सुनकर क्रुद्ध अश्वत्थामा की उक्ति है। तुम्हारे जैसे शस्त्रधारी निर्मर्याद नरपशुओं ने यह महापातक (द्रोणवध) किया है अथवा उसमें अनुमति दी है यद्वा इसे देखा है, उन सबके तथा श्रीकृष्ण भीम और अर्जुन के रुधिर, चर्बी तथा मांस से मैं आज दिशाओं की बलि देता हूँ।

यहाँ 'पशुभिः' इस पद से बलिदानयोग्यता सूचित होती है। 'उदायुधैः' इस पद से उनके प्रतिकार करने में समर्थ न होने पर भी प्रतिकार न करने से अत्यन्त दण्डनीय सूचित होता है। कर्ता, अनुमन्ता और द्रष्टा के अपराध में क्रमशः न्यूनता होती है, इसलिए दण्डनीयता के क्रम से इनका उपादान किया गया है। इस दृष्टि से पहले कर्ता धृष्टद्युम्न नाम लेना चाहिए था, परन्तु क्रोधातिशय में क्रम भूलकर पहले नरकरिपु कृष्ण का नाम लिया गया है। इस श्लोक का अर्थ रौद्ररस के अनुरूप है। हिन्दी में पद्माकर का निम्नलिखित पद्य रौद्ररस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

बारि टारि डारौं कुम्भकर्नहिं विदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आज यों बल-अनन्त हौं।
कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं,
डारत करेई यातुधानन को अन्त हौं।
अच्छहिं निरच्छ कपि रुच्छ है उचारौं इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं।
जारि डारौं लङ्कहि उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमंत हौं।

---

१. वेणीसंहार, तृतीय अंक।

रौद्र और वीररस में भेद

नेत्र और मुख का क्रोध के मारे लाल हो जाना रौद्र रस में होता है, वीररस में नहीं, क्योंकि वहाँ उत्साह स्थायी भाव होता है। यही इन दोनों रसों में परस्पर भेद है। इसी बात को साहित्यदर्पणकार कहते हैं –

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः[१]।

५. वीररस

वीर रस का स्थायिभाव – उत्साह होता है। आलम्बन – शत्रु, जिस पर अधिकार प्राप्त करना है।

उद्दीपन – शत्रु का प्रताप, विस्मय, शौर्य आदि, मारू आदि का बजना, युद्ध का तुमुल, कोलाहल आदि।

अनुभाव – हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना, शरीर के रोंगटों का खड़ा होना आदि।

संचारी – मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष आदि।

इसके देवता महेन्द्र और रंग सुवर्ण के सदृश कहा गया है। इसे साहित्यदर्पण में इस प्रकार कहा गया है –

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः।।
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादि चेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः।
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्[२]।।

---

१. सा०द० ३.२३१।

२. वही, ३.२३२–२३४।

वीररस चार प्रकार का कहा गया है – १. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. दयावीर और ४. युद्धवीर। उनमें दानवीर जैसे परशुराम। जैसे –

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः।

अर्थात् सातों समुद्रपर्यन्त पृथिवी का निष्कारण – बिना किसी दृष्टफल की इच्छा के – दान कर देना जिन परशुराम के त्याग (दान) की सीमा है।

यहाँ त्याग में परशुराम का उत्साह, स्थायीभाव है। वह दानपात्र ब्राह्मण रूप आलम्बन विभाव से तथा उनकी सत्त्वगुणपरायणता आदि उद्दीपन विभावों से विभावित होकर और सर्वस्वपरित्याग आदि अनुभावों से अनुभावित होकर एवं हर्ष, धैर्य आदि संचारी भावों से परिपोषित होकर दानवीर रस के स्वरूप में परिणत होता है।

धर्मवीर, जैसे – युधिष्ठिर।

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम्।।

यह युधिष्ठिर की उक्ति है – राज्य, धन, शरीर, स्त्री, भाई, पुत्र आदि जो कुछ भी मेरे अधीन हैं, वह सब धर्म के लिए सदा उपस्थित हैं।

युद्धवीर, जैसे श्रीरामचन्द्र।

भो लङ्केश्वर, दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद्गतम्।
नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्कलः
पत्रीं नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः।।

यहाँ लङ्केश्वर सम्बोधन से लङ्का का ऐश्वर्य और उसमें फैले हुए रावण के कुटुम्ब की याद दिलाई है। तात्पर्य यह है कि यदि कुशल चाहते हो, तो सीता को दे दो, अन्यथा इन सबका धुआं उड़ जायेगा।

दयावीर, जैसे जीमूतवाहन। उदाहरण –

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्।।

सर्पों की वध्यशिला पर दयावश शंखचूड़ के बदले बैठे हुए जीमूतवाहन को एकान्त में ले जाकर बहुत कुछ अङ्ग नोच-नोच कर खा लेने पर भी उनमें अविकृत सौन्दर्य, आनन्दनिमग्न मन और प्रफुल्ल वदन को देखकर चकित हुए गरुड एक ओर हटकर विस्मयभरी दृष्टि से उनकी ओर देखने लगे। तब उन्होंने यह पद्य नागानन्दनाटक में कहा है। मेरी नाड़ियों के मुख से अब भी रुधिर बह रहा है और मेरे देह में मांस भी शेष है। मैं देखता हूँ कि तुम अभी तृप्त भी नहीं हुए हो। फिर हे गरुड, तुमने मुझे खाना क्यों बन्द कर दिया? इन उदाहरणों में विभावादि की पूर्ववत् ऊहा कर लेनी चाहिए।

वीररस के चार भेदों में युद्ध वीर को ही मम्मट ने वीररस माना है। परन्तु अन्य आचार्यों ने पूर्वोक्त चार भेद किये हैं। अच्युत राय ने तो साहित्यसार में वीररस के बारह भेदों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है –

उत्साहस्थायिभावः स्याद्वीरो द्वादशधा तु सः।।
युद्धदानदयाधर्मसत्यविद्यातपो बलैः।
त्यागयोगक्षमाज्ञानैस्तदुपाधेर्विभेदतः।।

हिन्दी के निम्नलिखित पद्य को वीररस के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

क्रुद्ध दशानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर वट्टत।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत।।

मारु पछारु पुकारु दुहूँ दल, रुण्डि झपट्टि दपट्टि लपट्टत।
रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत।।

यहाँ लङ्का के युद्ध में रीछ-वानरों की सेना देखकर रावण के लड़ने का वर्णन है। रावण के हृदय का उत्साह स्थायिभाव है। रीछ तथा वानर आलम्बन हैं। वानरों की नाना क्रीड़ाएँ तथा लीलाएँ उद्दीपन विभाव हैं। नेत्रों का लाल होना, शत्रुओं के सिरों का काटना अनुभाव है। उग्रता, अमर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं।

---

१. साहित्यसार, ४.९८-९९।

६. भयानक रस

स्थायिभाव - भय।

आलम्बन – बाघ, चोर, शून्य स्थान, भयङ्कर वस्तु का दर्शन।

उद्दीपन – किसी भयानक वस्तु के स्वर, शरीर आदि का डरावनापन, उसकी भयङ्कर चेष्टाएँ।

अनुभाव – शरीर का काँपना, पसीना छुटना, मुँह सूखना, मुँह का पीला पड़ना, चिन्तित होना, रोमाञ्च, घिग्घी बँध जाना आदि।

संचारी भाव – दैन्य, संभ्रम, सम्मोह, त्रास आदि। देवता– काल, वर्ण– कृष्ण और इसके आश्रय पात्र स्त्री तथा नीच पुरुष आदि होते हैं। साहित्यदर्पण में इसका परिचय इस प्रकार दिया गया है –

भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः।।

यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः।।

अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम्।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः।।

जुगुप्सा वेगसम्मोहसंत्रासग्लानिदीनताः।
शङ्कापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः[१]।।

भयानक रस का उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रथम अङ्क से अवलोकनीय है। राजा दुष्यन्त शिकार के लिए निकले हैं। एक मृग के पीछे उनका रथ दौड़ रहा है और भय के कारण वह मृग अपनी सारी शक्ति से आगे-आगे भाग रहा है। उस समय राजा दुष्यन्त अपने सारथि से मृग के भागने का वर्णन कर रहे हैं –

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः।
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

---

१. सा०द० ३-२३५-२३८।

दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्त्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति[1]।।

अर्थात् सुन्दरता के साथ गर्दन घुमाकर पीछे आते हुए हमारे रथ पर बार-बार दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय से अपने पीछे के आधे शरीर को अगले शरीर में घुसेड़ते हुए थक जाने से हाँफते हुए, खुले हुए मुख से आधे खाये हुए तृणों को पृथिवी पर गिराता हुआ, देखो, यह मृग लम्बी-लम्बी छलाँगे मारने के कारण मानों आकाश में अधिक और पृथिवी पर कम चलता है।

यहाँ पीछा करने वाला राजा या उसका रथ आलम्बन, बाण लगने का भय और अनुसरण उद्दीपन, गर्दन मोड़ना और भागना आदि अनुभाव और त्रास, श्रम आदि व्यभिचारि भाव हैं। रथ या राजा से उत्पन्न भय स्थायीभाव है। 'शरपतनभयात्' में भय पद का उपादान करने से स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता का दोष नहीं आता है, क्योंकि शरपतनभय वहाँ स्थायिभाव नहीं, केवल उद्दीपन है।

हिन्दी के निम्नलिखित पद्य को भयानक रस के उदाहरणस्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहि
सकैं न विलोकि वेष केसरी किसोर को।
मीजि-मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय
तुलसी तिलौ न भयो बाहिर अगार को।
सब असबाव डरौं मैं न काढ़ो तैं न काढ़ो
जिय की परी सँभार, सहन भंडार को।
खीजति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
बयो लूनियत सब याही दाढ़ीजार को।।

हनुमान जी लङ्का को जला रहे हैं। लङ्का को जलते देख कर मन्दोदरी का

१. अ०शा०-१।

भय स्थायिभाव है। हनुमान् आलम्बन विभाव हैं। हनुमान् का भयानक वेष, घर, असबाव का जलना उद्दीपन-विभाव है। घबड़ाकर भागना, हाथ का मींजना, माथा पीटना, असबाब को घर से काढ़ने के लिए तू-तू मैं-मैं करना आदि अनुभाव हैं। विषाद, चिन्ता आदि संचारिभाव हैं।

७. बीभत्सरस

बीभत्सरस का स्थायिभाव जुगुप्सा, वर्ण नील और देवता महाकाल हैं। दुर्गन्धयुक्त मांस, रुधिर, चर्बी आदि इसके आलम्बन होते हैं और उन्हीं में कीड़े पड़ जाना आदि उद्दीपन होता है। थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मींचना आदि इसके अनुभाव होते हैं एवं मोह, अपस्मार, आवेग और मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। साहित्यदर्पण में इस प्रकार कहा गया है –

जुगुप्सा स्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः।।
दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्।।
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः।
अनुभावस्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।।
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः।[१]

इसका उदाहरण मालतीमाधव के पञ्चम अंक से दिया जा रहा है -

उत्कृत्योकृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथुत्सेद्यभूयांसि मांसा-
न्यंस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कास्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।।

अर्थात् पहले खाल को उखाड़ उखाड़ कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों में ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध भयङ्कर-दुर्गन्धयुक्त

---

१. सा०द०- ३.२३९-२४२।

सड़े हुए मांस को खा चुकने के बाद, दूसरा छीन न ले, इस दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ और दाँतों को निकालते हुए, भूखा दरिद्र प्रेत गोद में रखे हुए मुर्दे के हड्डी के भीतर लगे हुए और गढ़ों में स्थित (क्रव्य) कच्चे मांस को भी धीरे-धीरे खा रहा है।

यहाँ दरिद्र प्रेत आलम्बन, खाल को उखाड़ना और मांस को खाना उद्दीपन, उसको देखने वाले का नाक बन्द करना, मुह फेर लेना, थूकना आदि अनुभाव और उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायीभाव है। उनसे सामाजिक में 'जुगुप्सा प्रकृतिक बीभत्स' रस अभिव्यक्त होता है।

हिन्दी में निम्नलिखित पद्य को वीभत्सरस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

सिर पै बैठा काग आँखि दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहिं आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि के मांस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खात विचारत।
बहु चील नोचि ले जात तुच मोद मढ्यो सबको हियो।
जनु ब्रह्मभोज जजिमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो।।

श्मशान का दृश्य है। राजा हरिश्चन्द्र वहीं पशु-पक्षियों की नाना केलियाँ देख रहे हैं। उन्हें देखकर उनके मन में जो घृणा का भाव उत्पन्न होता है, वही स्थायिभाव है। मुर्दों की हड्डी, त्वचा आदि आलम्बन विभाव हैं। कौओं का आँख निकालना, स्यार का जीभ को खींचना, गिद्ध का जाँघ को खोद-खोदकर मांस का नोचना, कुत्तों का अँगुलियों का काटना ये सब उद्दीपन हैं। राजा का इस सबका वर्णन करना अनुभाव है। मोह, स्मृति आदि सञ्चारी भाव हैं। फलतः यहाँ पूर्णरूपेण बीभत्सरस है।

८. अद्भुत रस

अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय है। आलम्बन कोई अलौकिक अथवा आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ या व्यक्ति है। उद्दीपन अलौकिक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण, कीर्तन आदि। अनुभाव – साधुवाद देना अर्थात् उस पदार्थ की

प्रशंसा करना, आँसू आना, काँपना, गद्गद होना। सञ्चारी भाव – हर्ष, आवेग, धृति आदि। अद्भुत रस के देवता गन्दर्भ और वर्ण पीत है। साहित्यदर्पण में कहा गया है –

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च गद्गदस्वरसम्भ्रमाः।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।।
वितर्कावेगसम्भ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः[१]।

उदाहरण –

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति।।

जनकपुर में श्रीरामचन्द्र जी के धनुष तोड़ देने पर बहुत देर पीछे तक उस धनुर्भङ्ग के शब्द की गूँज को प्रतिध्वनित होते हुए देखकर विस्मित हुए लक्ष्मण की उक्ति है –

भुजदण्ड से उठाये हुए शङ्कर के धनुष के भंग होने से उत्पन्न हुई टंकार ध्वनि, जो आर्य श्री रामचन्द्र जी के बालचरित आरम्भ होने का डिण्डिम (ढिंढोरा) स्वरूप है, जिसके कारण ब्रह्माण्डरूप पात्र के कपालसम्पुट = दोनों भाग पहले झट से प्रक्षिप्त होकर अब आपस में मिल रहे हैं और जिसकी पिण्डीभूत प्रचण्डता ब्रह्माण्ड के उदर में घूम रही है, वह घोर टंकार ध्वनि अब भी नहीं थमती।

इस पद्य में लक्ष्मण का विस्मय स्थायीभाव है। टंकार ध्वनि आलम्बन है। उसकी अतिदीर्घता आदि उद्दीपन है। इस प्रकार महिमा का वर्णन अनुभाव है

---

१. सा०द० – ३.२४२-२४५।

और इस वर्णन से अनुमित हर्ष आदि व्यभिचारी हैं। इन सबके द्वारा अद्भुतरस प्रकट होता है।

हिन्दी में पद्माकर का निम्नलिखित पद्य अद्भुत रस का सुन्दर उदाहरण है –

गोपी ग्वालबाल जुरे आपस में कहें आली,
कोऊ जसुदा को अवतर्यो इन्द्रजाली है।
कहे पद्माकर करै को यों उताली, जापै
रहन न पावै कहूँ एको फन खाली है।
देखै देवताली भई विधि के खुशाली, कूदि
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनम को चाली एरी अद्भुत दै ख्याली आजु,
काली की फनाली पै नचत बनमाली हैं।।

श्रीकृष्ण भयानक कालियानाग के सिर पर नाच रहे हैं। ऐसे भयानक दृश्य को देखकर ग्वालबाल चकित रह जाते हैं। यही विस्मय स्थायीभाव है। कालिया नाग को नाथ कर यमुना से बाहर खदेड़ना आलम्बन है, कृष्ण का उसके सिर पर नाचना उद्दीपन है। ग्वालबालों की विचित्र लीलाएँ अनुभाव हैं। अतः पूर्ण अद्भुत रस है।

९. शान्तरस

शान्तरस का स्थायीभाव किन्हीं के मत में शम (चिन्ता का शान्त होना) और किन्हीं के मत में निर्वेद (संसार के विषयों के प्रति वैराग्य) है। आलम्बन – परमात्मा का चिन्तन, संसार की अनित्यता का ज्ञान। उद्दीपन – सत्संग, पुण्य आश्रम, तीर्थस्थल की यात्रा या दर्शन करने से यह उद्दीप्त होता है। अनुभाव – शरीर भर में रोमाञ्च तथा गद्गद् हो जाना। संचारीभाव– मति, हर्ष, स्मृति आदि। वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान् लक्ष्मीनारायण हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण की उक्ति है –

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छामः श्रीनारायणदैवतः।
अनित्यत्वादिनाऽशेष वस्तुनिःसारतां तु या।।
परमात्मास्वरूपं वा तमालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः[१]।

आचार्य मम्मट ने शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद माना है –

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः[२]।

उदाहरण –

रथान्तश्चरतस्तथा धृतजरन्कन्थालवस्याध्वगैः
संत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः।
निर्व्याजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे।
निःशङ्कः करटः कदा करपुटीभिक्षां विलुण्ठिष्यतिः।।

अर्थात् हे भगवान्, वह कौन सा दिन होगा, जब फटी गुदड़ी का टुकड़ा लपेटे, गली में घूमते हुए तथा किसी नगरनिवासी से भयपूर्वक, किसी में कौतूहलपूर्वक और किसी से दयापूर्वक देखा गया मैं वास्तविक आत्मज्ञान के अमन्द अमृतरसमय आनन्द से निद्रायमाण (समाधि मग्न) होऊँगा और निःशङ्क कौआ मेरे हाथ पर रखी भिक्षा को विश्वासपूर्वक खायेगा।

हिन्दी का निम्न पद्य शान्तरस का सुन्दर उदाहरण है –

---

१. सा०द० ३.२४५-२४७।

२. का०प्र० ४.३५।

भूखे अघाने रिसाने हितू अहितून्द ते स्वच्छ मने हैं।
दूषन भूषन कञ्चन काँच जू मृत्तिका मानिक एक गने हैं।
सूल सों फूल सों माल प्रबाल सों 'दास' हिए सम सुक्ख सने हैं।
राम के नाम सों केवल काम.तेई जग जीवन-मुक्ख बने हैं।।

इस पद्य में जीवन्मुक्त होने वाले पुरुष का वर्णन है। संसार की असारता आलम्बन है, शम स्थायिभाव है। सन्तों का संग होने से, तीर्थयात्रा करने से यह भाव उद्दीप्त बनता है। भूख से अघाना, शूल को फूल समझना, मोती को काँच समझना, मिट्टी तथा हीरा को एक समझना ये सब अनुभाव हैं। चित्त में हर्ष, प्रबोध, वितर्क आदि सञ्चारी भाव हैं। अतः पूर्ण शान्त रस है।

काव्य प्रकाश की 'प्रदीप' नामक व्याख्या में यह प्रश्न उठाया गया है कि शान्तरस की भावना तो अनिवार्य है, परन्तु 'निर्वेद' को उसका स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है, उसके स्थान पर शम को उसका स्थायिभाव मानना चाहिए। उनका कहना है कि 'निर्वेद' सब चित्तवृत्तियों का अभाव होता है, अतएव अभावरूप होने से उसको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है। इसके विपरीत निरीहावस्था में आत्मलीन होने से जो आनन्द होता है, उसको 'शम' कहते हैं। 'शम' भावरूप है, इसलिए शान्तरस का स्थायिभाव शम ही हो सकता है।

इस मत का खण्डन अन्य व्याख्याकारों ने किया है। उनका कहना है कि शान्तरस का स्थायिभाव तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही है। जैसे निरपेक्ष भावरूप शोक को स्थायिभाव माना जा सकता है; भरतमुनि ने जो 'क्वचिच्छमः' कहा है, वहाँ भी 'शम्यते यस्मादिति शमः' इस व्युत्पत्ति से निर्वेद ही शम पद वाच्य होता है।

शान्तरस के विषय में आचार्यों की विवेचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' तथा धनिक ने उसकी टीका में इसके विषय में आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया है, जो यहाँ दिया जाना असङ्गत नहीं होगा।

१. शान्तरस प्रस्थानविरुद्ध

भरतमुनि का रस वर्णन ही साहित्य संसार में एकमात्र प्रामाणिक माना जाता है, परन्तु उन्होंने 'शान्तरस' नामक नवम रस का वर्णन कहीं नहीं किया है। अतएव भरत द्वारा प्रतिपादित न होने से शान्तरस नहीं होता।

२. शम का व्यावहारिक क्षेत्र में अभाव

दूसरे आचार्य शम की सत्ता व्यावहारिक जगत् में ही नहीं मानते। पहला मत तो शम का अभाव केवल काव्यनाटक में मानने का पक्षपाती है, परन्तु इस द्वितीय मत में इसका सर्वथा अभाव अभीष्ट है, क्योंकि राग-द्वेष का नाश करना एकदम असम्भव है। राग-द्वेष का प्रवाह मनुष्यों में अनादि काल से चला आता है, जिसका सर्वथा नाश असम्भव ही है। ऐसी स्थिति में शान्तरस का उदय ही कैसे हो सकता है।

३. अन्तर्भाववाद

इस पक्ष के आचार्य चित्त की शम प्रधानस्थिति मानते हैं अवश्य, परन्तु वे शम को स्वतन्त्र स्थायी भाव नहीं मानते और न शान्तरस को ही एक स्वतन्त्र रस मानते हैं। इसका अन्तर्भाव वीर तथा बीभत्स आदि मान्य रसों के भीतर हो जाता है। शम प्रधान चित्त में परमतत्त्व के पाने के लिए जो सन्तत प्रयत्न होता है, वह उत्साहमय होने से शान्तरस 'वीर' के भीतर अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। इसमें संसार के विषयों से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल होता है। तब इसका अन्तर्भाव बीभत्स रस के भीतर हो सकता है। यह मत व्यवहार क्षेत्र में शम का अपलाप नहीं करता, परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र रस न मानकर यह उसका अन्तर्भाव वीर तथा बीभत्स आदि विद्यमान रसों के भीतर ही मानता है।

४. नाटक में शान्तरस का निषेध

इस मत के अनुसार शान्तरस की स्थिति अवश्य है, परन्तु उसका प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता। व्यापार के विराम होने पर शान्त होता है। शान्तरस वहाँ होता है, ज़हाँ दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, न द्वेष है और न चिन्ता, न राग है और न विराग –

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः।।

यह स्थिति मोक्षावस्था में ही सम्भव है, परन्तु नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की योग्यता। सुख तथा दुःख का, राग तथा द्वेष का प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट होता है। ऐसी दशा में शान्तरस का अभिनय ही क्योंकर हो सकता है? जब उसमें अभिनेय वस्तुओं का सर्वथा अभाव ही होता है। वैराग्ययुक्त शान्तरस का आस्वाद लौकिक रसिक लोक कथमपि नहीं कर सकते। शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतएव दशरूपककार के मत में शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता। हाँ काव्य में उसकी स्थिति सम्भव है, उसका विरोध यह मत नहीं करता।

५. शान्तरस की सार्वत्रिक स्थिति

अभिनवगुप्त का यह मत मान्य तथा अधिक प्रामाणिक है कि शान्तरस काव्य में तथा नाटक में दोनों में अवश्यमेव रहता है। इसके स्थायीभाव के विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख 'अभिनवभारती' में बड़े विस्तार के साथ आचार्य ने किया है। इस मत में शान्तरस के स्थायीभाव के विषय में भी मतभेद है। उसकी सत्ता तथा प्रामाणिकता में कथमपि विरोध नहीं। काव्य तथा नाटक दोनों में समभावेन रहता है। इतना ही नहीं, इन आचार्यों के मत में शान्तरस ही सबसे श्रेष्ठरस होता है। यह प्रकृति रस होता है और इतर रस शृङ्गार आदि इसकी नाना विकृतियाँ हैं। कश्मीर के शैवाचार्य अभिनवगुप्त का शान्तरस का प्राधान्यबोधक यह मत उनके दार्शनिक दृष्टिकोण से सर्वथा अनुकूल है।

१०. वात्सल्य रस

प्राचीन आचार्य वात्सल्य को रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। १४वीं शती में विश्वनाथ कविराज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में इसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी साहित्य को तुलसी तथा सूरदास ने इस रस की कविताओं से विशेष चमत्कृत किया है। अतः अन्य रसों के साथ इसका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

वात्सल्य का स्थायी भाव अपने छोटों जैसे भाई–बहन, पुत्र–कन्या आदि के ऊपर जो प्रेम किया जाता है, उसे वात्सल्य कहते हैं, वही स्थायी है।

आलम्बन – भाई–बहन तथा पुत्र–कन्या।

उद्दीपन – बालक की तोतली बोली सुनकर, उसका सौन्दर्य देखकर, उसकी ललित क्रीड़ा निरखकर यह प्रीतिभाव और भी बढ़ता है। अतः ये उद्दीपन विभाव कहलायेंगे।

अनुभाव – स्नेह से गोद में लेना, आलिङ्गन करना, सिर सूंघना, सिर पर हाथ फेरना आदि।

संचारी भाव – हर्ष, गर्व आदि।

इस प्रकार प्रकट चमत्कारक होने के कारण कुछ लोग वात्सल्य रस भी मानते हैं। इसी बात को साहित्यदर्पण में इस प्रकार कहा गया है –

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।।

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्।।

पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः।।

पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवगं लोकमातरः[1]।।

वात्सल्य का वर्ण कमल गर्भ के समान और ब्राह्मी आदि माताएँ इसकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। उदाहरण –

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः।।

---

१. सा०द० ३.२५१–२५४।

अर्थात् वह बालक रघु धाई के कहे हुए वचनों को तुरन्त कह देता था। उसकी अङ्गुली पकड़कर चलता था। प्रणाम करने को कहते ही नम्र हो जाता था। इससे पिता महाराज दिलीप के आनन्द को परिवर्धित करता था। हिन्दी के एक पद्य को वात्सल्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

कबहूँ शशि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं
कबहूँ करताल बजाई कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआई कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं,
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं।।

दशरथ के चारों बालकों की नाना लीलाओं को देखकर प्रेमभाव उत्पन्न होता है।

११. भक्तिरस

भक्तिरस के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। प्राचीन आचार्य इसे देवताविषयक रति मानकर केवल भावकोटि में ही निविष्ट करते हैं। परन्तु गौड़ीय वैष्णवों ने इसे रस ही नहीं माना, प्रत्युत सर्वश्रेष्ठ आदिरस माना है। श्रीरूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं।

स्थायीभाव – श्रीकृष्णविषयक रति। देवविषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्णविषयक रति देव विषया रति से भिन्न पदार्थ है और यहाँ वही स्थायी भाव है।

आलम्बन – श्रीकृष्ण या श्रीराम।

उद्दीपन – भक्तों का समागम, तीर्थ का सेवन, नदी का एकान्त पवित्र स्थल आदि।

अनुभाव – भगवान् के नाम तथा लीला का कीर्तन, गद्गद हो जाना, आँखों से आँसुओं का गिरना, पृथ्वी पर लोट-पोट हो जाना, कभी हँसना, कभी रोना और कभी नाचना आदि।

संचारी भाव – मति, हर्ष, वितर्क आदि।

उदाहरण

व्याध हूँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं
ग्राह ते गुनाही कैसे तिनगौ गिनाओगे।
स्यौरी हौं न शूद्र नहीं केवट कहूँ को त्यौ
न गौतमी-तिया जापै पग धरि जावोगे।।
राम सों कहत 'पद्माकर' पुकारि पुनि
मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।
झूठे हो कलंक सुनि, सीता जैसी सती तजी नाथ
हौं तो साचौं ही कलङ्की ताहि कैसे अपनाओगे।।

यहाँ भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार कर क्षमा की याचना करता है। भगवान् के प्रति प्रेम स्थायी भाव है। भगवान् राम इसके आलम्बन हैं तथा साधु की संगति, पवित्र तीर्थ स्थल उद्दीपन विभाव हैं। भगवान् से गिड़गिड़ाना, अपने अपराधों को स्वीकार कर लेना तथा उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना ये सब अनुभाव हैं। मति, चिन्ता, वितर्क, आदि संचारी भाव हैं। अतः पूर्ण भक्तिरस है।

भाव का लक्षण

यद्यपि स्थायिभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों के साथ भी भाव शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु ये 'भाव' जिनका निरूपण आगे करने जा रहे हैं, उन भावों से भिन्न प्रकार के हैं। भरतमुनि ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्तीति भावा' दो प्रकार से की है। उसका लक्षण इस प्रकार किया है –

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः।।
वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेश्चान्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।।

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः[1]।।

प्रकृत भाव पदार्थ उससे भिन्न है। काव्यप्रकाशकार उसका लक्षण निम्नलिखित प्रकार से करते हैं –

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।
भावः प्रोक्तः[2]।

अर्थात् देव आदि विषयकरति (आदि सभी स्थायिभाव) और व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव भाव कहलाते हैं। आदि शब्द से मुनि, गुरु, राजा और पुत्र आदि विषयक रति का संग्रह होता है। पुरुष तथा स्त्री विषयक रति को छोड़कर अन्यों के प्रति जो रति है, वह सब 'भाव' पदवाच्य हैं। स्त्री विषयक रति व्यक्त होने पर शृङ्गार कहलाती है।

रसाभास, भावाभासों का लक्षण

शृङ्गार आदि रसों अथवा भावों का अनुचित रूप से वर्णन क्रमश 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहलाता है। आचार्य मम्मट ने कहा है –

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः[3]।

वह अनौचित्य अनेक प्रकार का हो सकता है। उनका निर्णय सहृदय पुरुषों की व्यवस्था के अनुसार ही हो सकता है। जैसे रति के विषय में ही अनौचित्य के अनेक रूप हो सकते हैं। एक स्त्री का एक पुरुष के प्रति प्रेम उचित है, परन्तु यदि एक स्त्री का अनेक पुरुषों के प्रति प्रेम का वर्णन किया जाय, तो वह अनुचित होने से 'रसाभास' की कोटि में आयेगा, जैसा कि कहा भी है –

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयानिष्ठायाम्।।

---

१. नाट्यशास्त्र, ७.२-३,

२. का०प्र० ४.३५,

३. का०प्र० ४.२६।

आभासत्वं कथितं तथैव तिर्यगादिविषयायाम्।

इसी प्रकार गुरु आदि को आलम्बन बनाकर हास्यरस का प्रयोग अथवा वीतराग को आलम्बन बनाकर करुण आदि का प्रयोग, माता-पिता विषयक रौद्र तथा वीर रस का प्रयोग, वीरपुरुषगत भयानक का वर्णन, यज्ञीय पशु आदि को आलम्बन बनाकर बीभत्स का, ऐन्द्रजालिक आदि विषयक अद्भुत और चाण्डाल आदि विषयक शान्त रस का प्रयोग भी अनुचित माना गया है। इसलिए वे सब रसाभास के अन्तर्गत होते हैं। इसी प्रकार रसाभास, भावाभास के साथ ही भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता इन चार का भी निरूपण काव्यशास्त्र में रस के अन्तर्गत किया गया है।

काव्य में रस

काव्यशास्त्र में काल विभाग के प्रकरण में कुछ साहित्यिक सम्प्रदायों की चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायों की स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्व के विषय में मतभेद के कारण हुई है। जो लोग रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, वे रससम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। रस सम्प्रदाय के संस्थापक भरत मुनि हैं। यद्यपि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में भरत से भी पहले नन्दिकेश्वर को रससिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना है, किन्तु नन्दिकेश्वर का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्य के आधार पर काव्यशास्त्र के पितामह भरत को ही रससम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। रस के विषय में सबसे पहला विवेचन भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ही पाया जाता है। भरतमुनि का **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** यह प्रसिद्ध रससूत्र ही रससिद्धान्त का प्राणभूत है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर रस का विवेचन किया है। इसलिए भरतमुनि को ही रससम्प्रदाय का आदिप्रवर्तक मानना होगा। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है। वही रस सिद्धान्त का आधार है।

भरत मुनि के रससिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप में भट्टलोल्लक, शङ्कुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि चार आचार्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके मतों की चर्चा काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में की गयी है। साहित्यदर्पणकार

आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा मानकर रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है। सार अर्थात् सबसे प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत आत्मा है, वह वाक्य रसात्मक कहलाता है। रस के बिना काव्यत्व नहीं होता। क्योंकि रसास्वादरूप मीठी-मीठी वस्तु के द्वारा, कठिन वेद-शास्त्रादिकों से विमुख सुकुमारबुद्धि शिक्षणीय राजपुत्रादिकों के प्रति 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्-रामादि की तरह प्रवृत्त होना चाहिए, रावणादि की तरह नहीं इत्यादिक कृत्य में प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति के उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन बतलाया गया है। अतः जहाँ रसास्वाद है, वही वाक्य काव्य होते हैं, नीरस नहीं। ऐसा ही आग्नेय पुराण में भी कहा है –

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि कवि यदि केवल इतिहास लिख दे, तो उस ग्रन्थ को काव्यपद प्राप्त नहीं हो सकता। कवि जो कुछ लिख दे, वह सब काव्य नहीं हुआ करता और न उससे काव्य का प्रयोजन ही सिद्ध होता है। पुरानी कथाओं का ज्ञान होना काव्य का प्रयोजन नहीं, वह तो इतिहास पुराणादिकों से भी हो सकता है – **नहि कवेरितिवृत्तनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम् इतिहासादेवेव तत्सिद्धेः**। अतः रस ही काव्य का प्राण है।

यहाँ रस शब्द का अर्थ शृङ्गारादि रस विवक्षित नहीं है, अतः 'रस्यत आस्वाद्यत इति रसः' इस योगार्थ के द्वारा जो आस्वादित हो, उस सबको रस कहते हैं। इससे रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता, भावोदय आदि का भी ग्रहण होता है।



पञ्चम उन्मीलन
गुण, अलङ्कार और दोष

काव्य में गुण

लोक में किसी व्यक्ति को हम अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, उसका नाम सुनते ही हमारी भौंहे तन जाती हैं और घृणा की भावना जाग पड़ती है। परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिन्हें हम अत्यन्त सत्कार की दृष्टि से देखते हैं और जिसका नाम सुनते ही हमारा हृदय उनके प्रति आदर तथा सम्मान की भावना से भर जाता है। इस तिरस्कार और सत्कार की भावना के उदय का क्या कारण है? पहले में दोषों की सत्ता तथा दूसरे में गुणों का सद्भाव। शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है, जितना मानसिक दोषों के कारण। उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य जगत् की दशा भी ठीक वैसी ही है। दोषों के कारण यदि काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वहीं माधुर्य या श्रवण पेशलता के कारण प्रशंसनीय होता है तथा श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। महाकवि मतिराम का यह शारदा की स्तुति में लिखा गया दोहा –

अंग ललित सित रंग पट अंगराग अवतंस।
हंसवाहिनी कीजिये वाहन मेरो हंस।।

श्रोताओं के हृदय को बलात् अपनी ओर क्यों खींचता है क्या कारण है कि इस छोटे से पद्य में श्रवण के साथ ही साथ चित्त को चमत्कृत करने की अद्भुत कला विद्यमान है? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है – गुणों के सद्भाव के कारण, माधुर्य की सत्ता के कारण।

गुण का लक्षण

शौर्य आदि गुणों का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर के साथ नहीं रहता, प्रत्युत आत्मा के साथ होता है। शरीर से दुबले–पतले आदमी को भी हम अत्यन्त वीरता वाले काम करते इसीलिए पाते हैं कि उसके भीतर शूरता भरी रहती है

अर्थात् उस मनुष्य की आत्मा शूर होती है। काव्य में भी ठीक यही दशा होती है। कहा गया है कि शब्द तथा अर्थ तो काव्य के शरीर होते हैं तथा रस ही आत्मा के स्थान पर होता है अर्थात् रस ही काव्य में होता है और गुण मुख्य रस के ही धर्म होते हैं। उसी से रस के साथ गुण का साक्षात् सम्बन्ध होता है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने कहा है –

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

जैसे शौर्य आदि धर्म आत्मा के ही होते हैं, शरीर या आकार के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं, वर्णों के नहीं। कहीं–कहीं शौर्य आदि आत्मगुणों के योग्य शरीर की आकृति लम्बाई चौड़ाई को देखकर इसका आकार ही शूरवीर है, इस प्रकार का व्यवहार होने से और दूसरी जगह अशूर (काया) में भी केवल लम्बी–चौड़ी आकृति को देखकर शूर है यह तथा कहीं शूर में भी केवल, शरीर के छोटे होने के कारण भ्रान्त लोग व्यवहार करने लगते हैं। इसी प्रकार मधुर आदि गुणों के व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों में मधुर आदि व्यवहार के होने से अमधुर आदि रस के अङ्गभूत वर्णों की सुकुमारता आदि मात्र से माधुर्य आदि का तथा मधुर आदि रसों के अङ्गभूत उन वर्णों के असुकुमार (कठोर) होने से रस की मर्यादा को न समझने वाले उनके अमाधुर्य आदि का व्यवहार करते हैं। इसलिए गुण माधुर्य आदि रस के धर्म हैं, वे योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णों के आश्रित रहने वाले नहीं हैं।

गुण इस प्रकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरंग धर्म होते हैं। अलङ्कार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। वह शब्द तथा अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है और इसलिए वह काव्य की शोभा बढ़ाने वाला बाहरी धर्म होता है। इतना ही नहीं दोनों में एक विशेष अन्तर यह भी होता है कि गुणों की स्थिति काव्य में सर्वदा रहती है। ऐसा कोई काव्य नहीं होता, जिसमें गुण कहीं न कहीं विद्यमान न हों। निर्गुण काव्य की कल्पना असम्भव है। परन्तु अलङ्कार के लिए यह अचल स्थिति नहीं होती। वह काव्य में साधारणतया रहता है, परन्तु उसके अभाव में भी काव्य का स्वरूप बना रहता है, यदि उसकी शोभा के आधायक अन्य तत्त्व जैसे रस आदि वर्तमान हों। गुण रस का सदा पोषक होता है। परन्तु अलङ्कार ऐसा नहीं होता। यदि रस वर्तमान रहता है, तो अलङ्कार शब्द तथा अर्थ के द्वारा उसका उपकार करता है। परन्तु यह दशा सदा नहीं रहती। अलङ्कार वर्तमान होकर भी कभी–कभी तो वह ठीक रस के विरोधी बातों की पुष्टि करता है। इस प्रकार गुण तथा अलङ्कार में गहरा अन्तर है – मौलिक भेद

है। थोड़े में हम कह सकते हैं कि काव्य में सदा विद्यमान रहनेवाले अर्थात् अचलस्थिति वाले तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को गुण कहते हैं।

गुण का भेद

गुणों की संख्या के विषय में संस्कृत आचार्यों में गहरा मतभेद है। आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की संख्या दश मानी है और उनके नाम ये हैं – १. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. सुकुमारता, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता, १०. कान्ति। दण्डी ने भी गुणों की संख्या तथा अभिधान तो यही माना, परन्तु उनके स्वरूप के विषय काफी भिन्न है। वामन ने इन गुणों को द्विगुणित कर दिया। शब्द तथा अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण इनके स्वरूप में वे विशेष अन्तर मानते हैं। भोजराज के हाथों इनकी संख्या में और भी वृद्धि हो जाती है, वे चौबीस गुण मानते हैं। आचार्य मम्मट तीन ही गुण स्वीकार करते हैं और इन सबका समावेश तीन ही गुणों के भीतर करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं –

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश[1]।।

इस प्रकार वामन के दस शब्द गुणों में से १. श्लेष, २. समाधि, ३. उदारता और ४. प्रसाद ये चार गुण मम्मट ने ५. ओज गुण के अन्तर्गत कर लिये हैं। ६. माधुर्य गुण मम्मट ने भी उसी नाम से माना है। ७. अर्थव्यक्ति रूप गुण मम्मट ने अपने प्रसाद गुण के अन्तर्गत मान लिया है। ८. समता गुण कहीं दोषरूप हो जाता है, इसलिए गुण नहीं है। ९. सौकुमार्य तथा १०. कान्ति गुण कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष का परिहाररूप होने से गुण नहीं माने जा सकते हैं। इस प्रकार मम्मट उन दस गुणों को न मानकर उनके स्थान पर केवल तीन ही गुण मानते हैं –

माधुर्यौजःप्रासादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश[2]।

गुण माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन ही होते हैं, वामन के अभिप्रेत दस गुण नहीं होते हैं।

---

१. का०प्र० ८.७२।

२. का०प्र० ८.३८।

१. माधुर्य गुण

गुणों का नियमन अक्षरों, समास तथा घटना के द्वारा होता है। माधुर्य गुण में ट, ठ, ड तथा ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पञ्चमवर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ तथा लकार ह्रस्व स्वर से युक्त होते हैं। समास का सर्वथा अभाव होता है या छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है। इस गुण में चित्त एकदम पिघला सा बन जाता है। करुण, विप्रलम्भ तथा शान्तरस में माधुर्य क्रम से अधिक से अधिक प्रभावशाली होता है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है –

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृगारे द्रुतिकारणम्।।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्[1]।।

वे माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्णों का कथन करते हुए कहते हैं –

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गारणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा[2]।।

देव कवि की यह सुन्दर घनाक्षरी माधुर्य गुण का रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत करती है –

मंद मंद चढ़ि चल्यो चैत निसि चंद चारु,
मंद मंद चाँदनी पसारत लतन ते।
मंद मंद जमुना-तरंगिनि हिलोरै लेति,
मंद मंद मोह मंजु मल्लिका सुमन तें।
देव कवि मंद मंद सीतल सुगंध पौन,
देखि छवि छीजत मनोज छन-छन तें।
मंद मंद मुरली बजावत अधर धरे,
मंद मंद निकस्यौ मुकुंद मधुवन तें।।

---

१. का०प्र० ८.६८-६९।

२. का०प्र० ८.७४।

ओज गुण

वर्ग के प्रथम वर्ण का तृतीय से और द्वितीय का चतुर्थ से योग (जैसे प्रच्छ, बद्ध आदि) रेफ के साथ किसी वर्ण का योग, किसी वर्ण का उसी वर्ण के साथ योग (जैसे चित्त, वित्त आदि) तथा ट, ठ, ड, ढ, श तथा ष का प्रयोग, दीर्घ समास तथा विकट रचना ओज गुण के अभिव्यञ्जक होते हैं। भूषण कवि के कवित्त तथा भवभूति के पद्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ओज गुण चित्त के विस्तार का जनक होता है। वह वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसों में क्रमशः अधिकता से विद्यमान रहते हैं। मम्मट ने ओज गुण के विषय में कहा है –

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च[1]।।

आचार्य मम्मट ओज गुण के व्यञ्जक वर्णादि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेणतुल्ययोः।
तादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि[2]।।

महाकवि भूषण का यह युद्धवर्णन करने वाला छप्पय ओजगुण से पूर्णतया मण्डित है –

मुंड कटत कहिँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख वृद्धि रसत मन।
भूत फिरत करि वृत्त भिरत सुरदूत घिरत कहूँ।
चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ।
इमि ठानि घोर घमसान अति भूषन तेज कियो अटल।
सिवराज साहि-सुव खग्ग बलदलि अडोल बहलोल दल।।

प्रसाद गुण

जब काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जो सुनते ही श्रोता के

---

१. का०प्र० ८.६९–७०।

२. का०प्र० ८.७५।

चित्त पर चढ़ जाय तथा समझ में आ जाय, तब वहाँ 'प्रसाद गुण' की स्थिति होती है। इसकी स्थिति सब रसों में तथा सब रचनाओं में होती है। माधुर्य तथा ओज के समान यह किसी रसविशेष के साथ नहीं रहता, प्रत्युत सब रसों का तथा सब रचनाओं का साधारण धर्म होने वाला गुण है। इनका मुख्य रूप से सम्बन्ध रस के ही साथ होता है, जो काव्य की आत्मा होता है। गौड़ रीति से इसका सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ के साथ भी माना जाता है। जैसे सूखे ईंधन में अग्नि सहसा व्याप्त हो जाती है अथवा स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल सहसा व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो चित्त में सहसा अनायास व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद नामक गुण कहलाता है और वह सारे रसों में और सारी रचनाओं में रहता है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण के विषय में कहा है –

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
वाप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः[1]।।

प्रसाद गुण के व्यञ्जक वर्णादि का निरूपण करते हुए कहते हैं –

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः[2]।।

मतिराम की यह सवैया जो मानवती नायिका के स्वरूप का वर्णन करती है, प्रसाद गुण का सुन्दर दृष्टान्त है –

सो मनमोहन होत तटू मुख जाको भटू विधु की छवि छाजै;
खोल कै नैनन देखैं जो नैक तो, स्याम-सरोज पराजय साजै।
जो विहसैं मुख सुन्दर तो 'मतिराम' विहाल की वारिज लाजै।
बोले अली मृदु मंजुल बोल तो, कोकिल-बोलनि को बन भाजै।।

इस सवैया को पढ़ते ही मानवती का रूप नेत्रों के सामने अनायास खड़ा

---

१. का०प्र० ८.७०-७१

२. का०प्र० ८.७६।

हो जाता है। इस पद्य के समझने में पाठकों को किसी प्रकार बुद्धि को कष्ट देने की जरूरत नहीं होती। अतः यह प्रसाद गुण से सर्वथा पूर्ण है।

काव्य में अलङ्कार

अलङ्कार में जो वस्तु जीवनी शक्ति डालकर उसे सजीव तथा आकर्षक बनाती है, वह चमत्कार के नाम से प्रख्यात है। अलङ्कार का अलङ्कारत्व तभी है, जब वह चमत्कार से मण्डित है। अलङ्कार का सामान्य रूप है वैचित्र्य, विचित्रता – वैचित्र्यमलङ्कारः। विचित्रता से हीन स्वभाव कभी अलङ्कार नहीं हो सकता। अलङ्कार की यही कसौटी है – विचित्रता, चमत्कार। इसके लिए कवि को प्रतिभा की बड़ी आवश्यकता होती है। बिना विचित्रता के कोई भी साधन अलङ्कार के महनीय नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। एक उदाहरण से इसे समझिए। अपह्नुति नामक एक अलङ्कार होता है, जिसमें प्रकृत वस्तु का तिरस्कार कर एक अप्रकृत वस्तु की स्थापना की जाती है। पूर्णिमा की रात को आकाश की ओर दृष्टिपात करता हुआ संस्कृत का कवि कह रहा है –

नेदं नभो मण्डलमम्बुराशे-
नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो
नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः।।

कवि का कहना है कि यह आकाश नहीं, बल्कि जल का एक विशाल समूह है। ये तारायें नहीं हैं, बल्कि फेन के नये टुकड़े हैं। यह चन्द्रमा नहीं है, अपितु कुण्डली मारकर गोले में बैठने वाला सर्प है। यह चन्द्रमा का कलंक नहीं है, बल्कि काले रंग वाले भगवान् विष्णु उस पर शयन कर रहे हैं। विचित्रता होने के कारण ही यह अपह्नुति अलङ्कार रूपा है। यदि वैचित्र्य नहीं, तो अलङ्कार भी नहीं। कोई कवि बैल का वर्णन कर रहा है –

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।

गाय का यह बेटा बैल है, जो मुख से तृणों को चरता है। जातिगत होने से यह वर्णन सच्चा तथा वैज्ञानिक भले माना जाय, परन्तु यह चमत्कार–

हीन होने से अलङ्कार कोटि में कभी नहीं आ सकता। इस प्रकार की चमत्कारहीन उक्ति को भामह ने वार्ता कहा है–

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यवार्तामेनां प्रचक्षते।। (काव्या. २।८७)

इस प्रकार अलङ्कार का सामान्य लक्षण है वैचित्र्य, जिसे प्रत्येक अलङ्कार में होना नितान्त आवश्यक होता है।

अलङ्कार का लक्षण

आचार्य मम्मट के शब्दों में जैसे शरीर की शोभा बढ़ाने वाले कटक, कुण्डल आदि नाना प्रकार के भूषण या गहने होते हैं, वैसे ही अलङ्कार शब्द तथा अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म हैं। अस्थिर कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में अलङ्कार की स्थिति आवश्यक नहीं रहती। वे काव्य में रह भी सकते हैं और नहीं भी रह सकते हैं। गुणों के समान उनकी स्थिति नियत नहीं होती है। गुण तो काव्य में नियत रूप से रहता है, गुणों का निवास काव्य में अनिवार्य है। गुण रस का सदा उपकार करते हैं; परन्तु अलङ्कार काव्य में विद्यमान रहने वाले रस का उपकार करते हैं और कभी-कभी तो विद्यमान भी रस का उपकार नहीं करते – **सन्तमपि नोपकुर्वन्ति**। इसलिए अलङ्कार को अस्थिर धर्म कहा है, जो स्थिर तथा नियत धर्म गुण से सर्वथा भिन्न होता है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है –

उपकुर्वन्ति तं सन्तं मेऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः[१]**।।**

यह विवेचन ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि से किया गया है, परन्तु अलङ्कारवादी आचार्यों की दृष्टि काव्य में अलङ्कार को विशेष महत्त्व देती है। वे अलङ्कार को काव्य का नितान्त आवश्यक शोभावर्धक साधन मानते हैं, जिनका काव्य में निवास नितान्त आवश्यक होता है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना असम्भव है, वैसे ही अलङ्कार के बिना काव्य की सत्ता निराधार है। यही बात चन्द्रालोककार जयदेव कहते हैं –

---

१. का०प्र० ८.६७।

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यन्ते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती[१]।।

परन्तु आजकल का आलङ्कारिक अलङ्कारों को काव्य में इतना महत्त्वशाली नहीं मानता। वह उसे काव्य का अस्थिर धर्म मानता है, जो काव्य में रहकर उसे चमत्कृत बनाने की योग्यता रखता है अथवा कभी-कभी न रहकर भी काव्य को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। अलङ्कार का यही परिनिष्ठित रूप है।

अलङ्कार का विकास

संस्कृत के आचार्यों ने अलङ्कार के विकास को अपने ग्रन्थों में भलीभाँति समझाया है। काव्यशास्त्र एक प्रगतिशील वर्धिष्णुशास्त्र है, जिसका प्रत्येक आचार्य कुछ नवीन मान्यताओं के साथ स्थापना अपने ग्रन्थ में करता है और प्राचीन मान्यता के ऊपर भी एक नये सिरे से या नयी दृष्टि से विचार करता है। इसीलिए यह शास्त्र लकीर का फकीर बनकर केवल पिष्टपेषण नहीं करता और प्राचीनों के द्वारा वर्णित सिद्धान्तों की ही पुनः आवृत्ति नहीं करता, अपितु नवीन बातों को खोजकर नये काव्यतत्त्वों का उन्मेष करता है।

सबसे प्राचीन आलङ्कारिक आचार्य भरत ने केवल चार ही अलङ्कार माने हैं – यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक, जिनमें यमक तो शब्दालङ्कार का प्रतिनिधि है तथा अन्य तीन अर्थालङ्कार के। इन्हीं चार अलङ्कारों का विकास होते-होते अलङ्कारों की संख्या कुवलयानन्द में १२५ तक पहुँच गयी है। संख्या में ही विकास नहीं है, अलङ्कारों के स्वरूप में भी पर्याप्त विकास होता गया है। यहाँ तक कि पुराने अलङ्कारों को हम नये अलङ्कार के ही रूप में नहीं पाते, प्रत्युत उन्हें नये काव्यतथ्य के रूप में भी पाते हैं। वक्रोक्ति इसका स्पष्ट उदाहरण है। भामह आदि प्राचीन आलङ्कारिकों में यह केवल अलङ्कार है, परन्तु कुन्तक ने इसे ऊपर उठाकर काव्य के व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है – **वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।**

प्राचीन आलङ्कारिकों ने जहाँ किसी अलङ्कार का एक या दो भेद माना है,

---

१. च०लो० प्रथम मायूख।

पिछले आलङ्कारिकों ने वहाँ अपनी बुद्धि से नये-नये प्रकारों को खोज निकाला है। तुल्ययोगिता का एक ही प्रकार काव्य-प्रकाश में वर्णित है तथा विवेचित है, परन्तु अप्पय्य दीक्षित ने इसके चार विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। निदर्शना के केवल दो प्रकारों का लक्षण काव्यप्रकाश में मिलता है, परन्तु कुवलयानन्द में उसके पाँच प्रकारों की मीमांसा है। भाविक कभी प्रबन्ध का एक सर्वातिशायी व्यापक तत्त्व माना जाता था। वहीं पिछले युग में केवल एक सामान्य अलङ्कार के रूप में दीख पड़ता है। किसी अलङ्कार के महत्त्व घटने का यह अच्छा उदाहरण है। संस्कृत के आलोचना ग्रन्थों में इतनी विपुल सामग्री उपस्थित है कि उसके आधार पर प्रत्येक अलङ्कार के विकास की कहानी बड़े ही रोचक ढंग से लिखी जा सकती है।

अलङ्कार के विभाजक तत्त्व

स्थिति की दृष्टि से अलङ्कार का विभाजन किया जाता है। काव्य के शब्द और अर्थ ही शरीर के स्थान पर होते हैं। जिस प्रकार लोक में अलङ्कार शरीर की शोभा बढ़ाता है तथा शरीर के ऊपर स्थित रहता है, उसी प्रकार ये काव्यालङ्कार भी शब्द और अर्थ में निवास करते हैं। इस दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं – १. शब्दालङ्कार, २. अर्थालङ्कार ३. उभयालङ्कार। इस भेद के मूल तत्त्व को भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। कोई अलङ्कार शब्द में रहता है, इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ शब्द ही प्रधान रहता है। शब्द की प्रधानता से तात्पर्य यह है कि वह शब्द वहाँ से हटाया नहीं जा सकता। यदि उसके स्थान पर उसका कोई पर्याय रखा जाये, तो वह अलङ्कार बिलकुल गायब हो जाता है। शब्दविशेष के रहने पर ही अलङ्कार की स्थिति है और शब्द के हटते और उसके स्थान पर उसके समानार्थक शब्द के रखते ही अलङ्कार अस्तंगत हो जाता है। ऐसे अलङ्कार को शब्दालङ्कार कहते हैं।

यदि शब्द के पर्याय में परिवर्तन करने पर भी अलङ्कार की सत्ता विद्यमान रहती है, तो अर्थ की प्रधानता होने के कारण यह 'अर्थालङ्कार' कहलाता है। 'उभयालङ्कार' में पूर्वोक्त दोनों विशेषताएँ पद्य के किसी न किसी भाग में अवश्य मिलती हैं। अर्थात् पद्य के किन्हीं शब्दों को हम पर्याय के रूप में बदल सकते हैं (अर्थालङ्कार) और किन्हीं शब्दों को हम बदल नहीं सकते (शब्दालङ्कार)।

इसी विशेषता के कारण यह अलङ्कार उभयालङ्कार के अन्वर्थक नाम से पुकारा जाता है। शब्दालङ्कारों की संख्या मुख्यतया आठ है, अर्थालङ्कारों की लगभग एक सौ तथा उभयालङ्कार केवल एक ही होता है।

इन अलङ्कारों की स्थिति दो रूपों में हो सकती है – केवल रूप या मिश्रित रूप। ये अकेले भी रहते हैं तथा अन्य अलङ्कारों के साथ मिलकर भी रहते हैं। यह मिश्रण दो प्रकार का होता है – नीरक्षीरवत् तथा तिलतण्डुलवत्। नीर और क्षीर, पानी और दूध एक दूसरे में जब मिल जाते हैं, तब अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार जब दो या दो से अधिक अलङ्कार ऐसे मिले होते हैं कि उनका अलग करना कठिन हो, तब अलङ्कारों की यह मिलावट 'संकर' कहलाती है। जब अलङ्कारों का मिश्रण तिल तथा तण्डुल, तिल तथा चावल के मिलावट के समान हो, तब इसे संसृष्टि कहते हैं। जिस प्रकार मिले हुए काले तिल और उज्ज्वल चावल को अलग कर लेना सहज होता है, उसी प्रकार एक ही रचना में जहाँ अलङ्कार अलग-अलग स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, वहाँ 'संसृष्टि' अलङ्कार होता है।

शब्दालङ्कार

शब्दालङ्कारों के एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

अनुप्रास

जहाँ अक्षरों की समानता दिखाई जाय, उसके स्वर मिलें या न मिलें, वहाँ अनुप्रास होता है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्[१]।

अनुप्रास का अर्थ है रस के अनुकूल अक्षरों की रचना (प्रास) इस अलङ्कार के कई भेद होते हैं –छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास। जहाँ एक वर्ण की या अनेक वर्णों की समानता केवल एक बार हो, वहाँ छेकानुप्रास होता है और जहाँ यह समानता वृत्ति के अनुकूल कई बार हो, वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है। जहाँ शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति हो और उसका

---

१. सा०द०, १०.३।

अर्थ भी एक ही हो, केवल अन्वय करने से तात्पर्य बदल जाता है, वहाँ लाटानुप्रास होता है।

राधा वर के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।
दाखु दुखी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय।

यहाँ एक ही वर्ण की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। यहाँ 'वर' और 'बैन' में बकार की 'चीनी' और 'चकित' में चकार की 'दाख' और 'दुःखी' में दकार की, 'मिसरी और 'मुरी' में मकार की 'सुधा' और 'सकुचाय' में सकार की आवृत्ति' एक बार होती है, इसलिए यह 'छेकानुप्रास' का दृष्टान्त है।

यमक

निरर्थक या भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक स्वर-व्यञ्जन के समुदाय का जहाँ उसी क्रम में पुनः श्रवण हो, वहाँ 'यमक' अलङ्कार होता है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

सत्यर्थे पृथगर्थाया: स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते[1]।।

यमक में अनुप्रास से वैशिष्ट्य स्पष्ट ही मालूम पड़ता है। यमक में आवृत्ति स्वर-व्यञ्जन समुदाय की ही होती है, परन्तु इनमें यदि शब्दों का कोई अर्थ होता हो, वह आपस में एक दूसरे से भिन्न होना ही चाहिए। दोनों समुदायों का निरर्थक होना अभीष्ट है, परन्तु यदि वे सार्थक हैं, तो अर्थ भिन्न ही होना चाहिए। यही इसकी विशिष्टता है। इसमें स्थान का नियम है अर्थात् यमक यदि प्रथम पाद के आदि में विद्यमान हो, तो अन्य पादों के आदि में होना ही चाहिए। संस्कृत के आचार्यों ने इसके अनेक विचित्र प्रकारों का विवरण अपने ग्रन्थों में दिया है। बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा 'यमक' का एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत करता है –

भजन कह्यो तासों भज्यो, भज्यो न एको बार।
दूर भजन जासों कह्यौ, सो तै भज्यौ संसार।।

---

१. सा०द० १०.८।

कवि किसी व्यक्ति को सचेत करते हुए कह रहा है – मैंने जिस भगवान् को भजने की बात कही, उससे तो तुम भाग गये। उसका भजन तुमने एक बार भी नहीं किया और जिन वस्तुओं (संसार के विषयों) से दूर भागने की शिक्षा दी, उनकी ही तुमने सेवा की। यहाँ भजन शब्द के दो अर्थ हैं – १. सेवा करना तथा २. भागना। इन्हीं दोनों अर्थों की यहाँ सत्ता है। 'भज्यो' की आवृत्ति में भी यही अर्थ भेद है। फलतः यह 'यमक' ही है।

वक्रोक्ति

जहाँ किसी के अन्यार्थक वाक्य को कोई दूसरा पुरुष श्लेष से या काकु से अन्य अर्थ में लगा दे, वहाँ दो प्रकार की वक्रोक्ति होती है। एक श्लेष वक्रोक्ति और दूसरी काकुवक्रोक्ति। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा भोजयेद्यदि।,

अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा[1]।।

वक्रोक्ति की यह सीमित कल्पना रुद्रट ने की है। कुन्तक के हाथों यही वक्रोक्ति एक व्यापक काव्यतत्त्व की प्रतिनिधि बन जाती है। नीचे के पद्यांश में शिव तथा पार्वती का संवाद है। प्रथम पाद शिव जी की उक्ति है और द्वितीय पाद में पार्वती का कथन है, जिसमें शिव के शब्दों के भिन्न अर्थ किये गये हैं –

गौरवशालिनी प्यारी हमारी
सदा तुम ही इक इष्ट अहो।
हौ न गऊ नहिं हौ अवशा
अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहो।।

पद्य का आशय यह है कि शिव जी पार्वती से कह रहे हैं कि तुम हमारी गौरवशालिनी प्रियतमा हो। तुम मेरी इष्टदेवी हो। इन वचनों को सुनकर पार्वती 'गौरवशालिनी' शब्द को तीन टुकड़ों में (गौः + अवशा + अलिनी) विभक्त कर उत्तर देती हैं – न मैं गऊ हूँ, न अवशा (वशरहित) हूँ और न अलिनी हूँ।

१. सा०द० १०.९।

तब आप मुझे 'गौरवशालिनी' क्यों कह रहे हैं। यहाँ स्पष्ट है कि वक्ता के द्वारा विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त शब्द को श्रोता मूलतः यह खण्ड करके उसे दूसरे अर्थ में समझता है और अपनी समझ के अनुसार उत्तर देता है। यही वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार है।

अर्थालङ्कार

अर्थालङ्कारों का विभाजन कुछ विशेष आधारों के ऊपर किया जाता है। इन आधारों को कतिपय वर्ग में हम बाँट सकते हैं – सादृश्यगर्भ, विरोध गर्भ, शृंखलाबन्ध, तर्कन्यायमूल, लोकमान्यमूल, वाक्यन्यायमूल तथा गूढ़ार्थ प्रतीतिमूल। प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत मुख्य-मुख्य अलङ्कारों की विशिष्टता दिखलाने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है।

१. सादृश्यगर्भ अलङ्कार

ये सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित हैं। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अनजान विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलङ्कारों में मुख्य है – उपमा। कविता के उदय के साथ ही उपमा का उदय होता है। हम तो उस काव्ययुग की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें उपमा अपने चमत्कार का प्रदर्शन नहीं करती तथा जिसमें उपमा के द्वारा सौन्दर्य का विकास नहीं होता। भारतीय वाङ्मय में मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता से पाठकों का मन मुग्ध करती है। जितनी सुन्दर उपमाएँ वहाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उतनी अन्यत्र नहीं। उपमा के लक्षण तथा दृष्टान्त निरुक्त में पाये जाते हैं। यास्क ने उपमा का वैज्ञानिक लक्षण ही नहीं दिया है, उसके पाँच प्रकारों कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा तथा अर्थोपमा का स्वरूप भी उदाहरण के द्वारा समझाया है। व्याकरणशास्त्र में उपमा तथा उपमान का तद्धित, समासान्त प्रत्यय, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर विशेष प्रभाव पड़ता है, जिसका उल्लेख सूत्र तथा भाष्य में किया गया है। व्याकरणसम्मत विवेचना का प्रभाव अलङ्कारशास्त्र के ऊपर भी विशेष रूप से पड़ा है।

उपमा का महत्त्व

कविता का तो प्राण ही उपमा है। अप्पय्य दीक्षित ने उपमा की तुलना एक नटी (शैलुषी) से की है। रंग-मंच के ऊपर नटी नाना वेषभूषा में सज्जित होकर नाना रूपों में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अवतीर्ण होती है, तो कभी शैव्या के रूप में। कभी वह आनन्द से उल्लसित रहती है, तो कभी करुण रसात्मक नाटक में शोक में तल्लीन रहती है। उसके बाहरी रूप को देखने पर वह अनेक रूपों की प्रतीति देती है, परन्तु उसके आवरण को हटाकर निरखने पर उसका एक ही रूप सर्वत्र अनुस्यूत दीख पड़ता है। ठीक यही दशा उपमा की भी है। वह काव्य के रंगमंच पर कभी रूपक, कभी दीपक, कभी तुल्ययोगिता, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरंजन करती है, परन्तु रहती है अन्तराल में, केवल एक ही रूप में।

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः[१]।।

सादृश्य की ही कल्पना को तनिक विस्तृत रूप प्रदान करने से नये-नये अलङ्कारों का जन्म होता है। उदाहरणों से इस सिद्धान्त को ध्यान में लाना चाहिए।

१. चन्द्रमा के समान मुख है – उपमा (सादृश्य के कारण)

२. चन्द्रमा के समान मुख और मुख के समान चन्द्रमा – उपमेयोपमा।

३. मुख मुख के समान – अनन्वय।

४. मुख के समान चन्द्रमा (उपमान) – प्रतीप।

५. चन्द्र को देखकर मैं मुख का स्मरण करता हूँ – स्मरण।

६. मुख ही चन्द्रमा है – रूपक (अभेद)

७. मुखचन्द्र से ताप शान्त होता है – परिणाम।

८. क्या यह मुख है अथवा चन्द्रमा है? – सन्देह।

९. यह चन्द्रमा ही है मुख नहीं – अपह्नुति।

---

१. चित्रमीमांसा।

१०. चकोरगण तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझकर उसकी ओर दौड़ते हैं – **भ्रान्तिमान्** (मुख में चन्द्रमा का भ्रम)।

११. तुम्हारे मुख में चकोर चन्द्रमा समझकर और भ्रमर कमल समझकर रमण करते हैं – **उल्लेख** (एक ही स्थल पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा विभिन्न कल्पना)।

१२. मुख निश्चय ही चन्द्रमा है – **उत्प्रेक्षा** (उपमान की सम्भावना)।

१३. यह चन्द्रमा है – **अतिशयोक्ति** (केवल उपमान की स्थिति)।

१४. मुख के द्वारा चन्द्रमा और कमल जीते गये – **तुल्ययोगिता**।

१५. रात में चन्द्रमा और तुम्हारा मुख दोनों प्रसन्न होते हैं – **दीपक**

१६. तुम्हारे मुख ही से मैं प्रसन्न हूँ और चन्द्रमा ही से चकोर प्रसन्न है – **प्रतिवस्तूपमा**।

१७. आकाश में चन्द्रमा और पृथ्वी पर तुम्हारा मुख – **दृष्टान्त**।

१८. मुखचन्द्र लक्ष्मी को धारण करता है – **निदर्शना**।

१९. निष्कलंक मुख चन्द्रमा से बढ़कर है – **व्यतिरेक**।

२०. चन्द्रमा तुम्हारे मुख के समान रात के समय प्रसन्न होता है – **सहोक्ति**।

ये समस्त अलङ्कार औपम्य गर्भ हैं अर्थात् इनके भीतर सादृश्य की ही भावना प्रतिष्ठित है। उपमा से लेकर सहोक्ति तक बीसों अलङ्कारों के भीतर सादृश्य किस-किस प्रकार रहता है, यह उदाहरण मुखेन ऊपर दिखलाया गया है। इसी महत्ता के कारण अप्पय्य दीक्षित उपमा की तुलना ब्रह्म से करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह चित्र-विचित्र संसार ज्ञात हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से समस्त अलङ्कार (चित्र) ज्ञात हो जाते हैं।

उपमा अलङ्कार में उपमान तथा उपमेय के बीच में भेद भी रहता है और कुछ-कुछ अभेद भी। उपमेय उस वस्तु को कहते हैं, जिसकी तुलना अभीष्ट होती है और जिससे वह तुलना की जाती है, वह उपमान कहलाता है। 'मुखं चन्द्रः' में मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान। उपमा के भाव को लेकर नये-नये अलङ्कारों का उदय होता है।

उदय सूर सो भाल, सिन्दुर घसो गनेस को।

हरत विघन को जाल, जो जग व्यापक तिमिर सो।।

यहाँ भाल उपमेय, सूर (सूर्य) उपमान, उदय साधारण धर्म, सो वाचक। अतः यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

२. विरोधगर्भ अलङ्कार

अलङ्कारों के विभाजन का दूसरा आधार विरोध है, जो सादृश्य से ठीक विपरीत तत्त्व है। वास्तव में विरोध तो कहीं भी अभीष्ट नहीं होता। विरोध होने पर अर्थ ही बाधित हो जाता है और काव्य की स्थिति ही नहीं जमती। फलतः यह विरोध आपाततः ही प्रतीयमान होता है। यह कई प्रकार से दृष्टिगोचर होता है –

(क) द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति में परस्पर भेद दिखलाकर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। यहाँ विरोध का आभास ही रहता है, वास्तविक नहीं। इसलिए इस स्थिति में होगा– **विरोधाभास अलङ्कार**। जैसे – 'वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मींठी लगै अँखियान लुनाई'। यहाँ आँखों में लुनाई (नमकीनपना) को मीठा लगने की बात कही गयी है। विरोध स्पष्ट है नमक को मिठाई कहने में, परन्तु यहाँ 'लुनाई' का दूसरा अर्थ है लावण्य सुन्दरता और इस प्रकार इसका परिहार हो जाता है। आँखों में मुख की सुन्दरता मीठी लगती है। सुन्दरता को मीठा लगना उचित ही है। अतः यहाँ विरोध का आभास है।

(ख) कार्य तथा कारण का परस्पर विरोध। यह कई प्रकार से दृष्टिगोचर हो सकता है–

१. कारण कार्य से पहले होता है, परन्तु इस पूर्वापर भाव के विपर्यय करने पर, नियम के उलट जाने पर एक नवीन अलङ्कार होता है – **कारणातिशयोक्ति**। जैसे –

उठ्यौ संग गजकर कमल, चक्र चक्रधर हाथ।

करते चक्र सुनक्र सिर, धरते विलग्यौ साथ।।

यहाँ भगवान् विष्णु के हाथ में चक्र के रखने से पहले ही ग्राह के सिर के

कट जाने का वर्णन है। फलतः कार्य तथा कारण के बीच क्रम का अभाव है।

२. कहीं कारण के अभाव में कार्य होता है – यह है **विभावना** नामक अलङ्कार।

३. कहीं कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य नहीं होता, उसे **विशेषोक्ति** कहते हैं।

४. कहीं कारण तथा कार्य के देश, काल में व्यवधान। नियमानुसार जिस देश में तथा काल में कारण होता है, वहीं और उसी समय कार्य भी होना चाहिए, इस नियम का उल्लंघन होने से **असंगति** अलङ्कार होता है।

५. कहीं कार्य तथा कारण के गुण और क्रिया में अन्तर दृष्टिगोचर होता है, तब होता है **विषमालङ्कार**।

(ग) विरोध भी इस तीसरी स्थिति में आधार तथा आधेय में किसी न किसी प्रकार का विद्यमान रहता है। कहीं तो छोटे आधार में बड़ा आधेय रहता है (अल्प) और कहीं बड़े आधार में रखने से आधेय की विशालता सूचित होती है, और कहीं बड़े आधेय को छोटे आधार में रखते हैं। इन अन्तिम दोनों दशाओं में **अधिक** अलङ्कार होता है। छोटे आधार में बड़े आधेय की स्थिति होने से यह अल्प अलङ्कार है।

३. शृंखलामूलक अलङ्कार

इन अलङ्कारों में एक बात से दूसरी बात (एक कथन से दूसरा कथन) उसी प्रकार जुटती चली जाती हैं, जिस प्रकार किसी जंजीर की कड़ियाँ एक दूसरे से जुटी हुई होती हैं। अब प्रश्न यह है कि एक कड़ी का लगाव दूसरी कड़ी के साथ किस प्रकार का होता है। यह लगाव भिन्न रूप से दिखता है और इसी में चमत्कार उत्पन्न होने से नये-नये अलङ्कार जमते हैं। इस सम्बन्ध की ये भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं –

१. जब क्रम से पूर्व वस्तु के साथ उत्तर वस्तु विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध रखती है, तब एकावली अलङ्कार होता है अर्थात् प्रथम वस्तु विशेष्य होती है और उसके बाद वाली वस्तु उसका विशेषण होती है।

२.क्रम से पूर्व वस्तु के साथ उत्तरोत्तर वस्तु का सम्बन्ध कारण कार्य सा हो, तब **कारणमाला** होता है।

३.जब क्रम से पूर्व वस्तु उपकार्य होती है तथा उत्तर वस्तु उपकारक होती है, तब होता है **मालादीपक**।

४. जब पूर्व वस्तु हीन होती है और उत्तरवस्तु उससे बढ़कर होती है अर्थात् अपकर्ष उत्कर्ष की स्थिति होने पर **सार** अलङ्कार होता है।

४. तर्कन्यायमूलक अलङ्कार

इस श्रेणी के अलङ्कार वे होते हैं, जिसमें नैयायिक अनुमान का सहारा लिया जाता है। कारण दो प्रकार का होता है – एक होता है उत्पादक हेतु, जैसे पिता पुत्र का, दूसरा ज्ञापक हेतु होता है, जैसे दीप के द्वारा घट का, कमरे में पहले से रहने वाला घड़े को दीप वहाँ आकर प्रकट कर देता है। अतः वह ज्ञापक हेतु कहलाता है। जहाँ उत्पादक हेतु तथा उससे उत्पन्न होने वाला कार्य का कथन होता है, वहाँ होता है अनुमान अलङ्कार। ज्ञापक हेतु तथा कार्य के कथन होने पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।

इस प्रकार ज्ञापक हेतु के द्वारा जहाँ अर्थ का समर्थन होता है, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है –

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, वा पाये बौराय।।

कवि कहता है कि धतूरे की अपेक्षा सोने में सौगुनी मादकता होती है। इस कथन के समर्थन में ज्ञापक हेतु है कि धतूरा खाने से मनुष्य बौराता है, परन्तु सोना पाने से ही वह बौरा जाता है। यहाँ बौरा जाना मादकता का हेतु है। अर्थात् दोहे के पूर्वार्द्ध के लिए उत्तरार्द्ध हेतु का काम करता है। इसलिए यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

अर्थान्तरन्यास काव्यलिङ्ग से भिन्न तथा स्वतंत्र अलङ्कार है। यहाँ भी एक अर्थ का दूसरे अर्थ से समर्थन होता है, परन्तु समर्थनीय और समर्थन वाक्यों में परस्पर सामान्य विशेष सम्बन्ध बना रहता है। समर्थनीय वाक्य कभी सामान्य होता है, तब उसका समर्थन विशेष वाक्य के द्वारा किया जाता है। कभी इससे

विपरीत स्थिति होती है, अर्थात् समर्थनीय वाक्य विशेष होता है और समर्थक वाक्य ही सामान्य होता है। काव्यलिङ्ग में भी समर्थन होता है अवश्य, परन्तु दोनों वाक्यों में सामान्य-विशेष से भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता है। यही दोनों में अन्तर है। सामान्य का समर्थन से विशेष का उदाहरण देखें –

जो छोड़त कुल आपनो ते पावत बहु खेद।
लखहुँ वंस तजि वांसुरी लहै लोह को छेद।।

यहाँ पूर्वार्द्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन है कि जो व्यक्ति अपने कुल को छोड़ता है, वह बहुत ही दुःख उठाता है। इसके समर्थन में बाँसुरी की दशा का वर्णन है कि वह अपने कुल अर्थात् बाँस को छोड़ देने पर लोहे के द्वारा छाती में छेदों को पाती है अर्थात् उसकी छाती में छेद किये जाते हैं। बाँसुरी एक विशिष्ट वस्तु ठहरी और इसलिए समर्थक वाक्य विशेष है।

५. वाक्यन्यायमूलक अलङ्कार

इस श्रेणी के अलङ्कारों में वाक्यों के संघटन और विधि विधान के विचार से वस्तुओं के क्रम तथा परिवर्तन का वर्णन किया जाता है।

१. कहीं पर क्रमपूर्वक कथित पदार्थों का अन्वय उसी क्रम से कथित वस्तुओं के साथ किया जाता है, वहाँ यथासंख्य अलङ्कार होता है। जैसे –

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।।

नायिका के नेत्रों में तीन रंग हैं, सफेद, काला तथा लाल, जो क्रम से अमृत, विष तथा मद जैसे प्रतीत होते हैं। जिसके ऊपर वह सुन्दरी ऐसे नेत्र से देखती है, वह उसी क्रम से जीता है, मरता है तथा गिरता-पड़ता है। क्रमिक शब्द के कारण ही इनका चमत्कार है। आँख का सफेद रंग अमृत होने से जिलाता है। विषरूपी काला रंग मार डालता है तथा लाल रंग शराब होने के कारण मतवाला बना देता है, जिससे वह व्यक्ति ऊँघता फिरता है।

२. कहीं पर एक वस्तु को लेकर दूसरी वस्तु दी जाती है, वहाँ अदला-बदली होने के कारण परिवृत्ति अलङ्कार होता है।

३. कहीं पर किसी वस्तु, धर्म, गुण अथवा जाति को अन्य सब उपयुक्त

स्थानों से हटकर किसी एक विशेष स्थान पर ठहराते हैं, तब परिसंख्या अलङ्कार होता है।

६. लोकन्यायमूलक अलङ्कार

जहाँ पदार्थों में अन्य पदार्थों से सम्पर्क होने से रूप आदि का परिवर्तन हो जाता है या उसके एकदम लीन होने का वर्णन होता है, वहाँ इस श्रेणी के अलङ्कार होते हैं।

१. जहाँ अधिक रंगवाली वस्तु के साथ आने से कोई वस्तु अपने रंग को छोड़कर दूसरे का रंग ले लेती है, तब तद्गुण अलङ्कार और २. जब नहीं लेती, तब अतद्गुण अलङ्कार होता है।

३. कहीं दो चीजें एक ही रंग में ऐसी मिल जाती हैं कि उन दोनों में कोई भेद ही नहीं दीख पड़ता, उसे मीलित कहते हैं।

लोक न्यायमूलक अलङ्कार के अन्तर्गत ही प्रत्यनीक, सामान्य, उत्तर अलङ्कारों का भी समावेश किया जाता है।

७. गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलङ्कार

अलङ्कारों के वर्गीकरण का अन्तिम आधार है – गूढ़ार्थ प्रतीति अर्थात् किसी छिपे हुए अर्थ को प्रकट या संकेत करना। यह नाना प्रकार से दिखाई पड़ती है, जिसके अनेक अलङ्कारों का समावेश यहाँ होता है।

१. कहीं दूसरे का किया हुआ कोई सूक्ष्म कृत्य, संकेत, या चेष्टा देखकर कोई व्यक्ति इशारे से ही उसका उत्तर देता है या समाधान करता है, वहाँ सूक्ष्म अलङ्कार होता है।

२. कहीं एक के आकार से उसका छिपा हुआ वृत्तान्त समझ लेना और ऐसी क्रिया करना जिसमें छिपे वृत्तान्त के जानने का संकेत हो जाय, वहाँ पिहित अलङ्कार होता है।

३. कहीं दूसरे के प्रति उद्देश्य कर कोई वचन कहना जिससे वह सुन ले और समझ ले, वहाँ गूढ़ोक्ति अलङ्कार होता है।

इसी वर्ग के अन्तर्गत स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त तथा सूक्ष्म आदि अलङ्कारों का समावेश माना जाता है। अन्य अलङ्कारों का भी समावेश इन्हीं वर्गों के भीतर कहीं न कहीं किया जा सकता है। विस्तारभय से उन सबकी चर्चा नहीं की जा रही है। भिन्न-भिन्न अलङ्कारों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पूर्वोक्त वर्गीकरण रुय्यक ने अपने अलङ्कारसर्वस्व में किया है। यह वर्गीकरण विशेष व्यापक तथा हृदयावर्जक है और इसीलिए यह प्रायः सर्वत्र स्वीकृत तथा आदृत किया गया है।

काव्य में रीति

पदों की विशिष्ट रचना या संघटना का नाम रीति है। रीति की उपमा मानव शरीर में अंगों के संगठन के साथ दी जाती है। मनुष्य के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन है अर्थात् सब अंग अपने-अपने स्थानों पर रहने से ही शरीर को एक बनाये रहते हैं। यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायँ, तो यह शरीर नितान्त कुरूप मालूम पड़ेगा। आँखें मुखमण्डल में ही रहकर शोभा पाती हैं। अगर उन्हें वहाँ से हटाकर कहीं अन्यत्र रखा जायेगा, तो शरीर को बहुत ही बेढंगा बना देंगी। पदों के संघटन की भी यही दशा है। पदों को अपने-अपने स्थानों पर रखने से ही कविता या निबन्ध में चमत्कार आता है तथा एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। एक विशेष बात इस लक्षण में ध्यान देने की है। रीति पदों की विशिष्ट रचना होती है, केवल रचना नहीं। वह पदों की संघटना होती है, केवल घटना नहीं। विचारणीय विषय है कि यह विशिष्टता क्या है? इस संघटना का सम्यक् रूप क्या है? जिसके उपस्थित होने से रीति का उदय होता है। विशिष्टता से तात्पर्य है, गुणों की सत्ता अर्थात् पदों की रचना में गुणों का निवास। इस प्रकार रीति का लक्षण है – पदों की वह रचना, जिसमें काव्य-गुणों की स्थिति अवश्यमेव विद्यमान हो।

मार्ग या रीति का लक्षण न तो भामह ने ही दिया है और न दण्डी ने। वामन इसके प्रथम लक्षण निर्माता हैं। उनके अनुसार रीति का लक्षण है – **विशिष्टपदरचना रीतिः**[१]। रीति पदों की रचना का नाम है, जो विशिष्टता से युक्त होती है। वामन कहते हैं – **विशेषो गुणात्मा**। अर्थात् ओज प्रसाद आदि

१. काव्य० १.२.७।

गुण जिसका स्वभाव है, वही विशेष होता है। इस प्रकार वामन का परिनिष्ठित लक्षण यह हुआ – पदों की वह रचना जिसमें ओज, प्रसाद आदि गुण विशिष्टता उत्पन्न करता है अर्थात् गुणों से मण्डित पद रचना। आनन्दवर्धन इसे संघटना की संज्ञा से सूचित करते हैं। संघटना है सम्यक् घटना। पदों की सम्यक् या शोभन घटना अर्थात् रचना। घटना का सम्यक्त्व गुणों के कारण ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार आनन्दवर्धन का 'संघटना' शब्द नितान्त सारगर्भित है और यह वामन के '**विशिष्टा पदरचना**' का ही पिण्डीकृत रूप है। विश्वनाथ कविराज ने आनन्दवर्धन की रीतिविषयक कल्पना को ही मान्य मानकर इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है –

पदसंङ्घटना रीतिः अङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् ....[१]।।

जिस प्रकार कामिनी के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन होता है – सब अंग एक नियत प्रकार से निबद्ध किये जाने पर ही शोभाधायक होते हैं, ठीक उसी प्रकार पदों की संघटना रीति कही जाती है और वह रस आदि काव्य सौन्दर्य के उन्मीलन के लिए उपकार करने वाली होती है। रीति का सम्बन्ध रस से घनिष्ठ है।

रीति का प्रतिपादन करने वाले (वामन) को यह ध्वनितत्त्व अस्फुटरूप से भासित हुआ था– ऐसा आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है – अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्। अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। ध्व. ३।४६ रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेन अन्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्।।"

रीति सम्प्रदाय के बहिर्भूत होने पर भी आनन्दवर्धन का रीति निरूपण नितान्त तलस्पर्शी तथा उपादेय है। रीति के विषय में वे कहते हैं –

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् - - - - - [२]।।

अर्थात् संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर खड़ी रहती है तथा रसों की अभिव्यक्ति करती है। संघटना तथा गुणों के परस्पर सम्बन्ध का भी

---

१. सा०द० ९.१।

२. ध्वन्या० ३.६।

विशिष्ट विवेचन आनन्दवर्द्धन ने प्रस्तुत किया है। इस विषय में तीन पक्ष हो सकते हैं – १. संघटना और गुण की एकता २. संघटना पर आश्रित गुण, ३. गुणों पर आश्रित संघटना। प्रथम दोनों पक्षों के मानने पर संघटना के समान ही गुणों का भी विषय अनियत होने लगेगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। गुणों का विषय सर्वदा निश्चित रहता है।

रीति के नियामक तत्त्व

रीति का चुनाव एक विशिष्ट व्यापार है, जिसके लिए रचनागत अनेक काव्यसाधनों का परीक्षण अनिवार्य होता है। इन साधनों को हम रीति नियामक तत्त्व कह सकते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन के विश्लेषण के अनुसार १. वक्तृ–औचित्त्य, २. वाच्य औचित्त्य, ३. विषयौचित्त्य और ४. रसौचित्त्य – नियामक काव्य संसार में महत्त्व का स्थान रखते हैं।

१. वक्तृ औचित्य – रीति का निर्धारण वक्ता के अनुसार किया जाता है। वक्ता या लेखक जो कुछ बोलता है या लिखता है, उसे वह तन्मय होकर करता है। बाह्य जगत् या अन्तर्जगत् के समग्र अनुभवों को आत्मसात् करके ही वह उनका वर्णन दूसरों की प्रतीति के लिए करता है। कवि का स्वभाव उसकी काव्यरीति में सदा ही झलकता रहता है। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि तथा उसकी रचना में तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। इसीलिए रीति कविस्वभाव की प्रतीति होती है। विकटबन्ध में निबद्ध उत्तेजोमयी वाणी शाक्त कवि की उग्रता का परिचय स्वयं देती है तथा सुकुमार बन्ध में रचित माधुर्यमयी पदावली वैष्णव कवि की सरलता को स्वतः अभिव्यक्त करती है।

२. वाच्यौचित्य – वाच्य का औचित्य भी रीति का द्वितीय नियामक माना जाता है। वाच्य का अर्थ है कथनीय वस्तु, अर्थ। वाच्य अनेक प्रकार के होते हैं – कोई ध्वनिभूत रस का अंग होता है और कोई रसाभास का अंग होता है। कोई वाच्य अभिनय के योग्य होता है और कोई अभिनय के उपयुक्त नहीं होता। कोई वाच्य उत्तम प्रकृति के आश्रय पर अधिष्ठित रहता है, तो कोई अधम प्रकृति के ऊपर। इस प्रकार वाच्य नाना प्रकार के होते हैं और संघटना के विन्यास में वाच्य के स्वरूप का निरीक्षण भलीभाँति करना चाहिए।

३. विषयौचित्य – विषय से तात्पर्य है प्रबन्ध अथवा काव्य के विशिष्ट प्रकार से, जिसमें किसी संघटना का विधान प्रयुक्त होता है। गद्य,

पद्य, श्रव्य, दृश्य आदि भेदों के अतिरिक्त काव्य के नाना प्रकार होते हैं – पर्यायबंन्ध, खण्डकथा, परिकथा, सकल कथा, सर्गबन्ध, आख्यायिका, कथा, रूपक आदि। रीति का विधान काव्य के विशिष्ट स्वरूप की भी अपेक्षा रखता है। आख्यायिका में शृङ्गार रस की प्रधानता होने तथा सुकुमार वक्ता की सत्ता होने पर भी मसृण वर्णों का प्रयोग कथमपि न्याय नहीं होता, क्योंकि गद्य में निबद्ध होने से उसमें गाढ़बन्ध होना ही उपयुक्त होता है। कथा मृदुवर्णों के विन्यास से सज्जित रहती है। अतः रौद्ररस होने पर भी कथा में अत्यन्त उद्धत रचना का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए। रूपक की दशा इससे विलक्षण है। रूपक प्रधानतया रसात्मक होता है और अभिनय के द्वारा उसे दर्शकों के हृदय तक पहुँचना होता है। अतः उसमें ऐसी रचना का प्रयोग होना चाहिए, जो बिना परिश्रम के बोधगम्य हो जाय और इसी अभिप्राय से ध्वनि के आचार्य रूपक में रौद्र रस होने पर भी दीर्घ समासों से युक्त रचना का व्यवहार नहीं करते।

४. रसौचित्य – रीति का विन्यास रस के औचित्य पर भी निर्भर रहता है। जिस रस का उन्मीलन कवि को अभीष्ट होता है, उसकी रीति भी उसके नितान्त अनुरूप होनी चाहिए। आनन्दवर्धन असमस्त रीति को करुणरस तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के नितान्त उपयुक्त स्वीकार करते हैं। दीर्घ समास रीति को वीर, रौद्र आदि रसों के अनुकूल। रस की ही काव्य में प्रधानता होती है। अतः ध्वनिकार ने काव्य के समग्र तत्त्वों को रसौचित्य पर आश्रित मानकर साहित्य के नितान्त मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना की है।

रीति के भेद

रीतियाँ मुख्यतया तीन प्रकार की होती हैं – १. वैदर्भी, २. गौडी, ३. पाञ्चाली। गुणों के वर्णन प्रसंग में बतलाया गया है कि चित्त की मुख्यतया तीन दशाएँ होती हैं। पहली दशा का निदर्शन वह चित्त है, जो किसी कोमल या करुणापूर्ण वाक्य को सुनकर एकदम पिघल उठता है। वह पहिले कितना भी कठोर क्यों न हो, करुण वाक्य सुनते ही वह नितान्त कोमल हो जाता है, ठीक मोम के समान। ऐसी दशा में माधुर्य गुण का उदय होता है और इसके ऊपर आश्रित होने वाली रीति वैदर्भी कहलाती है। इसका लक्षण बतलाते हुए कविराज

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है –

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते[१]।।

चित्त की एक दूसरी दशा का नाम है दीप्ति – जिसमें चित्त संकोच भाव को छोड़कर एकदम विस्तृत हो जाता है। अर्थात् फैल जाता है ठीक फूल की पंखुड़ियों के समान। ऐसी दशा में ओज गुण का प्रादुर्भाव होता है और इस गुण पर आश्रित होने वाली रीति गौड़ी के नाम से विख्यात होती है। इसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है –

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैबन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी ..... [२]।।

चित्त की एक तीसरी दशा भी होती है, जिसे हम 'प्रसाद' या प्रसन्नता के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इस अवस्था में चित्त पूर्वोल्लिखित दोनों अवस्थाओं के बीच में विद्यमान रहता है। न तो वह पिघलकर गलितप्राय हो जाता है और न वह दीप्त बनकर एकदम विस्तृत बन जाता है। वह नितान्त सरल तथा प्रसन्न रहता है; क्योंकि उसमें किसी प्रकार का कालुष्य या मल नहीं रहता, ठीक निर्मल जल के समान। इसी दशा में प्रसाद गुण का उदय होता है, जो आधारभूत से ऊपर की दोनों अवस्थाओं में भी विद्यमान रहता है। पाञ्चाली रीति वैदर्भी तथा गौड़ी की मध्यवर्तिनी शैली है, जिसमें सुकुमार वर्णों का प्राचुर्य रहता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के शब्दों में पाञ्चाली रीति का लक्षण अवलोकन करें –

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्त पञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता[३]।।

संस्कृत के कवियों में महाकवि कालिदास तथा श्रीहर्ष वैदर्भी रीति के मान्य कवि हैं तथा भवभूति और वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण गौड़ी रीति

---

१. सा०द० ९.२-३।

२. सा०द० ९.३-४।

३. सा०द० ९.४।

के लोकप्रिय कवि हैं। हिन्दी में बिहारी तथा मतिराम वैदर्भी रीति के और भूषण तथा चन्द्रबरदाई गौड़ी रीति के प्रख्यात कवि हैं। रीतियों के एक दो दृष्टान्त इनके स्वरूप को जानने के लिए पर्याप्त होंगे। बिहारी का यह दोहा वैदर्भी रीति का उदाहरण माना जा सकता है –

रुनित भृङ्ग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुञ्ज समीर।।

इस दोहे में माधुर्य गुण का प्रयोग बड़ी रुचिरता के साथ किया गया है। फलतः यह वैदर्भी का सुन्दर उदाहरण है।

गौड़ी रीति के दृष्टान्त के लिए महाकवि भूषण का यह कवित्त परिचय दे सकता है –

बद्दल न होहिं दल दच्छिन घमंड माँहि,
घटा हू न होहिं दल शिवाजी हँकारो है।
दामिनी दमंक नाहि खुले खग्ग बीरन के
बोर सिर छाप तखु तीजा असवारी के।
देखि देखि मुगलों की हरमैं भवन त्यागैं,
उझकि उझकि उठे बहत वयारी के।
दिल्ली मति भूली कहैं बात घनघोर घोर
बाजत नगारै ये सितारे गढ़धारी के।।

महाकवि मतिराम का यह दोहा प्रसाद गुण का सुचारु परिचायक है। इसके सुनते ही दोहे का अर्थ स्पष्ट ही समझ में आ जाता है। इसलिए यहाँ रीति पाञ्चाली है –

करौ कोटि अपराध तुम वाके हिये न रोष।
नहि सनेह समुद्र में बूड़ि जात सब दोष।।

आचार्य विश्वनाथ एक चौथी रीति लाटी भी स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि वैदर्भी और पाञ्चाली इन दोनों के मध्य की अर्थात् दोनों के लक्षणों से कुछ-कुछ युक्त रीति को लाटी कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में लाटी का लक्षण देखें –

लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता[1]।

उसका उदाहरण वे प्रस्तुत करते हैं –

अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनाली बालमन्दारपुष्पम्।
विधरविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि।।

इस पद्य के पहले चरण की कोमल पद रचना तथा 'ञ्ज, न्द्व, न्द' आदि माधुर्यव्यञ्जक वर्ण वैदर्भी रीति के पोषक हैं और द्वितीयादि चरण के समास तथा 'द्र, क्र म्र ह भ' आदि वर्ण ओज के व्यञ्जक तथा पाञ्चाली रीति के पोषक हैं। दोनों के लक्षण मिलने से यह लाटी रीति का उदाहरण है।

इस प्रकार कविराज विश्वनाथ के मत में वह रीति चार प्रकार की होती है – वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली, और लाटी। जैसा कि उन्होंने कहा है –

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा[2]।।

वृत्तिविचार

रीति के अनन्तर वृत्ति का विचार करना आवश्यक है। वृत्ति से हमारा तात्पर्य अभिधा आदि शब्दव्यापारों से नहीं है, प्रत्युत सात्त्वती, आदि नाटक में दृश्यमान वृत्तियों से है। नाटक में वृत्ति का बहुत ही बड़ा महत्त्व होता है और इसीलिए वृत्तियाँ नाटक की मातायें कही जाती हैं – **वृत्तयो नाट्यमातरः।**

वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति वृत् धातु से ति (क्तिन्) प्रत्यय के योग से होती है। वर्तन का अर्थ होता है जीवन और वृत्ति उस जीवन को सहायता पहुँचानेवाली जीविका है। इसलिए वृत्ति का अर्थ हुआ पुरुषार्थ का साधक व्यापार, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देने वाला व्यापार। वृत्ति का क्षेत्र तो नितान्त विस्तृत है और समस्त जगत् को व्याप्त करता है। काव्य तथा नाटक भी वृत्ति के क्षेत्र के भीतर हैं, यह कथन पुनरुक्तिमात्र

---

१. सा०द० ९.५।

२. सा०द० ९.२।

है। आचार्य अभिनवगुप्त ने एक छोटे वाक्य में वृत्ति के स्वरूप का विशद परिचय दिया है–

काय-वाङ्-मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः।

इसका अभिप्राय है कि नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायक के शरीर, वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टायें ही वृत्तियाँ कहलाती हैं। भोजराज के अनुसार चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की दशा में पात्रों के जो व्यवहार, व्यापार या वर्तन हुआ करते हैं, उन्हीं का एक सामान्य नाम है – वृत्ति। अवस्थाओं का प्रभाव शरीर तथा मन दोनों पर पड़ता है। सूक्ष्म होने से मन पर प्रभाव पहले पड़ता है और उसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर शरीर के ऊपर भी होती है। यदि कोई हट्टा–कट्टा आदमी एक गरीब दुर्बल व्यक्ति के ऊपर अनायास लाठी का प्रहार करता है, तो दर्शक के हृदय में क्रोध का उदय होना स्वाभाविक है। चित्र के क्रोधावेश में आते ही शरीर की विचित्र दशा होती है – भौंहे तन जाती हैं, मुखमण्डल तमतमा उठता है, अधरपुट फड़कने लगते हैं और आँखों में लहू दौड़ जाता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में ऐसा दर्शक जो कुछ व्यापार करता है, जिसमें उसके मन तथा शरीर की अवस्थाओं का पूरा प्रभाव पड़ता है, वृत्ति कहलायेगा। वृत्तियाँ मुख्यतया चार प्रकार की होती हैं – १. भारती; २. सात्त्वती ३. कैशिकी तथा ४. आरभटी। इनमें से भारती शब्द प्रधान होने से शब्दवृत्ति तथा इतर तीन अर्थ प्रधान होने से अर्थवृत्ति के नाम से प्रख्यात हैं।

भरत मुनि ने वृत्तियों का सम्बन्ध विभिन्न रसों के साथ स्थापित किया है। कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृङ्गार तथा हास्य रस के प्रसङ्ग में किया जाता है। सात्त्वती का वीर, रौद्र तथा अद्भुत रसों में; आरभटी का भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसों में तथा भारती का करुण तथा अद्भुत रसों में प्रयोग किया जाता है। पिछले नाट्यकारों ने भी वृत्ति और रसों के इस सामञ्जस्य को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है –

शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया वीररौद्राद्भुताश्रया।।

भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया[1]।।

१. भारती वृत्ति

यह संस्कृतमयी तथा वाक्प्रधाना है। भरतमुनि के अनुसार जिस वृत्ति में संस्कृतवाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों के द्वारा प्रयोग में लायी गयी हो, जो स्त्रियों में सर्वथा वर्जित हो, उसे भरतों (नटों) के द्वारा सदा प्रयोज्य होने से भारती वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति के चार भेद होते हैं – १. प्ररोचना, २. आमुख, ३. वीथी, ४. प्रहसन।

२. सात्त्वती वृत्ति

इस वृत्ति का नामकरण सत्त्व-शब्द के योग से हुआ है। सत्त्वशाली पुरुषों के द्वारा प्रयोज्य होने के कारण यह वृत्ति 'सात्त्वती' नाम से अभिहित की जाती है। भरत मुनि के अनुसार इस वृत्ति में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। न्यायसम्पन्न वृत्त का विधान रहता है, हर्ष से यह उद्भट रहती है तथा इसमें शोक का सर्वथा अभाव रहता है। तात्पर्य यह है कि सच्चे बलशाली पुरुष की जो वीरभावात्मिका चेष्टायें होती हैं, उन्हीं का अवलम्बन कर इस सात्त्वती वृत्ति की स्थिति रहती है।

३. कैशिकी वृत्ति

कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति 'केश' शब्द से स्पष्ट ही जान पड़ती है। इसीलिए भरतमुनि ने इस वृत्ति का सम्बन्ध भगवान् विष्णु के द्वारा केशपाश बाँधने से दिखलाया है। मधु-कैटभ युद्ध में भगवान् विष्णु ने इन दोनों असुरों से युद्ध करने के लिए अपना केशपाश बाँधा, उसी से कैशिकी वृत्ति आविर्भूत हुई। भरत ने इसका लक्षण दिखलाते हुए बतलाया है कि जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य के विधान से चित्रित हो, सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित हो, स्त्रियों से युक्त हो, जिसमें नाचने और गाने की बहुलता हो, उसे काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से सम्पन्न होने से ही 'कैशिकी' नाम से पुकारा जाता है। इसके चार भेद हैं – नर्म, नर्मस्फुर्ज, नर्मस्फोट, तथा नर्मगर्भ।

---

१. नाट्यशास्त्र, २२.६५-६६।

४. आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति 'आरभट' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है साहसी तथा उद्धत पुरुष। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का निर्देश भली-भाँति हो जाता है। इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में लिखा है कि जिस वृत्ति में मायाजनित इन्द्रजाल का वर्णन हो, गिरने, कूदने, उछलने तथा लाँघने आदि की विचित्र योजना हो, उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं – संक्षिप्तक, अवघातक, वस्तुस्थापन तथा संफेट।

काव्य में सम्भावित दोष

दोष की कालिमा में मनुष्य की बड़ी ही अप्रतिष्ठा होती है। दोष दोष ही होता है चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, एक हो या अनेक हो, गुप्त हो या प्रकट हो। कामिनी का शरीर है बड़ा ही सुन्दर, अंगों की चारुता तथा सुन्दर बनावट रसिकों का चित्र बरबस आकृष्ट कर रही है, परन्तु उसके भाल के ऊपर दीख पड़ता है एक छोटा सा सफेद दाग। इस छोटे से दाग ने उस सुन्दर अप्सरातुल्य मनोरम रूप को सदा के लिए खराब कर डाला। सौन्दर्य की दृष्टि से उस रमणीरत्न का मूल्य कोयले से भी कम हो जाता है। कविता-कामिनी के शरीर में भी दोष का यही प्रभाव होता है। कितना भी सुन्दर सरस तथा सरल काव्य क्यों न हो, यदि उसमें एक छोटी सी भी व्याकरणसम्बन्धी त्रुटि कहीं झाँकती हुई दीख पड़ती हो, तो सारा गुड़ गोबर हो जाता है। समग्र सरसता उस एक त्रुटि के कारण नीरसता के रूप में बदल जाती है। एक भी कर्णकटु शब्द कानों में मानों सुई चुभाने लगता है। चित्र में विरसता उत्पन्न कर देता है। 'कार्तार्थ्य की प्राप्ति ही है जीवन का शुभ लक्ष्य' वाक्य में प्रथम पद के उच्चारणों में जीभ जितना आयास और व्यायाम करती है, उससे अधिक कान में सुई चुभती हुई जान पड़ती है। रेफ, थकार तथा यकार का एकत्र संयोग जो श्रवण कटु ठहरा, तो फल उसका विपरीत क्यों न हो? कहने का अभिप्राय यह है कि दोषों से बचना कवि तथा लेखक का परम धर्म है। गुण तथा रस की सम्पत्ति से काव्य को सम्पन्न बनाने से पहले उसे दोषों से बचाना नितान्त आवश्यक है।

दोष का लक्षण

काव्य–दोष का लक्षण है रस का अपकर्ष होना – **रसापकर्षका: दोषा:।** जिन साधनों से कविता में रस की न्यूनता या कमी होती है, उन्हें दोष के नाम से पुकारते हैं। काव्य में रस ही मुख्य होता है। उसी की सत्ता के कारण काव्य में काव्यत्व का जन्म होता है और इसीलिए रस को अक्षुण्ण, अन्यून, पूर्ण तथा समग्र बनाये रखने की बड़ी आवश्यकता होती है। इस रस के ऊपर यदि किसी प्रकार आघात पहुँचा या कहीं से कमी आयी, या थोड़ा भी ह्रास हुआ, तो समझ लीजिए कि वह काव्य आलोचकों की दृष्टि में गिर गया, सम्मान पाने की योग्यता से वह हीन हो गया।

दोषभेद

काव्य में रस की मुख्यता होने के कारण ही रस दोष मुख्य दोष माना जाता है। रस की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है और अर्थ का ज्ञान शब्द के अधीन रहता है। फलतः शब्द तथा अर्थ के दोषों का दरजा रस दोष से घटकर है। शब्द भी पद तथा वाक्य के रूप में काव्य में उपस्थित होता है और अर्थ के लिए उपयोगी होता है। इसलिए पद तथा वाक्य में होने वाले दोष भी परम्परया रस का अपकर्ष करने में कारणभूत माने जा सकते हैं। पद के किसी अंश में भी दोष पाया जा सकता है। इसे पदांश दोष कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत के आलोचक आचार्यों ने दोषों का वर्णन बड़े ही विस्तार तथा सूक्ष्मता के साथ किया है, जो उनकी सूक्ष्म विवेचना तथा आलोचनापद्धति को सूचित करता है। दोष पाँच प्रकार का होता है – १. पददोष, २. पदांशदोष, ३. वाक्यदोष, ४. अर्थदोष, ५. रसदोष। इन प्रत्येक प्रकार के नाना भेद–प्रभेदों के कारण दोष का प्रसंग काव्यजगत् में एक सुदीर्घ व्यापार माना जाता है। इन समग्र दोषों के दिखलाने का तथा उदाहरण द्वारा मीमांसा करने का यहाँ न अवसर है और न स्थान। इसलिए यहाँ चुने हुए ही दोष दिखलाये जा रहे हैं।

पददोष

कविता में ऐसे ही पदों का प्रयोग करना चाहिए, जो कानों को मधुर मालूम पड़ें। परन्तु यदि शब्दों की बनावट टेढ़ी–मेढ़ी जैसी हो जाती है, तो

वे कानों को खटकने लगते हैं। इसका नाम है १. श्रुतिकटु। इस पद्य पर दृष्टिपात करें –

पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।

यहाँ विषयोत्कृष्टता तथा विचारोत्कृष्टता शब्दों में अक्षरों का योग इतना बेढंगा है कि वे कानों को बेहतर तीखे लगते हैं।

२. च्युतसंस्कृति – व्याकरण–विरुद्ध पदों में च्युतसंस्कृति या संस्कारहीनता नामक दोष होता है। कोई भी लेखक वाक्यों के विन्यास में व्याकरण की अवहेलना नहीं कर सकता। व्याकरण ही भाषा का प्राण ठहरा। उसकी उपेक्षा पदों को अशुद्ध बना डालती है।

३. अप्रयुक्त – कोषों में उल्लिखित होने पर भी यदि कवियों के द्वारा प्रयोग नहीं होता, तो वह पद अप्रयुक्त कहलाता है। संस्कृत में दैवत शब्द कोष की दृष्टि से पुल्लिंग तथा नपुंसक लिंग दोनों है – दैवतः तथा दैवतम्। परन्तु लेखकों द्वारा इसका प्रयोग पुल्लिंग में नहीं होता। अतः 'दैवतः' का प्रयोग 'अप्रयुक्त' दोष माना जायेगा।

४. निहतार्थ – दो अर्थ वाले शब्द को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ कहलाता है। जैसे –

रे रे शठ नीरद भयो, चपला विधु चित लाइ।
भव मकरध्वज तरन को नाँहि न और उपाइ।।

हे शठ, तुम अब नीरद (दाँत रहित–बुड्ढे) हो गये हो। लक्ष्मी (चपला) तथा विष्णु (विधु) में चित्त को लगाओ। संसाररूपी समुद्र को तैरने के लिए और कोई भी उपाय नहीं है। यहाँ नीरद का प्रसिद्ध अर्थ है, बादल पर यहाँ प्रयुक्त है 'दाँत रहित' अर्थ में; चपला का बिजली, विधु का चन्द्रमा, मकरध्वज का कामदेव ही प्रसिद्ध अर्थ है, परन्तु इस दोहे में इनका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसलिए निहतार्थ दोष हुआ।

अनुचित अर्थ वाले, निरर्थक तथा अवाचक पदों का प्रयोग उचित नहीं होता, ऐसा करने पर **५. अनुचितार्थ**, **६. निरर्थक** तथा **७. अवाचक** पददोषों का उदय होता है। अनुचितार्थ का एक उदाहरण देखें –

है के पशु रणयज्ञ में अमर होंहि जग शूर।

जगत् में शूर लोग रणरूपी यज्ञ में पशु बनकर अर्थात् मारे जाने पर अमर हो जाते हैं। यहाँ योद्धाओं को पशु बनने की बात कहना कायरता सूचित कर रहा है। पशु परतन्त्र होकर मारा जाता है, परन्तु योद्धा तो स्वतन्त्र होता है। अतः पशु की उपमा अनुचितार्थ सूचित करती है।

काव्य में शोभन तथा शिष्ट शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। ऐसे प्रयोग न करने से ८. **अश्लील** तथा ९. **ग्राम्य** दोष उत्पन्न होते हैं। किसी पद में या वाक्य में कभी अर्थ समझने में सन्देह नहीं होना चाहिए। ऐसा प्रयोग ही न करें कि कहीं सन्देह के लिए गुंजाइश हो। यदि ऐसा होगा, तो वक्ता या लेखक का अभीष्ट अर्थ कभी समझ में नहीं आ सकता। ऐसा दोष १०. **सन्दिग्ध** कहलाता है, जो पद में, वाक्य में तथा अर्थ में भी हो सकता है। सन्दिग्धार्थ का उदाहरण पर दृष्टि निक्षेप करें –

वन्द्या तेरी लक्ष्मी, करौ वन्दना तासु।

तेरी लक्ष्मी वन्द्या है। उसकी वन्दना करो। वन्द्या के दो अर्थ होते हैं – वन्दनीया तथा वन्दी बनायी गयी (कैद की गयी) कवि को कौन अर्थ अभीष्ट है। इसका पता नहीं चलता। इस लिए यह सन्देह जनक होने से सन्दिग्धार्थक प्रयोग है।

वाक्य में विधेय अंश का विमर्शन प्रधान रूप से होना उचित होता है। जिसका विधान करना होता है, उसका निर्देश मुख्य रूप से अलग करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि विधेय अंश का प्रतिपादन मुख्यतया नहीं किया जाता और तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसका अन्वर्थ नाम है – **अविमृष्टविधेयांश**। यत् तथा तद् पदों का, जो और वह पदों का, नित्य सम्बन्ध रहता है। किसी वाक्य में यदि यत् (जो) शब्द का प्रयोग किया गया है, तो उसके अन्तर वाले वाक्य में तत् (वह) शब्द का प्रयोग नितान्त उचित ही होता है। ऐसा न करना एक महनीय दोष होता है। 'जिसे हमने कल बुलाया था, वही राम आज आया है' इस वाक्य में जिसे तथा वही का प्रयोग बहुत ही ठीक है। यदि वही शब्द जिसके पास ही कहीं रखा जाय, तो वह विधेय अर्थ की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं कर सकता। इस स्थान पर समास का भी मूल्य

भली–भाँति आँका जा सकता है। समास के भीतर प्रवेश कर जाने पर किसी पद का प्राधान्य लुप्त हो जाता है और वह गौण कोटि में चला आता है। ऐसी स्थिति में विधेय अंश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित व्यापार होता है। भगवान् शिव का वर्णन करते समय कालिदास का कथन है – **वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता।** अर्थात् शिव का शरीर विरूप आँख वाला है, तथा अदृष्ट जन्म होने का भाव वर्तमान है। कहना यह है कि शिव का जन्म अलक्षित है, परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया और प्राधान्य नष्ट हो गया। यह सर्वथा अनुचित है। यह अविमृष्टविधेयांश दोष का उदाहरण है।

वाक्यदोष

ऊपर प्रधान पददोषों का ही उल्लेख किया गया है। इनमें कतिपय दोष पद के अंश में भी विद्यमान रहते हैं तथा प्रायः समस्त पददोष वाक्यों में भी विद्यमान रहते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वाक्यदोष भी होते हैं, जिनकी स्थिति केवल वाक्य में ही होती है। इनमें से कतिपय महत्त्वशाली दोषों का यहाँ विवेचन किया जा रहा है –

१. प्रतिकूलवर्णता – मुख्य रस के अनुकूल ही वर्णों का विन्यास काव्य में किया जाता है। शृङ्गाररस के पोषक वर्णों को मधुर तथा सुकुमार होना नितान्त आवश्यक होता है। यदि इस सर्वमान्य नियम का उल्लंघन किया जाता है, तो प्रतिकूलवर्णता का दोष गले पतित हो जाता है। जैसे –

पिय तिय लुट्टत है सुरस ढट्टि लपट्टि लपट्टि।

टवर्ग का बहुल प्रयोग रौद्र रस के अनुकूल है, परन्तु यहाँ शृङ्गाररस के प्रसङ्ग में उनका प्रयोग प्रतिकूल है। अतः प्रतिकूलवर्णता नामक वाक्यदोष है।

२. न्यूनपदता, ३. अधिकपदता – अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए उतने ही शब्दों का प्रयोग किसी वाक्य में करना चाहिए, जितना आवश्यक हो। जितना अर्थ उतना शब्द यही प्रख्यात नियम है। यह न होने से कम पद हो जाने पर न्यूनपदता तथा अधिक पद होने पर अधिकपदता का दोष आना अनिवार्य होगा। न्यूनपदता का उदाहरण देखें –

राज तिहारे खड्ग ते, प्रगट भयौ जस फूल।

हे राजन् तुम्हारे तलवार से यशरूपी फूल प्रकट हुआ। यहाँ यश को फूल कहा गया है। अतः खड्ग को लता कहना चाहिए। लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष आ गया है। अधिकपदता का एक उदाहरण देखें –

डसै तिहारे शत्रु को खड्ग लता अहिराज।

तुम्हारी तलवारलता रूपी साँप शत्रुओं को डस रहा है। यहाँ 'लता' पद बिना किसी काम के ही रखा गया है। अतः अधिकपदता दोष है।

४. **अभवन्मतयोग** – वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी-कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नहीं घटता। यदि एक प्रधान वाक्य के साथ अनेक अवान्तर वाक्य प्रयुक्त हों, तो किसी अवान्तर वाक्य में प्रयुक्त पद का सम्बन्ध मुख्य वाक्य के साथ हो नहीं सकता। जैसे –

प्राण प्राणपति बिनु रह्यौ अबलौ धृक ब्रज लोग।

आशय यह है कि प्राणपति श्रीकृष्ण के बिना प्राण अब तक रह गया। इसलिए ब्रज के लोगों को धिक्कार है। यहाँ प्राण को धिक्कार है, जो कृष्ण के बिना जी रहे हैं। ब्रज के लोगों को धिक्कार नहीं। अतः यहाँ धृक् का अभीष्ट योग इस वाक्य में ठीक-ठीक नहीं लगता।

५. **कथितपदता** – यह इतना स्पष्ट दोष है कि इसका निराकरण न करना अपनी महनीय शब्द दरिद्रता दिखलाना है। लेखक को चाहिए कि एक ही भाव तथा भावना के प्रकट करने के लिए नित्य नूतन पदावली का प्रयोग करे। एक बार कहे गये पदों को फिर वहीं दुहराना लेखक के शब्द-भण्डार के दारिद्र्य का सूचक होता है। इससे बचना प्रत्येक लेखक का कर्त्तव्य होना चाहिए।

६. **भग्न प्रक्रमता** – निबन्ध तथा कविता में सामञ्जस्य या सन्तुलन ऐसा महनीय नियम है कि इसका पालन होना नितान्त आवश्यक है। यदि कोई वाक्य कर्मवाच्य में आरम्भ किया जाय, तो तत्सम्बद्ध वाक्यों को भी उसी वाच्य में समाप्त करना संतुलन की उपासना है। इसी प्रकार प्रकृति, सर्वनाम, पर्याय, कारक, वचन आदि का आरम्भ जिस ढंग से किया जाय,

उसी ढंग से उसकी समाप्ति भी अपेक्षित होती है। कवि कहना चाहता है कि सूर्य के अस्ताचल 'गमन' करने पर निशा भी चली जाती है। 'अस्तं गते हन्त निशापि याता'। गते में गम् धातु है तथा याता में या (जाना) धातु। साधारण रीति से गमन और यान में अन्तर नहीं है, दोनों का सामान्य अर्थ एक ही है – जाना। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों में महान् अन्तर है। सूर्य तथा निशा – इन दोनों का जाना एक समान ही है – इस अर्थ की द्योतना के लिए 'याता' को बदलकर प्रक्रान्त धातु के अनुरूप 'गता' करना होगा।

अर्थदोष

अर्थ की रुचिरता के निमित्त कतिपय नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक होता है, जिनका उल्लंघन करने से अर्थदोषों का उदय होता है। शोभन अर्थ के लिए आवश्यक है कि १. उसके समझने में किसी प्रकार का कष्ट होना नहीं चाहिए। २. अर्थों में किसी प्रकार का परस्पर विरोध न हो, ३. सदा नवीन अर्थ की ही सूचना होनी चाहिए, क्योंकि एक बार प्रकट किये गये अर्थ को फिर प्रकट करना नितान्त अनुचित होता है। ४. अर्थ को शिष्ट तथा सभ्य होना चाहिए, जिसके सुनने से किसी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न न हो। ५. अर्थ में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिए। वाक्य के सुनते ही एक ही अर्थ का बोध झटिति होना चाहिए। यदि वाक्य सुनने पर अर्थ का बोध तुरन्त नहीं होता, तो ऐसे अर्थ से लाभ ही क्या? ६. कोई भी अर्थ प्रसिद्ध बात से विरुद्ध नहीं होना चाहिए तथा ७. नाना विधाओं में प्रकटित तथ्य का ही अनुसरण होना चाहिए। यदि उससे विरुद्ध बातों का वर्णन किया जायेगा, तो नितान्त उपेक्षणीय माना जायेगा। ८. अर्थ में नवीनता आनी चाहिए। एक बार जिस अर्थ का प्रकटन कर दिया जाय, फिर उसी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिए। ९. अर्थ को स्वतः पूर्ण होना चाहिए। अर्थ के समझने में आकांक्षा का होना एकदम अनुचित होता है। १०. अर्थ को जानकर चित्त में न अमंगल की भावना होनी चाहिए और न उद्वेग उत्पन्न होना चाहिए। अर्थ की शोभनता के ये कतिपय आदरणीय नियम हैं, जिनका पालन अर्थ को उपादेय बनाता है और उनके उल्लंघन करने से क्रमशः इन अर्थ दोषों की उत्पत्ति है – १. कष्टार्थ, २. व्याहत,

३. पुनरुक्त, ४. ग्राम्य, ५. सन्दिग्ध, ६. प्रसिद्धिविरुद्ध, ७. विद्याविरुद्ध, ८. अनवीकृत, ९. साकांक्ष और १०. अश्लील।

रसदोष

कहा गया है कि रसदोष ही काव्य में मुख्य दोष होते हैं और यह होना उचित ही है। इसके उन्मीलन के विषय में हमारे आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है, जिनका अनुपालन काव्य को सरस तथा उपादेय बनाता है और जिनके तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट, उद्वेगजनक तथा उपहासास्पद बन जाता है। इन आधारभूत नियमों का प्रथमतः अनुशीलन अपेक्षित है।

१. रस सर्वदा व्यञ्जना शक्ति के द्वारा उन्मीलित होता है। अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता। यही नियम स्थायीभाव तथा व्यभिचारी भावों के प्रकटीकरण के विषय में भी जागरूक रहता है। इस नियम के उल्लंघन करने से '**स्वशब्दवाच्यता**' नामक रस दोष का उदय होता है। यथा–

तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षी रसो नः कोऽप्यजायत।
चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारमग्नमन्तरम्।।

रस का स्वशब्द रस शब्द (सामान्य) है और शृङ्गारादि शब्द (विशेष) भी है। इस पद्य के पूर्वार्द्ध में सामान्यवाचक 'रस' शब्द से रस का कथन किया है और उत्तरार्द्ध में विशेषवाचक शृङ्गारशब्द से उसका कथन किया है, अतः यह स्वशब्दवाच्यत्व नामक रस दोष है।

२. किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। यदि कष्ट कल्पना करने से इसका प्रकटीकरण हो, तो यह रसदोष है।

३. विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। शृङ्गार का शान्तरस विरोधी होता है। फलतः शृङ्गार रस के वर्णन के अवसर पर शान्तरस के विभाव आदि का ग्रहण सर्वदा दोष माना जायेगा।

४. रस का उद्दीपन बारम्बार नहीं करना चाहिए। अवसर आने पर रस का वर्णन एक बार ही सुन्दरता के साथ कर देना चाहिए। पुनः-पुनः उस रस की दीप्ति दोष मानी जाती है। जैसे कुमारसम्भव में 'रति-विलाप' के समय करुण की बारम्बार दीप्ति अनुचित है।

५. अचानक न तो रस का विस्तार करना चाहिए और न चलते हुए रस का एकाएक उच्छेद ही करना चाहिए। इस नियम के तिरस्कार में '**अकाण्डे प्रथन**' तथा '**अकाण्डे छेद**' नामक दोषों की उत्पत्ति होती है।

६. अंगी अर्थात् मुख्य पदार्थ नायक आदि का ही वर्णन काव्य में उचित है। अंग का अत्यन्त विस्तार कभी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से '**अंगातिविस्तृति**' नामक रसदोष होता है।

७.काव्य या नाटक में अंगी पदार्थ का वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है। उसका विस्तार कर उसे बिल्कुल भुला डालना नितान्त अनुचित होता है।

८. नाटक में चित्रित पात्रों के कर्म व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही होना चाहिए। प्रकृति अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं – (क) दिव्य = स्वर्ग में रहने वाले देव, अप्सरा आदि, (ख) अदिव्य = पृथ्वीचारी जीव, (ग) दिव्यादिव्य = दोनों गुणों से आश्रित पात्र। इन रूपों के समान ही उनका कार्य-कलाप काव्य या नाटक में चित्रित करना कवि का परम धर्म होता है। तभी तो यथार्थ होने से नाटक का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है। इसका उल्लंघन 'प्रकृति-विपर्यय' कहलाता है। यह नियम नाटक के लिए बहुत आवश्यक है। नाटक के रूप विवेचन के अवसर पर हमने विस्तार के साथ दिखलाया है कि नाटक लोक के ऊपर आश्रित रहता है और इसलिए लोकसिद्ध नियमों का पालन करना कवि के लिए बहुत ही आवश्यक होता है।

काव्य के दोषों में रसदोष ही अन्तरंग दोष स्वीकृत किया जाता है तथा अन्य दोष तदपेक्षया बहिरंग माने जाते हैं। दोषों का एक और भी वर्गीकरण आचार्यों ने किया है – (क) **नित्यदोष** (ख) **अनित्यदोष**।

नित्यदोष से अभिप्राय उन दोषों से है, जो अपने जीवन में सदा दोष ही

बने रहते हैं और किसी भी दशा में अपने स्वरूप से विहीन नहीं होते। जैसे – 'च्युतसंस्कृति' दोष। व्याकरण से अशुद्ध पद सदा ही दुष्ट होता है और वह हमेशा उद्वेगजनक होता है।

अनित्य दोष – उन दोषों को कहते हैं, जो किसी अवस्थाविशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण रूप बन जाते हैं, जैसे **श्रुतिकटु दोष**। यह दोष तभी दोष है, जब जहाँ शृङ्गार की स्थिति है। वीर या वीभत्स या रौद्ररस के विद्यमान रहने पर वही श्रुति कटु दोष गुण बन जाता है; क्योंकि वहाँ कानों को कटु लगने वाला पद ओज गुण के अभिव्यञ्जक होने से वीर आदि रसों के सर्वथा अनुकूल होते हैं। 'अधिकपदता' अवश्य दोष है, परन्तु भय तथा हर्ष से युक्त वक्ता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित तथा मनोवैज्ञानिक होता है। इसलिए यह इस अवसर पर गुण ही माना जाता है। इस प्रकार अनेक दोष दशाविशेष में गुण भी बन जाते हैं।

काव्य की ग्राह्यता

काव्यशास्त्र में ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय आदि कुछ सम्प्रदायों की चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायों की स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्व के विषय में मतभेद के कारण हुई है। जो लोग रस को काव्य का आत्मा मानते हैं, वे रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। जो अलङ्कारों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं, वे अलङ्कारसम्प्रदाय के अनुयायी कहे जाते हैं। उनका मत है कि काव्य की ग्राह्यता अलङ्कार से ही है। इसी प्रकार **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** रीति को ही काव्य की आत्मा मानने वाले रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'** ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले ध्वनि सम्प्रदाय के अनुयायी तथा **'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'** वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी कहे जाते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र में प्रायः १. रससम्प्रदाय २. अलङ्कार सम्प्रदाय ३. रीति सम्प्रदाय ४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा ५. ध्वनि सम्प्रदाय– ये पाँच सम्प्रदाय पाये जाते हैं। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों में साहित्यशास्त्र में जितने आचार्य हुए हैं, वे प्रायः इन्हीं सम्प्रदायों में किसी न किसी सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

१. रस सम्प्रदाय

इन पाँचों सम्प्रदायों में सबसे मुख्य तथा प्राचीन सम्प्रदाय कदाचित् रससम्प्रदाय है। रस सम्प्रदाय के संस्थापक भरत मुनि हैं उनकी मान्यता है 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। यद्यपि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में भरत से भी पहले नन्दिकेश्वर को रससिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना है, किन्तु नन्दिकेश्वर का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्य के आधार पर साहित्यशास्त्र के पितामह भरत को ही रससम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। रस के विषय में सबसे पहले विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में ही पाया जाता है। भरतमुनि का '**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः**' यह प्रसिद्ध रससूत्र ही रससिद्धान्त का प्राणभूत है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर रस का विवेचन किया है। इसलिए भरतमुनि को ही रससम्प्रदाय का आदिप्रवर्तक मानना होगा। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है। रस ही काव्य का आत्मभूत तत्त्व है। इसके मत में काव्य की ग्राह्यता रस से है।

२. अलङ्कार सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय के बाद दूसरा स्थान अलङ्कार सम्प्रदाय का आता है। कालक्रम से भरत के बाद होने वाले दूसरे आचार्य भामह इस अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके व्याख्याकार 'भामहविवरण' के निर्माता उद्भट और उनके बाद हुए दण्डी, रुद्रट आदि और पश्चाद्वर्ती प्रतिहारेन्दुराज रुय्यक तथा जयदेव आदि अनेक आचार्य इस अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। अलङ्कार सम्प्रदाय के अनुयायी भी रस की सत्ता मानते हैं, किन्तु उसे प्रधानता नहीं देते हैं। उनके मत में काव्य का प्राणभूत जीवनाधायक तत्त्व अलङ्कार है। इसी से काव्य की ग्राह्यता है– **काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्**। अलङ्कारविहीन काव्य की कल्पना वैसी ही है, जैसे उष्णता विहीन अग्नि की कल्पना। चन्द्रालोक के निर्माता जयदेव ने काव्य प्रकाशकार के काव्यलक्षण में आये 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' अर्थात् कहीं-कहीं अलङ्कारविहीन शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं, इस अंश पर कटाक्ष करते हुए लिखा है –

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

अर्थात् काव्यप्रकाशकार जो अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थ को भी काव्य मानते हैं, वे उष्णताविहीन अग्नि की सत्ता क्यों नहीं मानते? अलङ्कारसम्प्रदायवादी काव्य में अलङ्कार को ही प्रधान मानते हैं और इसका अन्तर्भाव रसवदलङ्कारों में करते हैं। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन् और समाहित चार प्रकार के रसवदलङ्कार माने जाते हैं। भामह और दण्डी दोनों ने इन रसवदलङ्कारों के भीतर ही रस का अन्तर्भाव किया है –

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।

– भामह, काव्यालङ्कार ३.६।

मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।

– दण्डी, काव्यादर्श ३.५१।

३. रीति सम्प्रदाय

कालक्रम में अलङ्कारसम्प्रदाय के बाद रीति सम्प्रदाय का स्थान आता है। रीति सम्प्रदाय के संस्थापक भामह के बाद होने वाले वामन हैं। वामन ने काव्य में अलङ्कार की प्रधानता के स्थान पर रीति की प्रधानता का प्रतिपादन किया है। '**रीतिरात्मा काव्यस्य**'[१] यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है। इसीलिए उन्हें रीतिसम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। रीति क्या है इसका विवेचन करते हुए उन्होंने '**विशिष्टपदरचना रीतिः**'[२] अर्थात् विशिष्ट पदरचना का नाम रीति है, यह लक्षण किया है। आगे उस विशेष की व्याख्या करते हुए विशेषो गुणात्मा[३] अर्थात् रचना में माधुर्यादि गुणों का समावेश ही उसकी विशेषता है और यह विशेषता ही रीति है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में गुण और रीति का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए रीतिसम्प्रदाय को गुणसम्प्रदाय के नाम से भी कहा जाता है।

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र १.२.६।

२. का०सू० - १.२-७।

३. का०सू० १.२-८।

वामन ने '**काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा:**'[१] तथा '**तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा:**'[२] इन दो सूत्रों को लिखकर गुण तथा अलङ्कारों का भेद प्रदर्शित करते हुए अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों के विशेष महत्त्व को प्रदर्शित किया है। गुण काव्यशोभा के उत्पादक होते हैं। अलङ्कार केवल उस शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं। इसलिए काव्य में अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वामन ने अलङ्कारों की प्रधानता को समाप्त कर गुणों की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले रीतिसम्प्रदाय की स्थापना की। मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने रीति की उपादेयता तो स्वीकार की है, किन्तु उसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया है। उनके मत में '**रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्**' काव्य में रीतियों की स्थिति वैसी ही है, जैसे शरीर में आँख, नाक, कान आदि अवयवों की। इन अवयवों की रचना शरीर के लिए उपयोगी भी है और शरीर शोभा का जनक भी है, फिर भी उसे आत्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार काव्य में रीति का महत्त्व तथा शोभाजनकत्व होने पर भी उसे काव्य का आत्मा नहीं कहा जा सकता है।

४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय

कालक्रम से वामन के रीति सिद्धान्त के बाद उसको दबाकर वक्रोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक माने जाते हैं। कुन्तक ने काव्य में रीति की प्रधानता को समाप्त कर वक्रोक्ति की प्रधानता की स्थापना की। वैसे काव्य में वक्रोक्ति का मूल्य भामह ने भी स्वीकार किया है –

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलङ्कारोऽनया विना[३]।।

इसी प्रकार दण्डी ने '**भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्**'[४] लिखकर वक्रोक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। वामन ने भी सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति:[५] लिखकर काव्य में वक्रोक्ति का स्थान माना है। किन्तु उन सबके मत से वक्रोक्ति सामान्य अलङ्कारादि रूप ही है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को जो गौरव प्रदान किया है, वह उन आचार्यों ने नहीं दिया है। इसलिए कुन्तक ही इस सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने इस

---

१. का०सू० ३.२.१,
२. का०सू० ३.१.२।
३. भामह, काव्यालङ्कार २.८५।
४. काव्यादर्श २.३६३।
५. काव्यालङ्कारसूत्र ४.३।८ की वृत्ति।

वक्रोक्तिसिद्धान्त के ऊपर भी वक्रोक्तिजीवित नामक अपने विशाल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने अपने पूर्ववर्ती रीतिसिद्धान्त को भी परिमार्जित करके अपने यहाँ स्थान दिया है। वामन की पाञ्चाली, वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियाँ देश-भेद के आधार पर मानी जाती थीं। कुन्तक ने उनका आधार देश को न मानकर रचनाशैली को माना है और उनके लिए रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। वामन की वैदर्भी रीति को कुन्तक 'सुकुमारमार्ग' कहते हैं। इसी प्रकार गौडी रीति को विचित्र मार्ग तथा पाञ्चाली रीति को मध्यममार्ग नाम से कहते हैं। आचार्य कुन्तक का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने ध्वनिकार की आलोचना किये बिना उनके ध्वनिसिद्धान्त के समानान्तर षड्विद्यावक्रोक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें सभी ध्वनिभेद अन्तर्भूत हो जाते हैं, इस प्रकार उन्होंने व्यञ्जना के स्थान पर विचित्रा अभिधा को पुनः प्रतिष्ठापित कर ध्वनि सिद्धान्त का मौनरूप से प्रबल खण्डन कर दिया।

५. ध्वनि सम्प्रदाय

कालक्रम से वक्रोक्ति सम्प्रदाय के बाद ध्वनि सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इनके मत में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' काव्य की आत्मा ध्वनि है। इन सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सबसे अधिक सबल एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा है। यों इसके विरोध में भी व्यक्ति विवेक हृदय दर्पण आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उस विरोध से ध्वनिसिद्धान्त वैसा ही अधिकाधिक चमकता गया, जैसे अग्नि में तपाने पर स्वर्ण की कान्ति बढ़ती जाती है। ध्वनिसिद्धान्त के संभावित पूर्वपक्ष के रूप में वैयाकरण, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभी का विवेचन कर आचार्य अभिनवगुप्त ने खण्डन किया है। किन्तु अन्त में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने बड़ी प्रबल युक्तियों द्वारा उन सबका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्त की पुनः स्थापना की। इसीलिए उनको ध्वनिप्रतिष्ठापकपरमाचार्य कहा जाता है।

भरत से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय तक लगभग दो हजार वर्षों के दीर्घकाल के भीतर इन सम्प्रदायों का विकास और संघर्ष होता रहा है। इस बीच में लगभग चालीस-पैंतालीस मुख्य आचार्यों ने इस साहित्यिक विकास के कार्य में अपना योगदान किया है।

OOO

षष्ठ उन्मीलन
दृश्य काव्य

दृश्यकाव्य की उपादेयता

काव्य के द्विविध भेदों का उल्लेख ऊपर किया गया है – श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य। श्रव्यकाव्य श्रवण के माध्यम से सामाजिक के हृदय को स्पर्श करता है और दृश्य काव्य नेत्र के माध्यम से दर्शक के हृदय को आकृष्ट करता है। दोनों का लक्ष्य एक ही है – सामाजिक का हृदयावर्जन; परन्तु इस लक्ष्य की सिद्धि के माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। श्रव्य काव्य में श्रवण है और दृश्य काव्य में नेत्र। यह निर्विवाद सत्य है कि कानों से सुनी गयी वस्तु की अपेक्षा नेत्रों द्वारा देखी गयी चीज विशेष रोचक होती है और हृदय को अधिक खींचती है। इस कारण श्रव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होना अधिक उचित ही है।

रूपक की रमणीयता पर संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी गम्भीरता से विमर्श किया है। दृश्य काव्य का सामान्य नाम है रूपक और नाटक इसी का एक प्रधान अंग होता है। रूपक एक अलङ्कार होता है, जिसमें एक वस्तु (जैसे मुख) के ऊपर तत्सदृश अन्य वस्तु (जैसे चन्द्रमा) का आरोप किया जाता है। इसी कारण दृश्य काव्य का भी नामकरण रूपक पड़ गया है। नट तथा नटी राम तथा सीता की विभिन्न अवस्थाओं का रंगमंच के ऊपर अनुकरण करते हैं। वियोगी राम के समान नट भी सीता के विरह में पञ्चवटी के वृक्षों से, लताओं से तथा पशुओं से सीता का समाचार पूछता हुआ चलता है तथा अपनी कला से राम की उस काल की अवस्था का अभिनय बड़ी सुन्दरता के साथ करता है। नटी भी अशोकवाटिका में रावण की राक्षसियों द्वारा त्रस्त होने वाली तथा आकाश से आग की चिनगारी माँगने वाली सीता का अभिनय इतनी सरलता के साथ करती है कि दर्शक को इसका भान भी नहीं होता कि इनकी सत्ता राम तथा सीता से पृथक् है। अभिनय की कुशलता के कारण नट के ऊपर राम का तथा नटी के ऊपर सीता का आरोप दर्शक लोग स्वतः करते

हैं। इसीलिए समारोप – ठीक-ठीक आरोप किये जाने के कारण दृश्य काव्य को हम 'रूपक' नाम से पुकारते हैं।

काव्य में वर्णित या चित्रित घटनाओं का जब हम मानस प्रत्यक्ष करते हैं, तभी हमें अपने हृदय में आनन्द का बोध होता है और यही आनन्दबोध (या रसोन्मेष) तो काव्य का अन्तिम लक्ष्य ठहरा। श्रव्य काव्य में भी हम जीवन के साथ सम्पर्क रखते हैं, परन्तु यह सम्पर्क परोक्ष रूप से ही होता है, परन्तु दृश्य काव्य में हमारा सम्बन्ध वर्णित विषय के साथ बिलकुल प्रत्यक्ष होता है। समग्र घटनाएँ चित्रपट के समान नाना रंगों में हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती हैं और हमारा हृदय आकृष्ट करती हैं। परिणाम यह होता है कि समग्र कथानक यथार्थ रूप से उपस्थित हो जाता है। उसमें अस्फुटता की कोई छाप रहती ही नहीं। इसीलिए चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण रूपक महाकाव्य की अपेक्षा सुन्दरतम माना जाता है।

कवि की दृष्टि में नाटक उसकी प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। इसका कारण यह है कि वह नाटक के द्वारा स्वानुभूत आनन्द का दर्शकों के हृदय में बड़ी सरलता से संचार कर सकता है और इस सुलभ संचरण का कारण है औचित्य। जिस काव्य में जितना ही औचित्य रहता है, वह उतनी ही मात्रा में श्रोता तथा दर्शक के हृदय में आनन्द का उद्‌बोधन कर सकता है। नाटक में औचित्य का सबसे बड़ा अवलम्बन होता है। पात्र के वय के अनुसार ही उसका वेष रहता है। वेष के अनुरूप ही होता है गति का सञ्चार और तदनुरूप होता है पाठ्य अर्थात् संवाद, तथा पाठ्य के अनुरूप ही अभिनय होता है। इस प्रकार नाटक में औचित्य की परम्परा घर बनाये रहती है। नाटक की नायिका वही प्राकृत बोलती है, जो वह अपने वास्तव जीवन में तथा प्रतिदिन के व्यवहार में बोला करती है। यह कितना स्वाभाविक है, कितना उचित है। उधर श्रव्य काव्य में सब स्त्रीपात्र अपनी स्वाभाविक भाषा छोड़कर संस्कृत में बोलने के लिए बाध्य होते हैं। यह वस्तुतः स्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार हम नाटक में औचित्य का पूर्ण निर्वाह पाते हैं। स्वाभाविकता खुलकर यहाँ निवास करती है और इसीलिए कर्ता की दृष्टि में अर्थात् कविपक्ष से रूपक में रसवत्ता का बड़ा ही सुन्दर मधुर सन्निवेश

रहता है।

सामाजिक (दर्शक) की दृष्टि से भी नाटक की मनोज्ञता होती है। सामाजिक प्रायः दो प्रकार के होते हैं। एक होता है 'सहृदय' जो काव्यकला के साथ गाढ़ परिचय तथा अभ्यास रखने के कारण कवि के हृदय के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है। दूसरा होता है 'अहृदय' जिसके हृदय में भावना की कथमपि प्रतीति नहीं होती। हम उन सहृदयों की बात नहीं करते, जिनके स्वच्छ हृदय में काव्य अपना प्रतिबिम्ब सद्यः डालते हैं, और इसलिए जो कविता के पाठमात्र का श्रवण से ही रस की अनुभूति कर लेते हैं। रसानुभूति आवश्यक सामग्रियों की अपेक्षा रखती है। जब तक ये विद्यमान न हों, तब तक दर्शक के हृदय में आनन्द का उन्मेष नहीं होता। 'अहृदय' व्यक्तियों को तभी काव्य के पढ़ने या सुनने से आनन्द आता है, जब रसोपयोगी सामग्री को अपने हृदय में पैठने के लिए अवसर दिया जाय। परन्तु नाटक में यह झमेला नहीं। रस के आस्वादन के लिए जिस उचित वातावरण की आवश्यकता होती है, वह रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के वेष तथा सज्जा, परदों की चमक, रंगमंच की सजावट आदि के द्वारा तुरन्त उत्पन्न किया जाता है। भाषा की कठिनाई किसी प्रकार की विधा उपस्थित नहीं करती। हिन्दी के नाटकों की बात जाने दीजिए। वहाँ तो भाषा के समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। संस्कृत के नाटकों के प्रति भी साधारण जनता के आकर्षण का रहस्य क्या है? अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में –

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा।।

की प्रस्तावना के साथ परदा उठता है और रथ पर आरूढ़ चढ़ाये हुए धनुष को हाथ में लिए हुए राजकीय वेषभूषा से मण्डित राजा दुष्यन्त हरिण के पीछे दौड़ा चला जाता है, तब बिना किसी व्याख्या के ही दर्शकों को समयोचित रस का आस्वादन होने लगता है। अनुकूल वातावरण के कारण से ही तो? यहाँ कल्पना को दौड़ाने की जरूरत नहीं होती। रंगमंच के ऊपर रस के उद्बोधन की समग्र सामग्री प्रस्तुत है – जंगल के सुहावने दृश्यों से चित्रित परदे, वेषभूषा से सुसज्जित राजा, तीखे दौड़ने वाले बेलगाम घोड़े तथा सामने भागने वाला हरिण। बस परदे के उठने की देर रहती है।

रसास्वादन में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। अतः अहृदयों को सहृदय बनाने की भरपूर क्षमता नाटक में ही होती है। इसलिए संस्कृत के आचार्य डंके की चोट से घोषित करते हैं –

'काव्येषु नाटकं रम्यम्'।

अर्थात् काव्यों में नाटक ही रमणीय होता है। यह बात अनेक दृष्टियों से चरितार्थ होती है। जीवन की सत्यता को अनुभव की दृष्टि से, रसवत्ता से स्निग्ध होने की दृष्टि से और रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से देखने पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि समग्र काव्य-प्रभेदों में रूपक सर्वथा अभिराम, हृदयंगम तथा रमणीय होता है। इसीलिए कविकुलगुरु कालिदास की यह उक्ति प्रशस्ति न होकर तथ्योक्ति है –

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

जगत् के प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है; कोई किसी चीज को पसन्द करता है, तो कोई किसी को। परन्तु नाटक की उपयोगिता के विषय में इन सबका एक मत है, क्योंकि भिन्नरुचि वाले प्राणियों के चित्त को नाना प्रकार से आवर्जन करने का एक ही साधन है और वह साधन है नाट्य।

यूनानी तथा भारतीय नाट्य साहित्य

भारतवर्ष एक प्राचीन देश है, जो सदा से ही विभिन्न संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। संसार में सर्वप्रथम विद्या का प्रचार तथा सभ्यता का जन्म इसी देश में हुआ था। संसार के अन्य देशों को देखते हुए यूनान भी एक अतिप्राचीन देश है। इसकी सभ्यता भी पुराकाल में अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन संस्कृति के इन दोनों केन्द्रों का परस्पर प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। प्रत्येक भाषा के साहित्य में नाटक साहित्य का विशेष स्थान होता है तथा वह सदा ही पाठकों को एक अद्भुत प्रेरणा प्रदान करता रहता है। पाश्चात्त्य विद्वानों का विचार है कि नाटक साहित्य का सर्वप्रथम उद्गम यूनान में ही हुआ। उस देश के भारत से सम्पर्क स्थापित करने के उपरान्त ही हमारे देश में रूपकों की रचना प्रारम्भ हुई। यद्यपि यह धारणा

सर्वथा निर्मूल है, फिर भी हमारे लिए इस कथन की सत्यता पर विचार प्रकट करना आवश्यक है।

वेबर का मत है कि भारत में यूनानी राजदूत सर्वप्रथम पंजाब तथा गुजरात के राजदरबार में आये। उनके साथ ही यूनानी नाटकों का भी हमारे देश में प्रवेश हुआ। लगभग उसी समय के रचे हुए पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य में नाटकों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार सम्भव है कि भारतीय नाटक साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ा हो। विंडिश ने इस विषय में अपना विशेष मत प्रकट किया है। उसका विचार है कि रामायण तथा महाभारत जैसे सुमनोहर महाकाव्यों के रमणीय प्रसंग तथा एकपात्रात्मक रूपकों द्वारा संस्कृत नाटकों का उद्‌गम हुआ। एक ही पात्र द्वारा आरम्भ में अभिनय होता था, जो कि सामाजिक मनोरञ्जन का विशेष साधन था। उसे अंग्रेजी में 'माइम' कहते थे। वह पात्र नट कहलाता था। यह शब्द संस्कृत के मूल धातु नृत् का प्राकृत रूप है। अतः उसका विचार है कि भारतीय नृत्य ने ही कालान्तर में नाट्य साहित्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार के एक पात्रात्मक रूपक कुछ भिन्न प्रकार से यूनान में भी प्रचलित थे। इन्हें अंग्रेजी में 'पेण्टोमाइम' कहते हैं। इस प्रकार समता होने से उसका अनुमान है कि हमारे देश के इस विशेष साहित्य पर यूनान का प्रभाव अवश्यमेव पड़ा होगा। महाभाष्य में जो नाट्य साहित्य का उल्लेख मिलता है, उसमें यूनान का नामोनिशान तक नहीं है। रामायण तथा महाभाष्य में उल्लिखित नाटकों में अन्तर है, जो विदेशी प्रभाव के कारण हो सकता है। इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण न देकर केवल कल्पना मात्र ही की गयी है। जिस समय रामायण, महाभारत तथा पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य की रचना हुई थी, उस समय यूनान देश के रूपक अपनी शैशवावस्था को भी प्राप्त नहीं कर पाये थे। भारतवर्ष के साहित्य में कहीं इस प्रभाव का उल्लेख नहीं है, न इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण ही मिलता है। इस प्रकार यह धारणा कोरी कल्पना मात्र ही प्रतीत होती है।

भारतवर्ष में गान्धार कला प्रचलित थी। इस कला के विषय में विंडिश का मत है कि हमारे देश में यूनानियों के सम्पर्क से ही इस कला का श्रीगणेश

हुआ। इसी प्रकार यूनान देश के प्रभाव से बौद्ध मतावलम्बियों ने महात्मा गौतम बुद्ध की प्रतिमा को विशाल रूप में चित्रित किया। कीथ के मतानुसार ईशा की प्रथम शताब्दी में गान्धार कला का भारतवर्ष में प्रवेश हुआ। विंडिश के समय में लोगों का अनुमान था कि महाकवि कालिदास ही संस्कृत साहित्य के प्रथम नाटककार हैं, जिनकी रचना उपलब्ध होती है। उसके काल के उपरान्त कालिदास से भी पूर्ववर्ती महाकवि भास के तेरह रूपक उपलब्ध हुए हैं। यह मत कालिदास के समय को पाँचवीं शताब्दी ई० मानकर ही निश्चित किया गया है। किन्तु भारतीय विद्वानों ने अपने अकाट्य प्रमाणों से उनका समय प्रथम शताब्दी ई०पू० निश्चित रूप से सिद्ध किया है। इस प्रकार विदित होता है कि ईशा की प्रथम शताब्दी तक भारत में संस्कृत नाटक साहित्य का पर्याप्त प्रचार हो गया था, जब कि मिनाण्डर मध्य-पूर्व की विजय करता हुआ भारत आया और भारतीय नरेशों को यूनान देश की कला से प्रभावित किया। इस प्रकार गान्धार कला का भारत में प्रवेश यूनान के सम्पर्क से हुआ, यह मत सर्वथा निराधार ही प्रतीत होता है।

अब हमें विचार करना है कि भारतीय राजदरबारों में यूनान के कला-मर्मज्ञ आये या नहीं। उन्होंने किस प्रकार अपने देश की कला का दिग्दर्शन कराया। यूनान के प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर महान् नाट्य-कला के विशेष प्रेमी था। प्रो० लेवी का अनुमान है कि विजयार्थ उसके भारत आगमन के समय यूनानी कलाकारों तथा कला का हमारे देश में अवश्यमेव प्रवेश हुआ होगा। इतिहास सिकन्दर के जीवन तथा उसकी विजयसम्बन्धी घटनाओं पर विस्तृत प्रकाश डालता है। परन्तु नाटकशास्त्र पर ऐसे प्रभाव के विषय में सर्वथा मूक है। इस प्रकार लेवी का मत भी अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतवर्ष और यूनान दोनों ही संसार की प्राचीन सभ्यता के केन्द्र रह चुके हैं, परन्तु जिस समय हम इन दोनों देशों की सभ्यता की तुलना करते हैं, तो भिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है। दोनों देशों की भाषाओं में बहुत अंतर है, जिससे कि साहित्य पर परस्पर प्रभाव होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। भारतवर्ष में यूनानी ही नहीं, अपितु शक, कुषाण तथा अन्य अनेक जातियों का आगमन हुआ। हमारे देश की उस समय यह

एक अत्युल्लेखनीय विशेषता रही है कि अनेक विदेशी जातियाँ भारत में समा गयीं तथा हमारी सभ्यता ने उनके अस्तित्त्व का ही भारतीयकरण कर लिया। ऐसे समय यूनान का कुछ प्रभाव पड़ना सम्भवनीय सा प्रतीत नहीं होता।

विंडिश का मत है कि यूनान में एक नवीन प्रकार की नाट्यकला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका समय ईशा से पूर्व ३४० से २६० तक है। यह कला अंग्रेजी में (न्यू एटिग कोमेडी) के नाम से विख्यात है। प्राचीन संस्कृत नाटक साहित्य से इस विशेष यूनानी कला की तुलना करने पर कुछ समता दृष्टिगोचर होती है। दोनों का ही अंकों में विभाजन है, जिसकी समाप्ति समस्त पात्रों के रंगमंच से पृथक् होने पर ही होती है। किसी नवीन पात्र का प्रवेश ग्रन्थ के माध्यम में एकाकी नहीं होता। किसी परिचित पात्र के उपस्थित रहने पर ही दर्शकों के मध्य में उसका आगमन होता है। संस्कृत में अंक किसी विशेष घटना को लक्ष्य करके समाप्त किये जाते हैं। जबकि यूनानी साहित्य में कोई ऐसा विशेष नियम नहीं है। इस विशेष लक्षण से संस्कृत नाटक यूनानी की अपेक्षा अधिक विकसित सिद्ध होते हैं। संस्कृत में प्रायः सभी रूपक सुखान्त हैं। यह विशेषण भी सुखान्त होने का द्योतक है। अधिक विकसित तथा सुखान्त होने के कारण संस्कृत का यूनानियों पर प्रभाव पड़ा, ऐसी सम्भावना अधिक उचित प्रतीत होती है। हमारे देश के सुखान्त नाटकों के आधार पर ही यूनानवासियों को अपना यह विशेष साहित्य सुखान्त बनाने की प्रेरणा मिली। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ई०पू० चतुर्थ शताब्दी में क्या भारतीय नाटक साहित्य इतना विकसित हो गया था कि वह यूनान के साहित्य पर प्रभाव डाल सके? महाकवि भास का उस समय तक प्रादुर्भाव हो चुका था, जो संस्कृत साहित्य के प्रथम उपलब्ध नाटककार हैं। भरत नाट्यशास्त्र की रचना भी, जो संस्कृत नाट्य लक्षणग्रन्थों में प्रमुख है, तब तक हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रन्थों से लक्षण ग्रन्थ का निर्माण सदा पहले होता है। यद्यपि उस समय का नाटक साहित्य उपलब्ध नहीं होता, इस प्रमाण से उसका भी विकसित होना सिद्ध होता है। दोनों ही देशों के तत्कालीन इतिहास पर विचार करने से विदित होता है कि

पारस्परिक वाणिज्य-सम्पर्क दृढ़ थे। अतः ·यात्रियों के आवागमन से ही यूनान में एक नवीन परम्परा के नाटक साहित्य का जन्म हुआ होगा। जब हम उस समय के संस्कृत नाटकों और इस विशेष यूनानी साहित्य की तुलना करते हैं, तो हमारे उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। दोनों ही साहित्यों में नाटक का नायक प्रायः राजा होता है। वह किसी रूपवती कामिनी पर सहसा दृष्टिपात कर उसकी प्राप्ति के लिए भाँति-भाँति के प्रयत्न करता है। उसके इस पौरुष में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिनका वह साहसपूर्वक सामना करता है। अन्त में सफलता उसका साथ देती है और वह प्रेमिका के साथ अपना भावी जीवन सुखमय बनाने में समर्थ होता है। यूनानी साहित्य में भी इस प्रकार की प्रणय कथाएँ पायी जाती हैं, जिससे उन पर हमारे देश के नाटकीय प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होने वाले परदे के लिए यवनिका शब्द का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्त्य यवन देशों का हमारे इस साहित्य पर प्रभाव सिद्ध करने के लिए पाश्चात्त्य विद्वान् इस शब्द का प्रमुख आधार मानते हैं। यवनिका शब्द यवन से बना हुआ विशेषण है, जिसका अर्थ यवन-सम्बन्धी है। यवन देशों में फारस, अरब, सीरिया, यूनान सबका समावेश हो जाता है। इस शब्द का रूपक में उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि किसी यवन-देशीय वस्तु का हमारे नाटकों में अवश्यमेव प्रयोग होता था। लेवी का मत है कि यूनान देश के व्यापारियों के सम्पर्क में आने के उपरान्त ही हमारे देश में सुन्दर यूनानी वस्त्र के परदे बनाये गये और तदुपरान्त ही भारत में इस कला का विकास हुआ। बिंडिश का मत भी इस विषय में उल्लेखनीय है। उसका विचार है कि जो परदे रंगमंच पर प्रयुक्त होते थे, उन पर यूनान देश के समान ही चित्रकारी एवं कढ़ाई की हुई होती थी। यह दोनों ही मत वस्त्र के आयात पर प्रकाश डालते हैं। केवल परदे के कारण ही नाट्यकला का देश में आगमन मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। केवल एक भागविशेष के प्रत्यागमन से समस्त कला का आगमन मानना अनुचित प्रतीत होता है। यवन शब्द समस्त यवन देश का द्योतक हो सकता है, फिर केवल यूनान का ही क्यों ग्रहण किया जाय। कुछ विद्वानों की धारणा है कि भारत में

नाटकों के अभिनय के अवसर पर यूनान देश की युवतियाँ राजा की अंगरक्षिका का कार्य किया करती थीं। यूनान तथा अन्य पाश्चात्य देशों के व्यापारियों के साथ वे युवतियाँ आया करती थीं और यह कार्य उनके जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन था। इस विषय में इतिहास मौन है और यह मत केवल कोरी कल्पना मात्र ही प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि यूनान में वस्त्र-निर्माण एवं कढ़ाई की कला का विशेष प्रचार था। यूनान देश से आने वाले व्यापारी भारतीय नरेशों के यहाँ अनुगामी के रूप में यूनानी वस्त्र पर अपने देश की कलानुसार चित्राङ्कन किया करते थे। इस कारण परदे का नाम यवनिका पड़ा। सम्भवतः यवन देश के आयात किये हुए वस्त्रों से यह परदा बनाया जाता हो। किन्तु भारत के तत्कालीन वस्त्र उद्योग के विकास की ओर दृष्टिपात करने से यह मत उचित प्रतीत नहीं होता।

यवनिका शब्द के आधार पर यह अनुमान करना कि यूनान के सम्पर्क के उपरान्त ही हमारे देश में इस साहित्य का श्रीगणेश हुआ, सर्वथा भ्रामक है। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इसका उल्लेख नहीं हुआ है। जिस समय के उपरान्त इस शब्द का प्रयोग हुआ, उस समय यूनान देश से हमारे वाणिज्य सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। रंगमंच के परदे के लिए आरम्भ में विदेशी वस्त्र का उपयोग होता होगा तथा कालान्तर में यह शब्द रूढ़ हो गया होगा, उपर्युक्त कथन के अनुसार यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता।

पाश्चात्य विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए विभिन्न संस्कृत और यूनानी नाटकों के कथानक की तुलना कर विदेशी प्रभाव को सिद्ध करने का प्रयास किया है। संस्कृत में अधिकांश नाटक ग्रन्थ रामायण एवं महाभारत जैसे प्रसिद्ध महाकाव्यों के आधार पर निर्मित किये गये हैं। कवियों ने कुछ कृतियाँ अपनी अनुपम कल्पना के आधार पर भी लिखी हैं, जिनके विषय में यूनानी मूल नहीं मिल सका है। इन महाकाव्यों पर यूनानी कला किञ्चिदपि प्रभाव नहीं डालती। नल-दमयन्ती की कथा से मिलती हुई प्राचीन यूनानी गल्प में एक कथा मिलती है, किन्तु केवल एक कथा की समता से ही यह

निर्णय करना उचित नहीं। विंडिश महोदय बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी सन्तोषजनक परिणाम पर न पहुँच सके। उन्होंने सम्राट् शूद्रक कृत मृच्छकटिक और यूनानी नाटक (शिष्टेलिरिया) या (औलुलेरिया) से जिसका अर्थ छोटी शतरंज या छोटा बरतन है, तुलना की है। दोनों ही ग्रन्थों में प्रथम कथा को राजनीतिक क्रान्ति के आधार पर नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के प्रेम की यूनानी नाटक के नायक-नायिका से तुलना की गयी है। प्रेमिका की प्राप्ति के उद्देश्य से दोनों ही ग्रन्थों में सेंध लगाना और चोरी करना आदि घटनाओं का समावेश है। एक गणिका और समृद्ध ब्राह्मण का प्रेम भी शिष्टेलिरिया के विभिन्न जाति में उत्पन्न नायक और नायिका के समान ही है। मृच्छकटिक की रचना चारुदत्त के आधार पर रची गयी है और इसे भारतीय नाटक का प्राचीनतम रूप नहीं कहा जा सकता। मृच्छकटिक में विट, विदूषक एवं शकार पात्रों में एक रोचक मनोरञ्जन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार उल्लिखित यूनानी ग्रन्थ में भी ऐसे पात्र चित्रित किये गये हैं, यद्यपि दोनों नाटकों के पात्र मनोरञ्जन के हेतु ही समाविष्ट हैं, अन्य प्रकार की भिन्नता मिलने पर यूनानी नाटक का हमारे साहित्य पर प्रभाव सिद्ध नहीं होता।

संस्कृत नाटकों में ब्राह्मण विदूषक का भाग लेता है। नाटक में विदूषक का कार्य मनोरञ्जन होता है। यह कार्य प्रायः विद्वान् ब्राह्मण द्वारा ही क्यों सम्पादित होता है, जबकि साधारण कोटि का व्यक्ति भी यह कार्य कर सकता है? इसके अतिरिक्त यूनानी नाटकों में भी साधारण कोटि के मनुष्य मनोरंजन का कार्य नहीं करते थे। विदूषक का विद्वान् होना यूनानी आधार पर मानना ठीक नहीं, क्योंकि विद्वान् ही मनोरञ्जन में कुशल हो सकता है। उसका नाटक में प्राकृत भाषी होना केवल पात्रत्व का परिचायक है।

यूनान के नाटकों में पात्रों की संख्या न्यून है, जो कि भारतीय नाट्य प्रणाली के सर्वथा प्रतिकूल है। संस्कृत रूपकों में पात्रों की दीर्घ संख्या होती है। भास के उपलब्ध तेरह रूपकों में पात्रों की बहुलता पायी गयी है। इसके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तलम में ३०, मृच्छकटिक में २९, मुद्राराक्षस में

२४, विक्रमोर्वशीयम में १८ पात्र हैं। इससे भी विदित होता है कि भारतीय नाटक साहित्य का विकास विना किसी विदेशी प्रभाव के स्वतन्त्र रूप से ही हुआ।

नाटक के उद्भव में पाश्चात्य मत

डॉ० रिजवे नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण वीर पूजा को मानते हैं। उनका कहना है कि दिवंगत वीर पुरुषों की स्मृति में समय-समय पर जो सामूहिक सम्मान प्रदर्शित किया जाता था, उसी से नाटक का जन्म हुआ। ग्रीक और भारत में मृतवीरों के प्रति पूजाभाव प्रदर्शित करने के तरीके लगभग एक जैसे थे। भारत में रामलीला और कृष्णलीला इस प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

डॉ० रिजवे के विपरीत डॉ० कीथ का अभिमत है कि प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के समक्ष मूर्तरूप में प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति ने ही नाटकों को जन्म दिया। महाभारत में निर्दिष्ट कंसवध नाटक के सम्बन्ध में डॉ० कीथ का कहना है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य वसन्त ऋतु पर हेमन्त ऋतु की विजय दिखाना था और कृष्ण का विजय प्रसंग उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक मात्र था।

तीसरे जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल पुत्तलिकानृत्य से नाटक की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। डॉ० पिशेल के मतानुसार इस नृत्य का जन्मदाता भारत था और वहीं से विश्वभर में इसका प्रचार-प्रसार हुआ।

डॉ० कोनो छाया नाटकों से नाटकों का आरम्भ मानते हैं। किन्तु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में सुभट कवि का एकमात्र छाया नाटक 'दूताङ्गद' ही उपलब्ध होता है। अतः भारत के सम्बन्ध में यह मत अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

'मे-पोल' नृत्यों के आधार पर भी कुछ विद्वान् नाटकों का उदय मानते हैं। यह नृत्य पश्चिमी देशों में मई मास में बड़ी धूमधाम से होता है। भारत के इन्द्रध्वजोत्सव से इसकी बहुत समानता बैठती है।

आचार्य भरत का मत

आचार्य भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के आदि निर्माता हैं, जिनके सम्बन्ध में काव्यशास्त्र की आलोचना करते हुए यथास्थान पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। भरत के मतानुसार नाट्य नामक पञ्चम वेद तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। इसी प्रसंग की व्याख्या में उन्होंने बतलाया है कि नाट्यवेद के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, शक्ति, युद्ध, क्रीड़ा, हास्य आदि सभी बातों का समावेश रहता है। निष्कर्ष यह है कि नाट्यवेद में न केवल धर्मात्मा या ज्ञानियों की ही चर्चा रहती है या उसका निर्माण न केवल किसी विशिष्ट वर्ग के लिए किया गया है, वरन् कामुकों के लिए कामसेवन, दुर्विनीतों के लिए निग्रह सामग्री, क्लीबों के क्लीवत्व तथा शूर-वीरों के उत्साह की भी उसमें व्यवस्था रहती है, उसमें मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनिकों के विलास, दुःखार्तों के लिए आश्वासन, अर्थलिप्सुओं को अर्थोपलब्धि के उपाय, आर्तजनों के लिए त्राण आदि ऐसे विभिन्न विषयों का समावेश एक साथ रहता है, जिसमें असमान प्रकृति के लोग अपने-अपने भावों तथा अपनी-अपनी रुचियों, समस्याओं एवं अवस्थाओं का पूरा चित्र अपनी आँखों से देख सकें।

आचार्य भरत के मतानुसार सभी प्रकार के मनुष्यों का अनुकरण होने के कारण नाटक में सभी प्रकार का ज्ञान, शिल्प, विद्याएँ, कलाएँ और शास्त्र समन्वित रहते हैं। वह वेदविद्या है, इतिहास है और उसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा सबको विनोद प्रदान करने के साधन भी विद्यमान रहते हैं। जैसा कि कहा है –

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न विद्यते[१]।।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से विदित होता है कि आत्रेय आदि विभिन्न तपःपूत मनस्वियों तथा मुनियों द्वारा महामुनि भरत से यह पूछे जाने पर कि उन्होंने नाटक का निर्माण क्यों किया और उसमें क्या-क्या नवीनताएँ भरपूर हैं, महामुनि ने कहा – स्वायम्भुव मनु के सत्य युग के बीत जाने पर वैवस्वत मनु के त्रेतायुग में जब समस्त जन समाज काम-क्रोध आदि दुर्व्यसनों में लिप्त हो

---

१. ना०शा० १.१०९।

रहा था, तब समग्र देवों ने पितामह ब्रह्मा के पास जाकर इस दुरवस्था का हाल कह सुनाया और उनसे आग्रह किया कि जम्बूद्वीप के समस्त प्रजाजनों का दुःखमय एवं दुर्व्यसनपूर्ण जीवन जिस युक्ति से सुखमय तथा सदाचारशील बन सके एवं जिससे सभी वर्णाश्रमों के लोग समान रूप से एक स्थान पर बैठकर आनन्द प्राप्त कर सकें, हे प्रभो, वैसा उपाय निकालिए।

देवताओं की अभीष्टपूर्ति का संकल्प कर पितामह ने उन्हें वापस किया। तदनन्तर उन्होंने चारों वेदों का स्मरण किया और तब उन्हें एक ऐसे वेद की रचना करने की प्रेरणा सूझी, जिससे देवगण एवं मनुष्यगण सभी को धर्म, अर्थ और यश की उपलब्धि हो सके। ऐसी उपलब्धि कि जिसमें उपदेश भरे हों, जिसमें साथ-साथ इतिहास भी हो। ऐसा सर्वाङ्गीण शास्त्र नाट्यवेद होगा। जिसकी रचना सभी शास्त्रों के तत्त्व को मिलाकर की जायेगी, उसी से सुगमतापूर्वक सभी शिल्प प्रदर्शित किये जा सकेंगे – यह जानकर प्रजापति मन ही मन आनन्दविभोर हो उठे[१]।

सर्वशक्तिमान् जगत्पिता ब्रह्मा ने इस प्रकार की चिन्तना से 'नाटक' नामक पञ्चम वेद की रचना की और उसके अभिनय का पूरा भार महामुनि भरत को सौंप दिया। स्त्री-पात्रों के लिए अनिन्द्य सुन्दरी अप्सराओं की रचना की गयी, रंगशाला की साज-सज्जा का सारा दायित्व कलागुरु विश्वकर्मा ने स्वीकार किया। उसमें सर्वप्रथम 'असुरपराजय' फिर क्रमशः 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपुरदाह' आदि नाटक अभिनीत हुए।

नाट्यशास्त्र के इन उल्लेखों से पता चलता है कि भरत मुनि के समय में ही १. नट, २. नटी, ३. नृत्य, ४. वाद्य, ५. संगीत, ६. संवाद, ७. कथावस्तु और ८. रंगमंच आदि का भी निर्माण हो चुका था।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों की एक जैसी धारणाएँ, एक जैसे अनुसन्धान हैं। भरतमुनि ने नाटक का प्रयोजन जिन दुःखार्त्त, श्रमार्त एवं शोकार्त जनों की सन्तुष्टि के लिए बताया है, वही बात यूनान के युगद्रष्टा विद्वान् अरस्तू ने भी कही है।

अनुकृति नाटक की प्रेरणा का प्रधान उद्देश्य है। विद्वानों का अभिमत है

---

१. नाट्यशास्त्र, १.८.१८।

कि जिस दिन किसी बालक को खेल ही खेल में अपने किसी बड़े व्यक्ति के अनुकरण की कल्पना की, उसी दिन नाटक जन्म हुआ और तब से यह उत्तम कला निरन्तर विकास को प्राप्त होती गयी।

प्रेक्षागृह निर्माण में नाट्यशास्त्रकारों का मत

अत्यन्त प्राचीन काल में नाटक का अभिनय बाहर मैदान में आकाश के नीचे ही हुआ करता था, परन्तु नाना प्रकार के विघ्नों के उठ खड़े होने पर रंगमंच का आविर्भाव हुआ। नाट्यशास्त्र 'प्रेक्षागृह' का विवरण बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत करता है। प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे – विकृष्ट, चतुरस्त्र तथा व्यस्त्र। इनमें विकृष्ट भेद विस्तृत होता था, जिसमें देवताओं से सम्बद्ध दृश्य दिखलाये जाते थे। चतुरस्त्र स्पष्ट ही चौकाना होता था, परिमाण में मध्यम आकार का होता था और विशेषकर राजाओं के लिए निश्चित किया गया था। 'व्यस्त्र' तिकोने ढंग का प्रेक्षागृह था, जो मात्रा में सबसे छोटा तथा सामान्य प्रकृति के लिए विहित था। प्रेक्षागृहों के विधान के विषय में भरतमुनि बड़े ही वैज्ञानिक हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि प्रेक्षागृह का विस्तार में अधिक होना नितान्त अनुचित है; क्योंकि ऐसी दशा में उच्चारित शब्द स्पष्ट रूप से दर्शकों के कानों तक पहुँच नहीं सकता। 'सुश्रव्यता' नाट्य का प्रधान गुण है और इसकी सिद्धि मध्यम परिमाणवाले प्रेक्षागृहों के अस्तित्व पर ही आश्रित हो सकती है –

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम्।
अनाभिव्यक्तवर्णत्वाद् विस्तरत्वं भृशं व्रजेत्[१]।।

प्रेक्षागृह का आधा भाग तो दर्शकों के निमित्त सुरक्षित रखा जाता था और आधा भाग नटों के व्यवसाय के लिए निश्चित रहता था। इसमें भी आधा भाग 'रंगपीठ' कहलाता था, जिसके ऊपर अभिनय कार्य निष्पन्न होता था। सबसे पिछला भाग 'रंग-शीर्ष' के नाम से अभिहित होता था और यही नटों के लिए नेपथ्य विधान होता था। प्रेक्षागृहों के विभिन्न स्थानों पर नाना देवताओं की पूजा होती थी। सूत्रधार का वस्तुतः इन आवश्यक विधानों का सम्पादन ही मुख्य

---

१. ना०शा०–२.१९।

कार्य होता था। यह आरम्भिक पूजन 'पूर्वरंग' कहलाता था और यह एक विस्तृत व्यापार होता था, जिसका केवल अन्तिम अंश नान्दी के नाम से आज भी संस्कृत नाटकों में अवशिष्ट है। इस नान्दी के अनन्तर ही पात्र का प्रवेश होता था। पूर्वरंग के अवसान में श्रोताओं के हृदयावर्जन के लिए संगीत का यथावत् संविधान होता था और इस अवसर पर गायी जानेवाली गीति 'ध्रुवा' के नाम से विख्यात है। ध्रुवा गीति के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं – उत्थापनी, परिवर्ता, अपकृष्टा, अड्डिता तथा विक्षिप्ता। इनका गायन विशिष्ट स्वर में विशिष्ट ताल तथा मात्रा के योग से होता था।

भरत मुनि का आदेश है कि 'नाट्यमण्डप' पर्वत की गुफाओं के आकार का होना चाहिए, जिसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपर खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनाएँ प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था। खिड़कियाँ कम होनी चाहिए। वायु का संचार कम होना उचित है। ऐसा होने से उस मण्डप में गम्भीर शब्द हो सकता है। रंगमंच की रचना निर्वात में (विशेष हवादार जगहों में नहीं) होना चाहिए। नहीं तो आवाज गम्भीर नहीं होगी और शब्दों का श्रवण श्रोताओं को ठीक-ठीक नहीं हो सकेगा --

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपम्।
मन्दवातापनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्।।

दर्शकों के बैठने के लिए आसन का उचित प्रबन्ध होता है। आजकल के समान दर्शकों के बैठने के लिए उस समय की गैलरी या सीढ़ीनुमा आसन की व्यवस्था कम आश्चर्यजनक नहीं है। दर्शकों के बैठने के लिए सीढ़ी की तरह आसन होते थे (सोपानाकृति)। जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं और इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। निवेशनों की बनावट तथा व्यवस्था ऐसी होती थी कि कहीं पर बैठकर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भली-भाँति किया जा सकता था। यह बात बड़े महत्त्व की है और प्राचीन आचार्यों की व्यावहारिक बुद्धि का विशेष परिचायक है –

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्।।
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः ।
रंगपीठावलोक्यं तु कुर्यादाखनजं विधिम्।।

भारत का प्राचीन रंगमंच यथार्थवादी होते हुए भी आदर्शवादी था। वहाँ घृणोत्पादक या उद्वेगजनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। रंगपीठ पर भोजन तथा शयन, युद्ध तथा आक्रमण आदि का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े और हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय घास फूस के बने पदार्थों को चाम से मढ़कर घोड़े या हाथी का रूप बनाकर रंगमंच पर दिखलाने की प्रथा थी। भारतीय रंगमंच के प्रभाव का बृहत्तर भारत की रंगशाला पर पड़ना कोई अचरज की चीज नहीं है। कम्बोज, जावा तथा स्याम की रंगशालाएँ ठीक भारतीय रंगशाला के समान होती थीं। आज भी जावा में छाया नाटकों का (जिन्हें वहाँ 'वयंग' कहते हैं) बहुत प्रचार है, जो भारत के 'पुत्तलिका नृत्य' के समान ही प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार जावा का साहित्य नाटकों के विषय तथा प्रकार के समान अभिनय तथा प्रयोग के लिए भी भारतवर्ष का चिर ऋणी रहेगा।

रूपकों का स्वरूप

पाठकों को एक अनुपम अनुभूति का रसास्वादन कराने के अतिरिक्त रूपक जो अभिनय का पुट प्रस्तुत करता है, उससे दर्शक नटों में ऐतिहासिक पात्रों का साक्षात्कार कराने में समर्थ होते हैं। रूपक की परिभाषा बताते हुए साहित्यदर्पणकार ने '**रूपारोपात्तु रूपकम्**' अर्थात् अभिनय अथवा रूप के आरोप को ही रूपक कहा है, यथा नट पर अनुकार्य राम, दुष्यन्त आदि का आरोप होता है। दशरूपककार धनञ्जय ने '**अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्**' अर्थात् अवस्था की अनुकृति को ही नाट्य बताया है, जो मानसिक अधिक होती है। अरस्तू ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है – नाटक वह काव्य है, जिसमें कार्यविशेष का अनुकरण गम्भीरता के साथ किया गया हो तथा आकृति स्वतः पूर्ण एवं विवरण चित्ताकर्षक हो। प्रसन्नोत्पादक उपकरणों से भाषा का इसमें समावेश किया जाता है। करुणा, भय एवं उल्लास व्यक्त करने वाले भावों का

परिष्कार करना ही नाटककार का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इस परिभाषा के अनुसार नाटक में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश करना परमावश्यक है – १. गाम्भीर्य, २. स्वतःपूर्णता, ३. अलङ्कारपूर्ण भाषा, ४. वर्णन के स्थान में अभिनयात्मकता, ५. करुणा एवं भय उत्पन्न करने वाली घटनाएँ, ६. उद्देश्य रूप से भावों का परिष्कार।

अरस्तू के उपर्युक्त विश्लेषणानुसार दुःखान्त नाटक या 'ट्रेजडी' ही सर्वोत्तम नाटक का प्रतिनिधि है। अरस्तू के समय में यूनान की नाट्यकला अपनी शैशवावस्था में ही विद्यमान थी, जिस कारण अरस्तू ने भ्रान्तिवश अपने ऐसे विचार प्रकट किये। जैसा कि ऊपर संस्कृत नाटकों के सुखान्त होने के विषय में बताया जा चुका है, सुखान्त होने का ही पाठकों या दर्शकों के हृदय पर असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। इस पर अरस्तू का उपर्युक्त कथन अत्यन्त सन्देहपूर्ण है।

रूपक केवल पाठकों और दर्शकों के हृदयों में रस का संचार कर उनके आनन्दवर्धन एवं मनोरञ्जन तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु उनमें अनेक ओजोमय गुणों का भी समावेश करता है। उसका अभिनय दुःखपूर्ण जगत् में कितना लाभदायक हो सकता है, इस विषय में आचार्य भरत का मत है –

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिरर्थः क्वचिच्छ्रमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः[१]।।

इस अपूर्व नाट्य साहित्य में कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा है। राजनीति एवं अर्थनीति का भी समावेश है। कहीं श्रम है, कहीं हँसी, कहीं युद्ध, काम अथवा वध का भी मनोरम निरूपण है।

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया[२]।।

यह नाट्य-साहित्य प्रतिकूल वृत्तिवाले लोगों की मानसिक व्यथा को शान्त कर अनुकूल वातावरण को उत्पन्न करने वाला है। विद्वानों को भी

---

१. ना०शा० १.१०८।

२. ना०शा० १.१०९।

धर्माचरण करने में सहायता प्राप्त होती है। कामी पुरुषों का काम एवं ढीठ लोगों की ढिठाई इसी की सहायता से शान्त होती है। मत्त पुरुषों का दमन करना ही इसका एक विशेष गुण है।

क्लीबानां धाार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबोधानां विबोधश्च वैदग्ध्यं विदुषामपि[१]।।

इसके प्रभाव से पुरुषत्वविहीन नपुंसक लोगों में भी एक उत्साह एवं स्फूर्ति उत्पन्न होती है। वीरों को अपूर्व धैर्य प्राप्त होता है। अज्ञानी लोग भी विशेष ज्ञान को प्राप्त करते हैं। विद्वानों की भी चतुराई वृद्धि को प्राप्त हो सकती है।

यह अपूर्व नाटक साहित्य भविष्य में किस प्रकार के क्लेशों का विनाश करने में उपयोगी होगा, इस विषय में भरत का मत है –

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्[२]।।

यह मेरे द्वारा रचा हुआ अद्भुत नाट्यशास्त्र नाना प्रकार के दुःखों से दुःखी एवं शोकसन्तप्त संसारवासियों के लिए उचित समय पर विश्राम देने वाला होगा। भरत मुनि की यह वाणी सत्य ही एक भविष्यवाणी सिद्ध हुई। जब क्लेशों से पीड़ित एवं सन्तप्त मनुष्य नाटक का अवलोकन करता है, तो उसकी समस्त थकान मिट जाती है।

इस नाट्य साहित्य की रोचकता एवं भावुकता से प्रभावित होकर ही मुनि ने इसको पञ्चम वेद कहा है –

तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।।

भगवान् ब्रह्मा से यह प्रार्थना करते हुए मुनि कहते हैं कि हे भगवान्! अब आप एक ऐसे पाँचवें वेद का निर्माण करें, जिससे साधारण ज्ञानी पुरुष, शूद्र एवं स्त्रियाँ भी निःसंकोच भाव से उसका रसास्वादन कर सकें।

---

१. ना०शा० १.११०।

२. ना०शा० १.११४।

रूपकों का प्रकार

रूपकों की भिन्नता तीन तत्त्वों पर निर्भर होती है – १. वस्तु, २. नेता, ३. रस। इन्हीं तीन तत्त्वों के आधार पर रूपक के १० भेद किये गये हैं, जिसका उल्लेख साहित्य दर्पणकार ने इस प्रकार किया है –

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश[1]।।

अर्थात् नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी एवं प्रहसन – ये दश रूपक कहलाते हैं। इसी प्रकार उन्होंने उपरूपक के भी अट्ठारह भेद प्रदर्शित किया है। यथा –

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च।।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्[2]।।

इन सब रूपक एवं उपरूपकों का लक्षण कुछ विशेषताओं को छोड़कर नाटक की तरह ही होता है। इनका विशेष लक्षण कहा जाता है।

नाटकस्वरूप विमर्श

नाटक की कथावस्तु इतिहास तथा पुराण में प्रसिद्ध होनी चाहिए। पाँचों सन्धियों का विकास होना चाहिए। अंकों की संख्या ५ से लेकर दस तक होनी चाहिए। नायक धीरोदात्त होता है और वीर या शृङ्गार की मुख्यता रहती है। वृत्ति सात्त्वती या आरभटी होती है। साहित्यदर्पण में आगत नाटक के लक्षण पर दृष्टिपात करें –

---

१. सा०द० ६.३।

२. सा०द० ६.४–६।

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।।
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः।।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतम्।।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्[१]।।

अर्थात् नाटक का वृत्त (कथा) ख्यात अर्थात् रामायण महाभारत आदि इतिहास में प्रसिद्ध होना चाहिए। जो कथा केवल कविकल्पित है, इतिहासप्रसिद्ध नहीं, वह नाटक में नहीं हो सकती। नाटक में विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। सुख और दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाय और अनेक रसों से उसे पूर्ण होना चाहिए। इसमें पाँच से लेकर दस तक अङ्क होते हैं। पुराण आदि में प्रसिद्धवेश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है। यहाँ धीरोदात्त पद धीरोद्धत, धीर ललित आदि का भी उपलक्षण है। शृङ्गार या वीर में से कोई एक रस यहाँ प्रधान रहता है – अन्य सब रस अङ्गभूत रहते हैं। इसे निर्वहण सन्धि में अत्यन्त अद्भुत गुण बनाना चाहिए। इसमें चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में व्यापृत रहना चाहिए। साथ ही गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए।

सुख–दुःख की घटनाएँ श्रीराम आदि के चरित्रों में स्पष्ट हैं। दिव्य = श्रीकृष्ण आदि। दिव्यादिव्य अर्थात् जो दिव्य होने पर भी अपने को अदिव्य (मनुष्य) समझे, जैसे श्रीराम आदि। गोपुच्छाग्रसमाग्रम्' का कोई तो यह अर्थ करते हैं कि नाटक में क्रम से उत्तरोत्तर अङ्कों को छोटा बनाना चाहिए। अन्य

---

१. सा०द० ६.७–११।

लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि जैसे गौ की पूँछ में कुछ बाल छोटे होते हैं, कुछ बड़े, इसी प्रकार कुछ आगे पहुँचकर समाप्त होने चाहिए। वस्तुतः गोपुच्छाग्रसमाग्रम् का यह अर्थ है कि गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान नाटक का अग्रभाग होना चाहिए। अर्थात् जैसे गौ की पूँछ के अग्रभाग में दो ही एक बाल सबसे बड़ा दीखता है, इसी प्रकार नाटक के आरम्भ में भी एकाध व्यापक बात से आरम्भ होना चाहिए और गोपुच्छ के बालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ कर एक स्थान पर समन्वित हो जाती है, इसी प्रकार नाटक की बातों में भी होना चाहिए। क्रम से परिवृद्ध सब कथाओं का एक उपसंहार में समन्वय होना चाहिए।

प्रकरणस्वरूप विमर्श

प्रकरण का वस्तु कविकल्पित, सन्धि पाँच, नायक धीरप्रशान्त, नायिका कुलवती या वेश्या, रस शृङ्गार, वृत्ति कैशिकी, अङ्क पाँच से लेकर दस तक, नायक अमात्य, विप्र या वणिक् में कोई एक होना चाहिए। साहित्यदर्पणकार प्रकरण का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं –

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
श्रृंगारोऽङ्गी नामकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।।

तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसङ्कुलः[१]।।

अर्थात् प्रकरण में कथा लौकिक, कविकल्पित होती है, इतिहासप्रसिद्ध नहीं होती। इसमें प्रधान रस शृङ्गार होता है और नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होता है। यह नायक विघ्नपूर्ण धर्म, अर्थ और काम में तत्पर, धीरप्रशान्त होता है। ब्राह्मण नायक जैसे मृच्छकटिक में चारुदत्त, अमात्य मालतीमाधव में और वैश्य नायक पुष्पभूषित में। प्रकरण में कहीं तो कुलकन्या ही नायिका होती है, कहीं वेश्या और कहीं दोनों होती हैं अतः इसके तीन भेद होते हैं। इनमें तीसरा भेद धूर्त, जुआरी, विट, चेटादि से व्याप्त होता है। कुलस्त्री 'पुष्पभूषित'

---

१. सा०द० ६.२२४-२२७।

में नायिका है, वेश्या रङ्गवृत्त में और दोनों मृच्छकटिक में हैं। पहले यह कहा गया है कि **'विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्'** अतः प्रकरण में अनुक्त सब बातें नाटक के समान जानना चाहिए।

भाणस्वरूप विमर्श

भाण का वस्तु कल्पित, जिसमें धूर्त के चरित्र का विशेष वर्णन रहता है, मुख तक निर्वहण सन्धि, धूर्त्त या विट नायक, वीर तथा शृङ्गार रस, अङ्क एक ही, भारती या कैशिकी वृत्ति, एक ही पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग होता है। साहित्यदर्पण में प्रयुक्त भाण के लक्षण का अवलोकन करें –

भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।।
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।
रङ्गे: प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः।।
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च[१]।।

अर्थात् भाण धूर्त्तों के चरित्र से युक्त अनेक अवस्थाओं से व्याप्त और एक ही अङ्क का होता है। इसमें अकेला विट, जो निपुण और पण्डित होता है, रङ्ग में अनुभूत अपनी या अन्यों की बातों को प्रकाशित करता है। सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति 'आकाशभाषित' के द्वारा होती है। सौभाग्य और शौर्य के वर्णन से वीर और शृङ्गार रस का सूचन किया जाता है। यहाँ कथा कल्पित होती है और वृत्ति प्रायः भारती (कहीं-कहीं कैशिकी) होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं तथा दसों लास्याङ्ग होते हैं। लास्याङ्ग गेय पदादिक कहे गये हैं। भाण का उदाहरण 'लीलामधुकर' को कहा जा सकता है।

---

१. सा०द० ६.२२७-२३०।

प्रहसन–स्वरूप-विमर्श

प्रहसन का वस्तु कल्पित, मुख तथा निर्वहण सन्धि, पाखण्डी, कामुक, धूर्त्त आदि पात्र, रस हास्य, अङ्क एक ही तथा विष्कम्भक और प्रवेशक से रहित होता है। साहित्यदर्पण में प्रयुक्त प्रहसन का लक्षण देखें –

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्।।
अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा।
तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः।।
एको यत्र भवेद् धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते।
आश्रित्य कञ्चन जनं सङ्कीर्णमिति तद्विदुः।।
वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे।
तत्पुनर्भवति द्व्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम्[१]।।

अर्थात् भाण के समान सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्कों के द्वारा सम्पादित, निन्दनीय पुरुषों का कविकल्पित वृत्तान्त प्रहसन कहलाता है। इसमें न आरभटी वृत्ति होती है, न विष्कम्भक और न प्रवेशक। इसमें हास्यरस प्रधान होता है। कहीं वीथ्यङ्ग होते हैं, कहीं नहीं भी होते। जहाँ तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण आदिकों में कोई एक धृष्टनायक हो, उसे शुद्ध हास्य जानना चाहिए। जैसे कन्दर्पकेलि। किसी अधृष्ट पुरुष का आश्रय (नायकत्वेन) होने से सङ्कीर्ण हास्य होता है। कोई बहुत धृष्टों के चरित को सङ्कीर्ण कहते हैं। इस प्रहसन में एक या दो अङ्क होते हैं। जैसे लटमेलकादि। भरत मुनि ने सङ्कीर्ण का लक्षण करते हुए कहा है कि जहाँ वेश्या, चेट, नपुसंकादिकों के वेष तथा चेष्टादि अविकृत हो, वह सङ्कीर्ण प्रहसन कहलाता है। जैसा कि उन्होंने कहा है –

वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः।
अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम्।।

---

१. सा०द० ६.२६४–२६७।

जहाँ नपुंसक, कञ्चुकी और तापस लोग, कामुक, वन्दी और योद्धाओं के वेष वाणी आदि का अनुकरण करें, वह विकृत प्रहसन होता है। वह सङ्कीर्ण के ही अन्तर्गत है, अतः इसे भरतमुनि ने पृथक् नहीं कहा।

डिम–स्वरूप-विमर्श

डिम में पौराणिक वस्तु, चार अङ्क, विमर्श से हीन चार सन्धियों में विभक्त कथानक, धीरोदात्त सोलह नायक (देव यक्ष, गन्धर्व आदि); रौद्ररस, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति, माया, इन्द्रजाल की चेष्टाएँ होती हैं। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होता। शृङ्गार तथा हास्य का अभाव होता है, इसीलिए कैशिकी वृत्ति का अभाव होता है। त्रिपुरदाह नामक रूपक डिम ही था, जिसके प्रयोग से नाटक का आरम्भ माना जाता है। साहित्यदर्पणकार के शब्दों में डिम का लक्षण देखें –

मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेति वृत्तकः।।
अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ।।
नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः।।
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः।
दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः[१]।।

अर्थात् जिसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध हो, वह माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध और उन्मत्तादिकों की चेष्टाओं तथा उपरागों (सूर्य–चन्द्रग्रहण) के वृत्त से व्याप्त रूपक डिम कहलाता है। इसमें रौद्ररस अङ्गी होता है और सब अङ्ग होते हैं। इसमें अङ्क चार होते हैं। विष्कम्भक तथा प्रवेशक नहीं होते। देवता, गन्धर्व, यज्ञ, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच आदिक अत्यन्त उद्धत सोलह नायक इसमें होते हैं। कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ तथा शान्त, हास्य और शृङ्गार

---

१. सा०द० ६.२४१–२४४;

को छोड़कर दीप्त छः रस इसमें होते हैं। इसका उदाहरण भरतमुनि ने 'त्रिपुरदाह' को उपस्थापित किया है।

व्यायोग–स्वरूप-विमर्श

व्यायोग में पौराणिक वस्तु, गर्भ और विमर्श रहित तीन सन्धियाँ, धीरोद्धत नायक, एक अङ्क, हास्य तथा शृङ्गार से रहित छः रस सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति होती है। इसमें स्त्री के कारण युद्ध नहीं होता तथा एक दिन का चरित दिखलाया जाता है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः।।
एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः।
कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः।।
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।
हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः[1]।।

अर्थात् व्यायोग में कथा इतिहासप्रसिद्ध होती है। स्त्रियाँ थोड़ी होती हैं। गर्भ और विमर्श सन्धियों से हीन तथा बहुत पुरुषों से आश्रित होता है। इसमें अङ्क एक ही होता है और स्त्री के कारण युद्ध नहीं होता। कैशिकी वृत्ति इसमें नहीं होती। इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। हास्य, शृङ्गार, शान्त रस से अन्य कोई रस यहाँ प्रधान होता है। व्यायोग के लिए सौगन्धिकाहरण को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

समवकार–स्वरूप-विमर्श

समवकार में दैत्य-दानवों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक कथा, विमर्श सन्धि से रहित चार सन्धियों की स्थिति, तीन अङ्क, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के बारह नायक, वीररस, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्ति होती है। साहित्यदर्पण के अनुसार समवकार का लक्षण का अवलोकन करें –

---

१. सा०द० ६.२३१-२३३।

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।
सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे।।
सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः।।
फलं पृथक्पृथक् तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ।।
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश।
गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च।।
त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः।
वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम्।।
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके[१]।

अर्थात् समवकार में देवता और असुरों के सम्बन्ध की इतिहास पुराण आदि प्रसिद्ध कथा निबद्ध की जाती है। विमर्श के अतिरिक्त चार सन्धि एवं तीन अङ्क होते हैं। उनमें से प्रथम अङ्क में दो सन्धियाँ और दूसरे, तीसरे अङ्कों में एक-एक सन्धि होती है। बारह उदात्त (धीरोदात्त) नायक, देवता और मनुष्य यहाँ निबद्ध होते हैं। उन सब (नायकों) का फल पृथक् होता है। जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि को प्राप्ति हुई है। इसमें वीररस मुख्य होता है और सब गौण। वृत्तियाँ कैशिकी को छोड़कर अन्य होती हैं। बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते। किन्तु यथासम्भव तेरह वीथ्यङ्ग होते हैं। गायत्री, उष्णिक्, आदि अनेक प्रकार के छन्द होते हैं। तीन प्रकार का शृङ्गार (धर्म शृङ्गार, अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार), तीन प्रकार का कपट (स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज) और तीन प्रकार का विद्रव (शङ्का, भयादिकृत, सम्भ्रम) इसमें होना चाहिए। प्रथम अङ्क की कथा ऐसी होनी चाहिए जो बारह नाड़ियों से सम्पादित हो सकती हो। दूसरे अङ्क की कथा चार नाड़ी में और तीसरे की दो नाड़ी की हो (दो घड़ी की एक नाड़ी होती है)।

---

१. सा०द० ६. २३४-२३९।

यहाँ तीन प्रकार का शृङ्गार बतलाया गया है। शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन न करके जो प्रवृत्त हो, उसे धर्मशृङ्गार कहते हैं। जो धन के लिए प्रवृत्त हो, उसे अर्थशृङ्गार और जो काम के अनुगुण हो, वह कामशृङ्गार कहलाता है। चेतन, अचेतन और चेतनाचेतनों से किया हुआ तीन प्रकार का विद्रव होता है। जो कुछ चेतन और अचेतन हों, उन्हें चेतनाचेतन कहते हैं – जैसे हाथी आदि। चेतन मनुष्य आदि और अचेतन अग्नि आदि को विद्रवकारक जानना चाहिए। जिसमें बहुत प्रकार के अर्थ समवकीर्ण निबद्ध हों, उसे समवकार कहते हैं। जैसे समुद्रमन्थन आदि।

वीथीस्वरूप विमर्श

वीथी में कल्पित वस्तु, एक अङ्क, शृङ्गारप्रिय नायक, शृङ्गाररस, कैशिकी वृत्ति होती है। साहित्यदर्पणोक्त वीथी का लक्षण देखें –

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्पते।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः।।
सूचयेद् भूरिशृङ्गारं किञ्चिदन्यान् रसान् प्रति।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः[१]।।

अर्थात् वीथी में एक ही अङ्क होता है और कोई एक पुरुष – उत्तम, मध्यम या अधम – नायक कल्पित कर लिया जाता है। आकाशभाषित के द्वारा विचित्र उक्ति–प्रत्युक्ति होती है। शृङ्गार की बहुलता रहती है। कुछ–कुछ अन्य रस भी सूचित होते हैं। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं, किन्तु अर्थप्रकृतियाँ सब होती हैं। शृङ्गार की अधिकता के कारण कैशिकी वृत्ति प्रधान रहती है।

अङ्कस्वरूप विमर्श

अङ्क में प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, मुख और निर्वहण सन्धि, प्राकृत पुरुष नायक, अङ्क एक, करुणरस, सात्त्वती वृत्ति, वाग्युद्ध और निर्वेद वचन की सत्ता होती है। साहित्यदर्पणोक्त अङ्क का लक्षण अवलोकनीय है –

---

१. सा०द० ६.२५३–२५४।

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः।।
रसोऽत्र करुण स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम्।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्।।
भाणवत्सन्धिवृत्त्याङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।
युद्धं च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु[१]।।

अर्थात् 'उत्सृष्टिकाङ्क' अथवा 'अङ्क' में एक ही अङ्क होता है। इसमें साधारण पुरुष नायक होते हैं। स्थायी रस करुण होता है, स्त्रियों का विलाप बहुत होता है। कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। उसी को कवि अपनी बुद्धि से विस्तीर्ण कर देता है। सन्धि, वृत्ति और अङ्क इसमें भाण के समान होते हैं। इसमें जय और पराजय भी वर्णित होते हैं। वाक्कलह और निर्वेद के बहुत से वचन होते हैं। अङ्क नाटकों में भी होते हैं। उनसे भिन्नता दिखलाने के लिए ही कुछ लोग इसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' कहते हैं। अन्यों का मत है कि इसमें सृष्टि 'उत्क्रान्त' अर्थात् विपरीत रहती है, अतः इसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' कहते हैं। इसका उदाहरण 'शर्मिष्ठाययाति' है।

ईहामृगस्वरूप विमर्श

ईहामृग में मिश्रित कथावस्तु, चार अङ्क, गर्भ और विमर्श से रहित तीन सन्धियाँ, धीरोदात्त नायक, शृङ्गाररस, प्रतिनायक धीरोद्धत होता है। मृगी के समान अलभ्य कामिनी की इच्छा होने से इसका विशिष्ट नामकरण किया गया है। साहित्यदर्पण में प्रतिपादित ईहामृग का लक्षण द्रष्टव्य है –

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः।
मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा।।
नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ।
ख्याता धीरोद्धातावन्या गूढ़भावाद्युक्तकृत्।।
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत्।।

---

१. ६.२५०-२५२।

पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः।
युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते।।
महात्मानो वधप्राप्ता अपि बध्याः स्युरत्र नो।
एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः।।
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे[१]।

अर्थात् जिसकी कथा मिश्रित अर्थात् कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित हो, जिसमें चार अङ्क और मुख, प्रतिमुख निर्वहण ये तीन सन्धियाँ हों, उसे ईहामृग कहते हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य अथवा देवता होते हैं। अन्य अर्थात् प्रतिनायक प्रच्छन्न रीति से पापाचरण करता है। इसमें अनासक्त किसी दिव्य नारी को अपहार (हरण) आदि के द्वारा चाहते हुए प्रतिनायक का श्रृङ्गाराभास भी कुछ-कुछ दिखाना चाहिए। दिव्य अथवा मनुष्य दस उद्धत पुरुष पताका के नायक होते हैं। अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होकर युद्ध की पूरी तैयारी तो होती है, किन्तु किसी बहाने वह टल जाता है। महात्मा लोग बधार्ह होने पर भी इसमें मारे नहीं जाते – छूट जाते हैं या छोड़ दिये जाते हैं अथवा प्रतिनायक वध इतिहासादि प्रसिद्ध होने पर भी इसमें नहीं दिखाया जाता। इसमें एक ही अङ्क रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ एक देवता ही नायक होता है, परन्तु अन्यों का मत है कि छः नायक होते हैं और दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होता है। इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी को नायक चाहता है, अतः इसे ईहामृग कहते हैं।

नाटिका में नाटक तथा प्रकरण का मिश्रण रहता है। वस्तु कल्पित होती है तथा नायक धीरललित, रस श्रृङ्गार तथा कैशिकी वृत्ति, अङ्क चार। स्त्रियों का आधिक्य होता है। प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर यह नाटिका ही सट्टक का नाम धारण करती है।

रूपक के ये ही मुख्य भेद होते हैं, जिनमें नाटक सबसे प्रसिद्ध होता है। इसके बाद प्रकरण, प्रहसन तथा नाटिका मुख्य रूपक माने जा सकते हैं।

---

१. सा०द० ६.२४५-२५०।

रूपकों के भेद का तात्त्विक हेतुनिरूपण

रूपकों की भिन्नता तीन तत्त्वों पर निर्भर होती है – १. वस्तु, २. नेता, ३. रस। वस्तु से अभिप्राय है कथानक या नाटकीय आख्यान, इतिवृत्त। अधिकारी, अभिनय तथा संवादादि के भेद से वस्तु के अनेक भेद हो सकते हैं।

वस्तु का भेद

संस्कृत के आचार्यों ने अधिकारी क़ी दृष्टि से वस्तु के दो भेद किये हैं – आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक का फल अधिकार कहलाता है और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक अधिकारी। अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक कहलाती है। वह तो नाटक की मुख्य कथा होती है, परन्तु नाटक में ऐसी अन्य भी कथाएँ भी हुआ करती हैं, जो गौण हुआ करती हैं और विशेष स्थिति में मूल कथा को सहायता पहुँचाया करती हैं। इन्हें ही प्रासंगिक कथा कहते हैं। ये प्रासंगिक कथाएँ भी दो प्रकार की हो सकती हैं – बड़ी कथा जो दूर तक चलती रहती है और मूलकथा में बहुत ही अधिक सहायता और योग दिया करती है और छोटी-छोटी कथाएँ जो किसी विशेष अवसर पर आकर और मुख्य कथा की सहायता कर समाप्त हो जाती हैं। इनमें से पहिली को पताका और दूसरी को प्रकरी कहते हैं।

एक उदाहरण लीजिये। राम कथा के ऊपर विरचित नाटक संस्कृत में बहुत ही अधिक हैं। इनमें राम तथा रावण का युद्ध 'आधिकारिक' वस्तु है। सुग्रीव का चरित नाटक के लिए बहुत जरूरी होता है और बहुत दूर तक मूल कथा का अनुवर्तन भी करता है। फलतः उसे पताका के नाम से पुकारते हैं। श्रवणा नामक तापसी का वृत्तान्त अल्प है और मूल कथा का सामान्यतः सहायक है। अतः वह प्रकरी कहा जायेगा।

अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं – वाच्य और सूच्य। ऊपर जिसका विचार किया गया है, वह कथा वाच्य कहलाती है। नाटक में समग्र घटनाओं के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। कार्य की सिद्धि के लिए उनमें परिष्कार करना, काट-छाँट करना आवश्यक होता है। जो घटनाएँ कार्य की सिद्धि से सीधा लगाव या सम्बन्ध नहीं रखतीं, काट-छाँटकर अलग करना तो पड़ता है, परन्तु कथा को अखण्ड बनाये रखने के लिए उनकी सूचना तो

अवश्य ही दी जाती है। ऐसी ही घटनाएँ सूच्य कहलाती हैं। इन्हीं का शास्त्रीय नाम है –अर्थोपक्षेपक, जो संख्या में पाँच होते हैं – १. विष्कम्भक, २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अङ्कावतार, ५. अङ्कास्य।

संवाद के विचार से भी कथा के विभाग किये जाते हैं। ये तीन होते हैं – सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति को यदि रंगशाला में उपस्थित सब पुरुष सुनें, तो इसे सर्वश्राव्य कहते हैं। यदि उनमें से कुछ ही लोग सुनें, तो उसे नियतश्राव्य कहते हैं। यदि कहने वाला ही पात्र अपनी उक्ति सुनता है और दूसरे लोग उसे नहीं सुनते हैं या उनके सुनने के अधिकारी नहीं होते हैं, तो इसे 'अश्राव्य' कहते हैं। इस अश्राव्य को ही 'स्वगतकथन' कहा जाता है। 'नियतश्राव्य' के दो भेद होते हैं – जनान्तिक और अपवारित। इस प्रकार संस्कृत के नाट्यशास्त्री विद्वान् इस बात पर भी गहरा विचार करते थे कि यह उक्ति सबके सुनने योग्य है कि नहीं; परन्तु आजकल की दृष्टि में 'सर्वश्राव्य' को छोड़कर शेष दोनों भेद उपयोगी नहीं माने जाते। यदि स्वगतकथन की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करते हुए दिखलाई पड़ता है। जब रंगमंच के ऊपर उसे छोड़कर दूसरा पात्र उपस्थित नहीं रहता। इसलिए इसे 'एकान्त कथन' (सालिलाकी) कहते हैं।

इस प्रकार संस्कृत के नाट्यकर्ताओं ने नाना दृष्टियों से नाटक कथानक (वस्तु) का विचार प्रस्तुत किया है।

नेता – नेता के वर्णन के भीतर नायक तथा उसके परिकर का भी समावेश किया जाता है। नेता में शोभन गुणों की सत्ता अनिवार्य है। नायक तथा नायिका के कतिपय ढाँचे पहिले से बने–बनाये उपलब्ध होते हैं, जिनके भीतर प्रत्येक नाटक का नेता रखा जा सकता है। नेता के चार प्रधान भेद होते हैं – १. धीरोदात्त, २. धीरललित ३. धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत। धीरोदात्त प्रकृति का नायक प्रायः राजा या राजकुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति होता है। वह अभिमानशून्य, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा विनयी होता है।

भरतमुनि ने पात्रों की प्रकृति के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा है – उत्तम प्रकृति, मध्यम प्रकृति तथा अधम प्रकृति। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। स्वभाव

के अनुसार ये तीन भेद हैं और इस प्रकृति के अनुसार ही उनके व्यापार होते हैं। उत्तम प्रकृति वाला पुरुष सदा उदात्त व्यापारों में ही आसक्त होता है। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिससे उसकी गम्भीरता तथा सहानुभूति को कोई धक्का पहुँचे। मध्यम प्रकृतिक पुरुष का कार्य साधारण लोगों का व्यापार होता है। अधम प्रकृतिवाला पुरुष स्वभाव से ही नीचे की ओर जाने वाला होता है। वह नीचों के साथ बैठता-उठता है, काम-धन्धा करता है। उधर ही उसकी चित्तवृत्ति का रुझान होता है। एक बार जिस पात्र की जो भी प्रकृति स्वीकृत कर ली जाती है, उसे पूरे नाटक में उसी प्रकार निर्वाह करना पड़ता है। उसकी बोल-चाल, भाषण-वचन सब उसकी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।

उदाहरण के लिए अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में कालिदास ने महर्षि कण्व को उनकी उदात्त प्रकृति के अनुसार ही चित्रित किया है। वे उत्तम प्रकृति के पात्र हैं। फलतः उनका प्रत्येक कार्य, भाषा तथा भाव, कथन तथा आचरण सब कुछ उसी के अनुरूप है। वे वैदिक ऋषि हैं। इसके लिए उनके द्वारा प्रयुक्त उपमाओं में वैदिक यज्ञ-याग की सुगन्धि आती है। जब शकुन्तला की राजा दुष्यन्त के प्रति प्रेमभावना का पता उन्हें मिलता है, तब वे कह उठते हैं – धूम से आकुलित दृष्टि होने पर भी सौभाग्य से यजमान की आहुति ठीक अग्नि में ही पड़ी। यह उपमा यज्ञ से सम्बन्ध रखती है। उनके मुख से आशीर्वादवचन भी वैदिक छन्द के द्वारा अवतीर्ण किये गये हैं। यह सब कुछ उनकी उत्तम प्रकृति के अनुरूप ही निबद्ध किया गया है।

इसी प्रकार विदूषक का चरित्र उसकी हास्य प्रकृति के अनुरूप ही है। वह भोजनभट्ट है। भोजन में अत्यासक्ति उसकी प्रधान रुचि है और अपने वचनों से दर्शकों के हृदय में हास्य उत्पन्न करना उसका मुख्य कार्य है। जब वह बातचीत करता है, तब वह अपने प्रिय विषय भोजन को कभी भुलाता ही नहीं। कालिदास की एतद्विषयक उक्ति बड़ी सुन्दर है – **सर्वदा औदरिकस्य अभ्यवहार्यमेव विषयः** – उदरभक्त पेटू पुरुष के लिए खाना-पीना ही हमेशा बातचीत का विषय हुआ करता है। इसलिए जब विदूषक पूर्णिमा की रात को चन्द्रोदय होते देख कह उठता है कि नीले आकाश में उगने वाला पूर्ण चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता है, मानों नीलम के पात्र में रखा हुआ बनारसी मक्खन का गोला, तब हम कवि की सहृदयता पर रीझे बिना नहीं रह सकते। इसी प्रकार

विद्धशालभञ्जिका नाटिका का विदूषक सिन्धुवार के फूलों की उपमा सफेद भात के दानों के साथ देता है। यह कथन अपने औचित्य के कारण दोनों कार्य करता है – लोगों में हास्य रस भी उत्पन्न करता है तथा विदूषक की हास्यमयी प्रकृति को भी अभिव्यक्त करता है।

रंगमंच के ऊपर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के स्वरूप में भी भेद किया जाता है। नट, भरत तथा शैलूष –इन तीनों का काम अभिनय करना ही है। परन्तु कार्यों में वैलक्षण्य भी है। जो लोग रस और भाव से युक्त भूतकाल की कथा को स्वाभाविक रीति से अभिनीत करते हैं, वे **नट** कहलाते हैं। भरत केवल दूसरे के वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओं का अनुकरण भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियों के साथ करता है। अतः भरत का कार्य नट की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली होता है। जो वर्तमान काल के लोगों के चरित्र की भूमिका (पार्ट) ग्रहण कर दिखलाता है, वह **शैलूष** (नकल उतारने वाला) कहलाता है। इस प्रकार अन्य पात्रों के रूप तथा कार्य का वर्णन बड़ी सुन्दरता से शारदातनय ने 'भाव प्रकाशन' नामक अपने ग्रन्थ में किया है।

इस प्रकार भरतमुनि तथा शारदातनय आदि नाट्यकारों ने पात्रयोजना के विषय में बड़ी गम्भीर तथा उपादेय बातें लिखी हैं, जिनका अनुशीलन आज के युग में भी किसी प्रकार कम उपयोगी तथा कम महत्त्वशाली नहीं है।

संवादों के द्वारा ही नाटक का कथानक आगे बढ़ता है और अपनी सिद्धि को प्राप्त करता है। संवाद के विषय में नाट्याचार्यों ने बड़ी उपादेय बातें विस्तार के साथ लिखी हैं। कौन नाटक दर्शकों के लिए सुन्दर तथा उपयोगी होता है? इस प्रश्न का उत्तर भरतमुनि ने इस प्रकार दिया है – नाटक मृदु तथा ललित पदों से युक्त तथा अस्पष्ट शब्द अर्थ से हीन होना चाहिए। बुद्धिमानों को सुख देने वाला, बुद्धिमानों के द्वारा खेला जा सकने वाला बहुत से रसों को व्यक्त करने का मार्ग खोलने वाला, ठीक सन्धियों से सधा हुआ ही नाटक दर्शकों के लिए उपयोगी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भरतमुनि ने संवादयोजना के विषय में तीन बातें स्पष्टतः प्रतिपादित की हैं। एक तो यह कि संवाद कहीं भी ऐसा न होना चाहिए कि जिसके अर्थ समझने में श्रोताओं को कठिनाई हो। सुनते ही वक्ता का भाव स्पष्ट हो जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि उन संवादों से दर्शकों को रसानुभूति होनी चाहिए अर्थात् संवाद न नीरस होना चाहिए और न

केवल सूचना देने वाला होना चाहिए, बल्कि रस से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि बुद्धिमान् लोग ही उसे खेल सकते हैं। भरत की सम्मति में संवाद की योजना करते समय नाटककार को अलङ्कार के प्रपञ्च में नहीं पड़ना चाहिए। उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसमें ऐसी बात न आवे, जो श्रोताओं की समझ में न आवे, या अस्वाभाविक हो या उचित न हो और जिसके अनुसार अभिनय करने में अभिनेताओं को असुविधा हो। संवाद के लिए औचित्य का बहुत ही अधिक महत्त्व होता है।

संवाद के लिए भाषा का अध्ययन आवश्यक है। संस्कृत के नाटकों में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण रहता है, जो पात्र की सामाजिक और सांस्कृतिक योग्यता के अनुसार ही निबद्ध की जाती है। संवाद के लिए काव्य के समस्त गुण आवश्यक होते हैं। परन्तु दो गुणों की आवश्यकता अनिवार्य है। एक है प्रसाद और दूसरा है कुतूहल। प्रसाद के द्वारा वक्ता की बात श्रोता के हृदय तक पहुँचती है। वह उसे भलीभाँति समझता है और उसका आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त होता है। कुतूहल के द्वारा दर्शक की प्रवृत्ति नाटक देखने की ओर स्वतः जागरूक रहती है। यदि संवाद कुतूहलवर्धन न करेगा, तो वह फीका, अरुचिकर तथा अनाकर्षक होगा। संवाद में आकर्षण रहना चाहिए। संवाद के दोष वे ही हैं, जो सामान्य रूप से काव्य के दोष होते हैं – क्लिष्ट, अश्लील, अमंगल, सन्दिग्धार्थ आदि।

आचार्यों ने पात्रों के उच्चारण के लिए विशेष नियम बना रखा है। उच्चारण करने वाले या पढ़ने वाले पात्र के गुण छः होते हैं – माधुर्य, अक्षर व्यक्ति, पदच्छेद, सुस्वरता, धैर्य तथा लयसमर्थता। तात्पर्य यह है कि संवाद का कथन ऐसे ढंग से होना चाहिए कि श्रोतागण आकृष्ट हो जाँय तथा पात्रों के कथनोपकथन में रस लेते हुए उसे सुनें। तभी तो पात्रों की भाषा में आकर्षण उत्पन्न होता है।

इस प्रकार भरतमुनि ने संवाद के दोनों तत्त्वों भाषातत्त्व तथा काव्यतत्त्व पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किया है, जिसका अनुसरण आज भी नाटक को उपादेय तथा रोचक बनाने के लिए उपयुक्त है। भारतीय नाटक न केवल आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित रहता है और न केवल यथार्थवाद पर, प्रत्युत उसमें दोनों का मञ्जुल समन्वय घटित होता है और यही कारण है कि आज के

वैज्ञानिक रंगमंच के युग में भी संस्कृत के नाटकों का अभिनय उतना ही आकर्षक तथा मनोरञ्जक सिद्ध हो रहा है। लन्दन, न्यूयार्क तथा मेलबोर्न में शाकुन्तल तथा मृच्छकटिक के सफल अभिनय से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो रही है।

इन्हीं तीन तत्त्वों – वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर रूपक के दस भेद किये जाते हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय पूर्व में दिया गया है।

रूपक के विशिष्ट पारिभाषिक तत्त्व

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि अभिनय के विचार से कथाएँ दो प्रकार की होती हैं – वाच्य तथा सूच्य। जो घटनाएँ कार्य की सिद्धि के लिए हैं, उनमें परिष्कार करना, काट-छाँट करना आवश्यक होता है। जो घटनाएँ कार्य की सिद्धि से सीधा लगाव या सम्बन्ध नहीं रखतीं, उन्हें काट-छाँटकर अलग करना तो पड़ता है, परन्तु कथा को अखण्ड बनाये रखने के लिए उनकी सूचना तो अवश्य दी जाती है। ऐसी घटनाएँ सूच्य कहलाती हैं। इन्हीं का शास्त्रीय नाम अर्थोपक्षेक है, जो संख्या में पाँच होते हैं। इनका थोड़ा परिचय यहाँ दिया जाता है –

१. **विष्कम्भक** – जो घटनाएँ अतीत हो गयीं और जो घटनाएँ अभी भविष्य में आने वाली हैं, उन दोनों की सूचना देने वाला विष्कम्भक कहलाता है और इसके सूचक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
सङ्क्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः।।
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः[१]।।

---

१. सा०द० ६.५५-५६।

विष्कम्भक अंक के आदि में रहता है। जब एक ही मध्यम पात्र अथवा दो मध्यम पात्र प्रयोग करते हैं, तब उसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं और यदि नीच तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाता है, तो इसे मिश्र विष्कम्भक कहते हैं। शुद्ध का उदाहरण मालतीमाधव के पञ्चम अङ्क में कपालकुण्डला के द्वारा। सङ्कीर्ण जैसे रामाभिनन्द में क्षपणक और कापालिक के द्वारा।

२. **प्रवेशक** – प्रवेशक में भी घटनाओं की सूचना पूर्ववत् दी जाती है, परन्तु इसमें सूचक पात्र अधम श्रेणी का ही होता है, जैसे नौकर–नौकरानी आदि। नीच पात्रों से युक्त होने के कारण नाटक के आरम्भ (प्रथम अङ्क के आदि) में प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता। विष्कम्भक कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है। प्रवेशक भी विष्कम्भक के समान सूचक होता है। इसके समग्र पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं और प्राकृत भाषा बोलते हैं। साहित्यदर्पण में प्रवेशक का लक्षण निम्न प्रकार से दिया गया है –

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कस्यान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा[1]।।

प्रवेशक तथा विष्कम्भक के उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में मिलते हैं। इसके चतुर्थ अङ्क में कण्व का शिष्य आता है और कण्व के आश्रम में लौट आने की सूचना देता है। यह शुद्ध विष्कम्भक का उदाहरण है। षष्ठ अङ्क के आरम्भ में हम मछुवे को पकड़कर दो पुलिसों को लाते हुए पाते हैं। यह नीच पात्रों के द्वारा संवलित होने के कारण 'प्रवेशक' का दृष्टान्त है।

३. **चूलिका** – जहाँ परदे के भीतर से पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है, वहाँ चूलिका होती है।

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका[2]।

जैसे महावीरचरित में (नेपथ्य में) भो भो इत्यादि से यह सूचन किया है कि राम ने परशुराम को जीत लिया। इसी प्रकार उत्तररामचरित के द्वितीय अंक के आरम्भ में तपोधना का प्रवेश परदे के भीतर से सूचित किया जाता है।

---

१. सा०द० ६.५७।

२. सा०द० ६.५८।

४. अङ्कास्य – यदि किसी अंक के अन्त में पात्रों के द्वारा किसी ऐसी बात की सूचना दी जाय, जिससे अगले अंक का आरम्भ होता है, तो उसे अंकास्य या अंकमुख कहते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाखिला।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्[१]।।

जैसै मालतीमाधव के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही कामन्दकी और अवलोकिता ने अगली सब बातों की सूचना दे दी है।

५. अङ्कावतार – जहाँ प्रथम अङ्क की वस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अंक की वस्तु आरम्भ हो, वहाँ अङ्कावतार होता है अर्थात् जब प्रथम अङ्क के पात्र किसी बात की सूचना दें तथा वे ही पात्र उसी कथावस्तु को लेकर अगले अंक में भी प्रवेश करें, तब इसे अंकावतार कहते हैं। साहित्यदर्पण में अङ्कावतार का लक्षण निम्न प्रकार से प्रस्तुत है –

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः[२]।।

जैसे शाकुन्तल में पञ्चम अङ्क के अन्त में उसके पात्रों द्वारा सूचित किया हुआ षष्ठ अङ्क पूर्व से अविभक्त (उसका अङ्क जैसा) ही अवतीर्ण हुआ है।

नाटकों में बहुत सी बातों वर्ज्य मानी जाती हैं। उनका प्रदर्शन रंगमंच के ऊपर नहीं होता है। वे भी किसी न किसी प्रकार सूच्य ही की जाती हैं। जैसे दूर से बोलना, वध, युद्ध, राजविप्लव, देशविप्लव, विवाह, भोजन, मृत्यु, रमण आदि। इसी प्रकार की अन्य लज्जाकारी बातें, शयन, अधरचुम्बन, नगर का घेर लेना, स्नान, चन्दन आदि का लेप तथा किसी बात का अतिविस्तार भी रंगमंच के ऊपर निषिद्ध माना जाता है और इसलिए ये भी

२.सा०द० ६.५७-६०।३

३. सा०द० ६.५८-६९।

संसूच्य कोटि में आते हैं। इसलिए जो वस्तु अवश्य वक्तव्य है, किन्तु नीरस है, उसे छोड़कर यदि सरस को दिखाना है, तो आमुख के अनन्तर विष्कम्भक कर देना चाहिए और इसके पात्रों की सूचना आमुख में ही कर देनी चाहिए।

आमुख का लक्षण

जहाँ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक, सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों से इस प्रकार बातचीत करें, जिससे प्रस्तुत कथा का सूचन हो जाय, उसे आमुख कहते हैं और उसी का नाम प्रस्तावना भी है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा[1]।।

प्रस्तावना के पाँच भेद होते हैं – उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। यहाँ सूत्रधार के तुल्य होने के कारण स्थापक को ही सूत्रधार कहा है। उसका अनुचरण पारिपार्श्विक होता है। उससे थोड़ा कम कम गुणवाला नट होता है।

अवस्थापञ्चक

लोक में जिस प्रकार कर्म की स्पष्ट पाँच अवस्थायें होती हैं, नाटक में भी ठीक इसी प्रकार और इतनी ही अवस्थायें होती हैं। मान लीजिये किसी छात्र ने अपने जीवन का लक्ष्य एम०ए० परीक्षा में सफलता को मान रखा है। इस कार्य की पहली दशा में वह छात्र अपने कार्य की सिद्धि के लिए उत्सुकता दिखलाता है। उसके हृदय में तीव्र इच्छा जागती है कि वह परीक्षा पास कर अपने जीवन को कृतकृत्य बनावे। यह दशा 'आरम्भ' कहलाती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार के व्यापार करता है, वह अपना घर छोड़कर महाविद्यालय

---

१. सा०द० ६.३१-३२।

में पढ़ता है, घोर अध्यवसाय करता है और अन्त में एम०ए० की परीक्षा देता है। ये सब व्यापार उसके प्रयत्न के सूचक हैं। यह उसकी दूसरी दशा है, जो **'यत्न'** के नाम से पुकारी जाती है। परीक्षा देने पर उसे पता चलता है कि कुछ पर्चों का उत्तर तो वह ठीक-ठीक दे सका है, परन्तु कुछ के उत्तर बिल्कुल ठीक होने में उसे सन्देह रहता है। इसलिए उसे फल की प्राप्ति की आशा बनी रहती है। यह तीसरी दशा है – **'प्राप्त्याशा'**, जहाँ फल प्राप्त होने की सम्भावना तो रहती है, किन्तु वह अपाय (विघ्न) तथा उपाय दोनों की शंकाओं से घिरी रहती है। अनेक उपाय करने से जब विघ्न बाधाएँ हट जाती हैं और उसे विश्वास हो जाता है कि परीक्षाफल अच्छा ही होगा, तब उस कार्य की चौथी दशा होती है -- **'नियताप्ति'**, जिसमें विरुद्ध वस्तुओं के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति आ जाती है। जब उसका नाम गजेट में निकल जाता है, वह पास हो जाता है और उसके जीवन का लक्ष्य पूरा हो जाता है, तब फल की प्राप्ति होने से कार्य की अन्तिम दशा होती है, जिसका अन्वर्थक नाम **'फलागम'** है (फल का आगम अर्थात् प्राप्ति)।

यही बात नाटक के कथानक के विषय में भी लागू होती है। नाटक के आदि से लेकर अन्त तक कथानक या कथावस्तु की पूर्वोक्त पाँच अवस्थाएँ होती हैं – आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। कार्य की दशा का यह विश्लेषण नितान्त सुन्दर तथा व्यावहारिक है तथा यह विश्लेषण गूढ़ मनोवैज्ञानिकता का पर्याप्त सूचक है। यह दिखलाता है कि मानव को अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नाना विरोधी घटनाओं के साथ संघर्ष करना पड़ता है। वह सीधे ढंग से अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, बल्कि रास्ते में आने वाले विघ्नों को कुचलना तथा पददलित करना उसका आवश्यक कार्य होता है। इस प्रकार नाटक के कथानक में संघर्ष अवश्य रहता है। यह संघर्ष विरुद्ध घटनाओं का आपस में रगड़ खाना तथा अपनी प्रभुता जमाने का भाव नाटक की कथा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह संघर्ष बाहरी घटनाओं में होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु मानसिक वृत्तियों में भी जब संघर्ष दृष्टिगोचर होता है, तब वह सूक्ष्म रूप धारण करता है। संघर्ष जितना भी सूक्ष्म होगा, वह नाटक भी उतना ही प्रभावशाली, अन्तरंग तथा प्रख्यात होगा। कालिदास तथा भवभूति के नाटकों की प्रसिद्धि इसी कारण से है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कालिदास ने काम तथा धर्म का, कर्तव्य तथा स्नेह का परस्पर संघर्ष दिखलाया है तथा अन्त में धर्म की विजय होने में नाटक का महत्त्व और औदार्य परिस्फुटित होता है।

अर्थप्रकृति

फलस्वरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अवान्तर घटनाएँ मिलकर व्यापार करती हैं और तब कहीं जाकर फल की सिद्धि होती है। इन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। अर्थ का तात्पर्य है प्रयोजन या वस्तु का फल और 'प्रकृति' का अर्थ है कारण या हेतु। ये प्रयोजन की सिद्धि के कारण होते हैं, और इसीलिए इनका नाम अर्थप्रकृति है। ये पाँच प्रकार के होते हैं – बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि[१]।।

इन्हें यथाविधि नाटक में प्रयोग करना चाहिए।

१. **बीज** – फल के प्रथम हेतु को बीज कहते हैं। जिस प्रकार वृक्ष से फल पाने के लिए छोटा सा बीज जरूरी होता है, उसी प्रकार यह बीज भी होता है, जो आरम्भ में बहुत ही छोटा है, परन्तु आगे चलकर अनेक रूपों में विस्तार को पा लेता है। जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा गया है –

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते[२]।।

जैसे रत्नावली में अनुकूल दैव से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार अथवा वेणीसंहार में द्रौपदी के केशसंयमन का हेतुभूत, भीमसेन के क्रोध से युक्त, युधिष्ठिर का उत्साह।

२. **बिन्दु** – अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर जो घटना उसे प्रधान कथा के साथ जोड़ने वाली होती है, उसे जोड़ देने के हेतु को बिन्दु कहते हैं।

१.सा०द० ६.६४–६५।

२. सा०द० ६.६५–६६।

यह बिन्दु उसी प्रकार नाटक में फैला हुआ दिखलाई पड़ता है, जिस प्रकार पानी के ऊपर तेल का बूँद। इसे बिन्दु के नाम से पुकारने का यही रहस्य है। बिन्दु का लक्षण साहित्य दर्पण के अनुसार देखें –

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्[१]।

जैसे रत्नावली में अनङ्ग पूजा की समाप्ति में कथा पूरी हो चुकी थी, किन्तु उदयनस्ये'त्यादि पद्य को सुनकर 'ऐं यही वह राजा उदयन है' – यह सागरिका का सहर्ष कथन कथा के अविच्छेद का हेतु है।

३. पताका – जो प्रासङ्गिक कथा दूर तक व्याप्त हो, उसे पताका कहते हैं –

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते[२]।

जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा, वेणीसंहार में भीमसेन की और शाकुन्तल में विदूषक की। पताका-नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता – प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उसकी समस्त चेष्टायें होती हैं। गर्भ या विमर्श सन्धि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है। जैसे सुग्रीव की राज्यप्राप्ति। भरतमुनि ने जो कहा है –

'आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते'। इति

गर्भसन्धि में या विमर्शसन्धि में पताका समाप्त हो जाती है' यहाँ पताका शब्द से पताकानायक का फल विवक्षित है – पताका तो कहीं-कहीं निर्वहण सन्धिपर्यन्त भी चलती है – यह व्याख्या श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य ने की है।

४. प्रकरी – प्रसङ्गागत तथा एकदेशस्थित चरित्र को प्रकरी कहते हैं –

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता[३]।

जैसे कुलपत्यङ्क में रावण और जटायु का संवाद प्रकरीनायक का अपना कोई फलान्तर प्रधान नहीं होता।

---

१. सा०द० ६.६६।

२. सा०द० ६.६७।

३. सा०द० ६.६८।

५. कार्य – वह साध्य जिसकी सिद्धि के लिए नाटक में समग्र सामग्री एकत्र की जाती है, कार्य कहलाता है। जो प्रधान साध्य है, सब उपायों का आरम्भ जिसके लिए किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिए सब 'समापन' (सामग्री) एकत्रित हुआ है, उसे कार्य कहते हैं।

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति सम्मतम्[१]।।

जैसे रामचरित में रावण वध।

अर्थ प्रकृति के साथ पूर्वनिर्दिष्ट 'अवस्थापञ्चक' की तुलना करने पर दोनों के रूपों में भेद स्पष्टतया प्रतीत होता है। अर्थप्रकृति तो भौतिक विभाजन है, जिसका सम्बन्ध कथावस्तु से ही है। इनके होने पर नाटक का रूप या ढाँचा खड़ा हो जाता है। परन्तु अवस्थाओं का सम्बन्ध जैसा हमने उदाहरणों में दिखलाया है, नायक की मानसदशा से होता है। कार्य की सिद्धि के निमित्त नायक की मानसिक प्रवृत्ति का विश्लेषण इस अवस्थापञ्चक में किया गया है।

पञ्च सन्धि

सन्धि का अर्थ होता है जोड़। कोई भी वस्तु बिना जोड़ों की नहीं होती। अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर वह समग्र पदार्थ एक विशिष्ट समन्वित रूप में हमारे नेत्रों के सामने आता है। नाटक भी ऐसा ही एक समन्वित पदार्थ है, जिसमें पाँच सन्धियाँ होती हैं। सन्धि का सामान्य लक्षण दशरूपक में इस प्रकार दिया गया है –

अन्तरैकार्यसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।

अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित या सम्बद्ध कथाओं को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है, तो वह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। इसमें पूर्ववर्णित अर्थप्रकृतियों का कार्य के अवस्थापञ्चक के साथ क्रमशः योग या सम्बन्ध होता है, जिससे पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं – १. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्श या विमर्श तथा ५. निर्वहण या उपसंहार। जैसा कि साहित्यिक दर्पण का वचन है –

---

१. सा०द० ६.६९–७०।

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः।

इति पञ्चास्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते[१]।।

१. मुख – बीज तथा आरम्भ को मिलानेवाली सन्धि को, जिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है, मुखसन्धि कहते हैं।

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।

प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्[२]।

२. प्रतिमुख – मुखसन्धि में निवेशित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य उद्भेद (विकास) जहाँ हो, उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं।

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।

लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्[३]।।

जैसे रत्नावली में वत्सराज और सागरिका (रत्नावली) के समागम का हेतु, इन दोनों का परस्पर प्रेम, जो प्रथम अङ्क में सूचित कर दिया है, उसे सुसंगता और विदूषक ने जान लिया, अतः वह (अनुराग) कुछ लक्ष्य हुआ और वासवदत्ता ने चित्र के वृत्तान्त से कुछ-कुछ ऊहा की, अतः अलक्ष्यता भी रही।

३. गर्भ – पूर्व सन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फल-प्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो, उसे गर्भ सन्धि कहते हैं। फल को भीतर रखने के कारण इसे गर्भ कहते हैं –

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन।

गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः[४]।।

जैसे रत्नावली के द्वितीय अङ्क में 'सखि, अदक्षिणा इदानीमसि त्वम्, या एवं भर्त्ता हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि' इस सुसंगता की उक्ति में उद्भेद है।

१. सा०द० ६.७५-७६।

२. वही, ६.७७-७७।

३. वह, ६.७७-७८।

४. वही, ६.७८-७९।

उसी समय वासवदत्ता के प्रवेश होने से ह्रास हुआ है। तृतीय अङ्क में 'तद्वार्ते' त्यादि राजा की उक्ति से अन्वेषण सूचित हुआ है। एवम् 'ही ही – आश्चर्यं भोः, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषो यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति' इस विदूषक की उक्ति में फिर उद्भेद है। फिर भी वासवदत्ता जान गयी, अतः ह्रास हुआ है। सागरिका के संकेत स्थान में जाने से अन्वेषण और लतापाश बनाने में उसी अनुराग का उद्भेद हुआ है।

४. **विमर्श** – जहाँ मुख्य फल का उपाय गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न हो, किन्तु शापादि के कारण अन्तराय (विघ्न) युक्त हो, उसे विमर्श सन्धि कहते हैं –

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः[१]।।

जैसे शाकुन्तल में अनसूया – प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला अनुरूपभर्तृभागिनी संवृत्तेति निर्वृत्तं मे हृदयम्, तथापि एतावच्चिन्तनीयम्'। यहाँ से लेकर सप्तम अंक में दिखाये हुए शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञानपर्यन्त जितनी कथा है, वह सब शकुन्तला के विस्मरण रूप विघ्न से आलिङ्गित (युक्त) है।

५. **निर्वहण** – बीज से युक्त मुखादि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का जहाँ एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय साधित किया जाय, उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं –

वीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्[२]।।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी इत्यादि सन्दर्भ में मुखादि सन्धियों में अपने-अपने स्थानों पर उपक्षिप्त द्रौपदी के केशसंयमनादिरूप बीजों को एक अर्थ में संयोजित किया है। अथवा शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में शकुन्तला के परिज्ञान के पीछे की सम्पूर्ण कथा निर्वहण सन्धि का उदाहरण है।

---

१. सा०द० ६.७९-८०।

१. सा०द० ६.८०-८१।

अर्थ प्रकृति और अवस्थापञ्चक इन दोनों तत्त्वों के समन्वय के लिए इस सरणि पर दृष्टिपात करें –

१. मुख – आरम्भ तथा बीज का संयोग।

२. प्रतिमुख – यत्न तथा बिन्दु का योग।

३. गर्भ – प्राप्त्याशा तथा पताका का योग।

४. प्रकरी – नियताप्ति तथा प्रकरी का योग।

५. निर्वहण – फलागम तथा कार्य का योग।

सन्धियों का विचार करने से स्पष्ट है कि मुख से कार्य आरम्भ होता है, प्रतिमुख में बढ़ता है, गर्भ में उत्कर्ष को पाता है, विमर्श में वह फल की ओर झुकता है तथा निर्वहण में वह पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करता है। इन पञ्च सन्धियों की स्वरूप तुलना पाश्चात्त्य शैली में 'ड्रैमेटिक लाइन्स' से भली-भाँति की जा सकती है। दोनों का स्वरूप प्रायः एक समान ही होता है।

इसका निष्कर्ष यही है कि मुखसन्धि में निहित बीज अन्तिम सन्धि में फल के रूप में परिणत हो जाता है, परन्तु उसे अंकुरित तथा विकसित पल्लवित तथा परिणत होने के बीच की तीन सन्धियों के मध्य से होकर गुजरना बहुत ही जरूरी होता है। तभी उसका पूर्ण विकास होता है। पञ्च सन्धि की कल्पना का यही रहस्य है।

नाटक के निर्माण का प्रकार भी साहित्यशास्त्रियों ने निर्दिष्ट किया है। नाटक में पहले पूर्वरङ्ग होना चाहिए फिर सभापूजा। इसके बाद कवि और नाटक की संज्ञा आदि और इसके अनन्तर आमुख होना चाहिए।

पूर्वरङ्ग – नाट्यवस्तु (अर्थ) के पूर्व, रंग (नाट्यशाला) के विघ्नों को दूर करने के लिए नर्तक लोग जो कुछ करते हैं, उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते[१]।।

---

१. सा०द० ६.२२।

यद्यपि इसके प्रत्याहारादिक अनेक अङ्ग हैं, तथापि इनमें से रंगस्थल के विघ्नों की शान्ति के लिए 'नान्दी' अवश्य करनी चाहिए, जैसा कि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है –

प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये[१]।।

नान्दी का लक्षण

देवता, ब्राह्मण तथा राजादिकों की आशीर्वादयुक्त स्तुति इससे की जाती है, अतः इसे नान्दी कहते हैं। इससे लोग आनन्दित होते हैं, अतः यह नान्दी है। जैसा कि कहा है –

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।।
मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत[२]।।

नान्दी में मङ्गल्य वस्तु, शंख, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुदादिकों का वर्णन होना चाहिए। इसमें बारह या आठ पद होने चाहिए। यहाँ पद शब्द से सुबन्त तिङन्त भी लिये जाते हैं और श्लोक के चतुर्थांश (पाद) का भी ग्रहण होता है। अष्टपदा नान्दी जैसे अनर्घराघव नाटक में 'निष्प्रत्यूहम्' इत्यादि। यहाँ दो श्लोक होने से अष्टपदा या अष्टपादा नान्दी है।

सूत्रधार के द्वारा पूर्वरङ्ग का विधान सम्पन्न किया जाता है।

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारोनिगद्यते।।

---

१. स०द० ६.२३

२. वही ६.२४-२५।

नाटक के उपकरण आदि को सूत्र कहते हैं, उसको धारण जो करता है, उसे सूत्रधार कहा जाता है। इस प्रकार नाटक का प्रारम्भ होता है।

नायक-भेद

रूपक के विभेदक तीन तत्त्वों में द्वितीय तत्त्व नेता है। नेता के वर्णन के भीतर नायक तथा उसके परिकर का भी समावेश किया जाता है। नेता में शोभन गुणों की सत्ता अनिवार्य है। नायक तथा नायिका के कतिपय ढाँचे पहले ही बने-बनाये उपलब्ध होते हैं, जिनके भीतर प्रत्येक नाटक का नेता रखा जा सकता है। नेता या नायक का सामान्य लक्षण बतलाते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है –

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता[१]।।

दाता, कृतज्ञ, पण्डित, कुलीन, लक्ष्मीवान् लोगों के अनुराग का पात्र, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त, तेजस्वी, चतुर और सुशील पुरुष काव्यों में नायक होता है। नेता या नायक के चार प्रधान भेद होते हैं –

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः[२]।।

१. धीरोदात्त – नायक के जितने शोभन तथा सामान्य गुण होते हैं, वे सब इस नेता में पाये जाते हैं। धीरोदात्त प्रकृति का नायक प्रायः राजा या राजकुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति होता है। वह अभिमानशून्य, अत्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा विनयी होता है। जिस काम के करने का वह व्रत ग्रहण कर लेता है, उसे वह कभी नहीं छोड़ता। धीरोदात्त नायक का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार देखें –

---

१. सा०द० ३.३०।
२. वही, ३.३१।

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः[१]।।

अर्थात् अविकत्थन अर्थात् अपनी प्रशंसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अति गम्भीरस्वभाववाला, महासत्त्व अर्थात् हर्ष, शोकादि से अपने स्वभाव को नहीं बदलनेवाला, स्थिर प्रकृति, विनय से प्रच्छन्न गर्व रखने वाला और दृढ़व्रत अपनी बात का पक्का और आन का पूरा पुरुष धीरोदात्त कहलाता है। जैसे भगवान् रामचन्द्र और महाराज युधिष्ठिर आदि।

२. **धीरोद्धत** – धीरोद्धत का लक्षण साहित्यदर्पण में कहा गया है –

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः[२]।।

अर्थात् मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी, शूर, अपनी प्रशंसा का पुल बाँधने वाला नायक धीरोद्धत कहलाता है, जैसे भीमसेन प्रभृति।

३. **धीरललित** – यह नायक कला का प्रेमी, चित्र का रसिक तथा राजपाट की चिन्ता से मुक्त होता है। वह भोग-विलास में लिप्त रहता है, प्रेम का उपासक होता है और अनेक पत्नीवाला राजा होता है। राजकार्य को मन्त्री के ऊपर छोड़कर वह अपने आपको भोग-विलास में ही लगाये रहता है। साहित्य-दर्पण के अनुसार धीरललित नायक का लक्षण देखें –

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितोऽस्य।[३]

धीरललित नायक नाटिका का नेता होता है, जैसे रत्नावली नाटिका का नेता राजा उदयन।

4. **धीरप्रशान्त** – धीरप्रशान्त ब्राह्मण तथा वैश्य जाति का व्यक्ति स्वभाव से शान्त होता है और इसलिए इस प्रकार का नायक इन्हीं वर्णों में पाया जाता है। वह कला का प्रेमी भी होता है। जैसा कहा है –

---

१. सा०द० ३.३२।
२. सा०द० ३.३२।
३. सा०द० ३.३४।

सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिनो धीरशान्तः स्यात्[१]।

प्रकरण का नेता इसी कोटि का होता है, जैसे मृच्छकटिक का नेता चारुदत्त तथा मालतीमाधव का नेता माधव।

ये पूर्वोक्त चारों नायक दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ इन चार भेदों में विभक्त होते हैं, अतः प्रत्येक के चार भेद होने से नायक के सोलह भेद हो जाते हैं। इनमें से अधिक पत्नियों में समान अनुराग रखने वाले को **'दक्षिण'** नायक कहते हैं। जो अपराध करके भी निःशङ्क रहे, झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित न हो और दोष दीख जाने पर भी झूठ बोलता जाय, वह नायक 'धृष्ट' कहलाता है। जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहे, उसे **'अनुकूल'** कहते हैं। वह नायक 'शठ' कहलाता है, जो अनुरक्त को किसी अन्य में हो, परन्तु प्रकृत नायिका में भी बाहरी अनुराग दिखलाये और प्रच्छन्न रूप से उसका अप्रिय करे। इन सोलह प्रकार के नायकों के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन भेद और होते हैं। इस प्रकार नायकों के अड़तालीस भेद हो जाते हैं।

नायिका-भेद

नायिका तीन प्रकार की होती हैं – अपनी स्त्री (स्वीया), अन्य की स्त्री (परकीया) तथा साधारण स्त्री अर्थात् वेश्या। नायिका भी नायक के सामान्य गुणों 'त्यागी कृती' इत्यादि युक्त होती है। अब स्वीया का लक्षण बतलाया जा रहा है –

१. स्वीया – विनय, सरलता आदि गुणों से संयुक्त, घर के कामों में तत्पर, पतिव्रता स्त्री स्वीया नायिका कहलाती है। जैसा कि कहा है –

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया[२]।

(क) मुग्धा– मध्या और प्रगल्भा इन तीन भेदों से स्वकीया तीन प्रकार की होती है। मुग्धा के भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पण में कहा गया है –

---

१. सा०द० ३.३४।

२. वही ३.५७।

प्रथमावलीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा[१]।।

अर्थात् १. प्रथमावतीर्णयौवना – जिसमें नवीन यौवन की छटा पहले-पहल विकसित हुई हो, २. प्रथमावतीर्णमदनविकारा – जिसमें काम कलाओं के विलास पहले-पहल आविर्भूत हुए हों, ३. रतिवामा – जो रति में झिझके और संकोच करे, ४. मानमृदु – जिसका मान चिर स्थायी न हो सके और ५. समधिकलज्जावती – जो अत्यन्त लज्जा करे, ये पाँच भेद मुग्धा के होते हैं।

(ख) मध्या – का भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पण में कहा है –

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिया मता[२]।।

अर्थात् १. विचित्रसुखा, २. प्ररूढस्मरा, ३. प्ररूढयौवना, ४. ईषत्प्रगल्भ-वचना, ५. मध्यमव्रीडिता ये मध्या के भेद होते हैं।

(ग) प्रगल्भा के भेद इस प्रकार बतलाया गया है –

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका[३]।।

अर्थात् १. स्मरान्धा, २. गाढ़तारुणा, ३. समस्तरतकोविदा ४. भावोन्नता, ५. दरव्रीड़ा और ६. आक्रान्तनायक ये छः भेद प्रगल्भा के हैं।

मध्या और प्रगल्भा ये दोनों धीरा, अधीरा और धीराधीरा इन तीन भेदों में विभक्त होने से इनके छः भेद हो जाते हैं। मध्यधीरा क्रोध करने पर प्रियतम को सपरिहास वक्रोक्ति के द्वारा विद्ध करती है एवं धीराधीरा रोदन से और अधीरा परुष भाषण से खिन्न करती है।

२. परकीया – अविवाहिता सलज्जा नवयौवना 'कन्या' कहलाती है। यह पिता आदि के वशीभूत होने से परकीया कही जाती है। जैसे मालतीमाधव में मालती।

---

१. सा०द० ३.५८।
२. वही ३.५९।
३. वही ३.६०।

३. सामान्या – धीरा, नृत्य गीतादि ६४ कलाओं में निपुण, सबकी सामान्य स्त्री वेश्या कहलाती है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका[१]।

वह निर्गुण पुरुषों से द्वेष नहीं करती और गुणियों में अनुरक्त नहीं होती। केवल धन देखकर बाहरी अनुराग दिखाती है। अच्छे प्रकार स्वीकृत पुरुष भी यदि धनहीन हो जायँ, तो उसे अपनी माता के द्वारा निकलवा देती है, स्वयं नहीं निकालती, क्योंकि फिर धनागम होने पर उससे मेल करने की इच्छा रहती है। चोर, पण्डे, नपुंसक, मूर्ख, अनायास से प्राप्त धनवाले, ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि वेषधारी, प्रच्छन्न कामुक पुरुष प्रायः इनके (वेश्याओं के) वल्लभ होते हैं। कहीं-कहीं वेश्या भी काम के वश होकर सत्य अनुराग से युक्त होती है। जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना। ये चाहें रक्त हों, चाहे विरक्त, इनमें रति अत्यन्त दुर्लभ है। यही बात साहित्यदर्पण में कहा गया है –

निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः।।

काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्।
मात्रा निष्कासयेदेषा पुनः सन्धानकाङ्क्षया।।

तस्कराः पण्डकाः मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।

लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः।।

एषामपि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी।

रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्भलम्[२]।।

पूर्वोक्त सोलहों (तेरह स्वीया, एक परकीया, एक कन्या और एक वेश्या) नायिकाएँ अवस्थाभेद से पुनः आठ प्रकार की होती हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है –

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडश भेदिताः।

स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताथाभिसारिका।।

---

१. सा०द० ३.६७।

२. वही, ३.६८-७१।

कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषिताभर्तृका।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा[१]।।

अर्थात् स्वाधीन पतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता ये आठ अवस्थाभेद से नायिकायें होती हैं।

१. स्वाधीनपतिका – रतिगुण से आकृष्ट प्रियतम जिसका संग न छोड़े, वह विचित्र विलासों से युक्त नायिका 'स्वाधीनपतिका' कहलाती है।

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका[२]।

२. खण्डिता – अन्य स्त्री के संसर्ग चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाय, वह ईर्ष्या से कलुषित खण्डिता कहलाती है –

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्या कषायिता।।[३]

३. अभिसारिका – काम के वशीभूत होकर जो किसी संकेत स्थान पर नायक को बुलाये अथवा स्वयं जाय, वह अभिसारिका कहलाती है।

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका[४]।।

४. कलहान्तरिता – जो क्रोध के मारे, पहले तो प्रार्थना करती हुई प्रियतम को निरस्त कर दे और फिर पीछे पछताये, वह कलहान्तरिता कहलाती है –

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा[५]।।

---

१. सा०द० ३.७२-७३।
२. वही, ३.७४।
३. वही, ३-७५।
४. वही, ३.७६।
५. वही, ३.८२।

५. **विप्रलब्धा** – संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न आये, वह नितान्त अपमानित विप्रलब्धा कहलाती है –

प्रियः कृत्वापि सङ्केतं यस्या नायाति सन्निधिम्।

विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता[१]।।

६. **प्रोषितभर्तृका** – अनेक कार्यों में फँसकर जिसका पति दूरदेश में चला गया हो, वह कामपीड़ित नायिका प्रोषितभर्तृका कहलाती है।

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः।

सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका[२]।।

७. **वासकसज्जा** – सजाये हुए महल में सखी जिसे सुभूषित करती हो, प्रिय समागम का जिसे निश्चय हो, वह वासकसज्जा कहलाती है –

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि।

सा तु वासकसज्जा स्याद्विदिताप्रियसङ्गमा[३]।।

८. **विरहोत्कण्ठिता** – आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ सके, वह उसके आने से खिन्न नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति चेत्प्रियः।

तदनागमदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा[४]।।

इस प्रकार नायिकाओं के एक सौ अट्ठाइस (१२८) भेद होते हैं। पूर्वोक्त सोलहों को अभी कहे आठों से गुणा करने पर १२८ होते हैं। उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन भेदों से ये भेद तिगुने होकर तीन सौ चौरासी (३८४) होते हैं। यहाँ किसी का मत है कि परकीया अर्थात् कन्या तथा अन्योढ़ा संकेत से पूर्व विरहोत्कण्ठिता रहती है। अनन्तर विदूषकादि के साथ अभिसरण करने से अभिसारिका कहलाती है। यदि किसी कारण, संकेत स्थान में नायक न पहुँचे,

---

१. साहित्य दर्पण, ३.८३।

२. वही, ५.८४।

३. वही, ३.८५।

४. वही, ३.८६।

तो विप्रलब्धा होती है। बस ये तीन ही अवस्थायें इनकी हो सकती हैं। अस्वाधीनपतिका होने के कारण अन्य पाँच अवस्थायें इनकी नहीं हो सकतीं। कहीं-कहीं इन भेदों का साङ्कर्य भी उदाहरणों में देखा जाता है। इनके अतिरिक्त नायिकाओं के अन्य भी पद्मिनी, चित्रिणी आदि असंख्य भेद होते हैं। उन्हें यहाँ विस्तार भय से नहीं कहा गया है।

भरतमुनि के अनुसार रूपकों में रस

साहित्यिक कलात्मक अनुभूति तथा रसास्वाद की पूर्ति के लिए काव्य के समस्त प्रभेदों में रूपक सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसका प्रभाव केवल सहृदयों पर ही नहीं होता, प्रत्युत समस्त व्यक्तियों पर, चाहे वे सहृदय हों या असहृदय, समभावेन पड़ता है। इस प्रकार जीवन की सत्यता की अनुभूति की दृष्टि से, रसवत्ता से, स्निग्ध होने की दृष्टि से और रसास्वाद के उत्कर्ष के पश्चात् होने की दृष्टि से रूपक काव्य-प्रभेदों में सर्वथा अभिराम हृदयङ्गम तथा रमणीय है।

नाट्यरस के उन्मेष का सर्वाधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिए भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उसे नाट्यरस की संज्ञा प्राप्त है। नाट्यरस की अभिनवी व्याख्या है[१] – १. नाट्य के समुदाय रूप से उत्पन्न रस (नाट्यात् समुदायरूपाद् रसः) अथवा २. नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है (नाट्यमेव रसः रससमुदायो हि नाट्यम्) इसका तात्पर्य है कि नाट्य रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। काव्य में रस की सत्ता का यह व्याख्यान निराकरण नहीं करता। नाट्य रस के उपकरणभूत विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव कराता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्य को प्राप्त होती है, तभी काव्य में रस का आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्य में भी वह 'प्रत्यक्षसाक्षात्कार' कवि को अलौकिक वर्णन शक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। कवि पदार्थों का इतना उज्ज्वल तथा प्रभावशाली वर्णन करता है, जिससे वे पदार्थ अभिनय पदार्थों के समान पाठकों के नेत्रों के सामने सजीव रूप से स्फुरित हो उठते हैं। इसीलिए अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्टतौत का सम्माननीय सिद्धान्त है – रस नाट्यमान ही होता है। काव्यार्थविषय में भी प्रत्यक्ष कल्प साक्षात्कार के उदय पर भी रस का उदय सम्पन्न होता है –

१. अभिनवभारती, पृ० २९२।

काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदयः इत्युपाध्यायाः[१]।

प्रयोग की स्थिति पर पहुँचे बिना काव्य में रस के आस्वाद की सम्भावना ही नहीं रहती, परन्तु क्या श्रव्य काव्य इस विषय में दृश्य काव्य के प्रयोगत्व की योग्यता कभी प्राप्त करता है? भट्टतौत का कहना है कि प्राप्त कर सकता है, जब कवि प्रौढ़ उक्ति के द्वारा उद्यान, नदी आदि विषयों का इतना सजीव वर्णन करता है कि वे प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों के समान स्फुटतर प्रतीत होने लगते हैं। कवि की प्रौढ़ोक्ति में ही श्रव्यकाव्य को दृश्यकाव्य के समान प्रयोग-सम्पन्न करने की क्षमता सर्वथा सिद्ध है। तभी काव्य में रस का आस्वाद हो सकता है, अन्यथा नहीं; भट्टतौत के विश्रुत परन्तु अनुपलब्ध 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ का रस विषय में स्पष्ट कथन है –

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः[२]।।

नाट्यकला तथा शान्तरस

नाटक में शान्तरस का प्रदर्शन किया जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों ने बड़ी छानबीन तथा गम्भीरता के साथ की है। नाट्य में शान्तरस के विरोधी आचार्यों की भी एक लम्बी परम्परा है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों तथा युक्तियों का अनुशीलन कर हम अभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वन्यभाववादियों के तीन अवान्तरपक्षों की कल्पना की है। इन पक्षों को मैं अत्यन्ताभाववादी, प्रस्थानवादी तथा अन्तर्भाववादी संज्ञा देना अत्यन्त उचित समझता हूँ।

---

१. अभिनवभारती, पृ० २९१।
२. वही, पृ० २९२।

अत्यन्ताभाववादी

इस पक्ष के प्रस्तावक आचार्यों की सम्मति में शान्त रस का इस जगतीतल पर सर्वदा अभाव ही विद्यमान है। इस संसार में राग-द्वेष का अखण्ड साम्राज्य उज्जृम्भित हो रहा है। महनीय जातियों तथा राष्ट्रों में ही यह बात नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति का भी हृदय रागद्वेष की वृत्तियों का क्रीड़ास्थल है। अनादिकाल से अविद्या का प्रवाह प्रवाहित होता आ रहा है, जिसके वश में होकर जीव किसी से प्रेम (राग) करता है तथा किसी दूसरे व्यक्ति से (द्वेष) करता है। यह प्रवाह इतना प्रबल तथा पुष्ट है कि इसका उन्मूलन करना नितान्त असाध्य है। अविद्या के प्रवाह को नष्ट करने वाले उद्योगशील पुरुषार्थियों की कमी नहीं है, परन्तु यह प्रवाह आज भी अपनी उद्दाम गति से प्रवाहित होता ही रहता है। शान्त की स्थिति राग-द्वेष आदि भावों के उन्मीलन पर ही आश्रित रहती है और इन भावों के उच्छेद की कल्पना भी आकाश कुसुम के समान नितान्त असम्भाव्य तथा अकल्पनीय है। ऐसी दशा में शान्त रस का व्यावहारिक जगत् में सर्वथा अभाव मानना ही न्याय-संगत प्रतीत होता है। अतएव शान्तरस को काव्य एवं नाट्य में निबद्ध करनेवाला कवि कभी भी द्रष्टाओं के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। इसलिए दशरूपक के अवलोक में धनञ्जय ने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है –

अन्ये तु वस्तुस्तस्य अभावं वर्णयन्ति। अनादिकाल प्रवाहायात-रागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। (दशरूपक)।

न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति (दशरूपक)।

आनन्दवर्धन के मत में शान्तरस के अभाव का मुख्य कारण है – सर्वजनानुभवगोचरता का अभाव। रस को सब जनों के अनुभव का गोचर होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु संसार के प्राणियों को अविद्या, राग-द्वेष वृत्तियों के पंक में निमग्न देखकर क्या हम कभी कल्पना कर सकते हैं कि ये भ्रान्त मानव कभी भी शान्त रस का आस्वादन करने में समर्थ होंगे –

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति, नैतावतासौ अलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषवत् प्रतिक्षेप्तुं शक्यः (ध्वन्या० पृ० १७७)।

फलतः अनादिकाल से प्रवृत्त अविद्या का प्रवाह दुरुच्छेद्य है तथा हृदय संवाद का नितान्त अभाव है। अतएव शान्तरस की सत्ता हम कथमपि मानने के लिए उद्यत नहीं हैं।

इस तर्क का खण्डन भली-भाँति किया जा सकता है। इस पृथ्वीतल को इतने सन्त-महात्माओं ने अपने अलौकिक जीवन से, अपने शान्त उपदेशों से तथा अदम्य कारुणिकता तथा मैत्री से अलंकृत किया है कि अविद्या का उच्छेद न मानना कथमपि युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। साधारण मानव यदि जन-कोलाहल तथा रागद्वेष के स्तर के ऊपर उठने से अपने को सक्षम नहीं पाता, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि रागद्वेष का उन्मूलन सम्भव ही नहीं। अपने देश में उदात्त जीवन बिताने वाले ऋषि-मुनियों का प्रत्यक्ष दृष्टान्त इस बात का स्पष्ट बोधक है कि अविद्या की बागुरा दुरुच्छेद्य भले हो, परन्तु सर्वथा वह अच्छेद्य नहीं है। हृदय-संवाद के तर्क पर शान्त का अभाव भी तर्कहीन ही है। सर्वजनानुभवगोचरता किसी भी रस की उपलब्धि के लिए अकाट्य हेतु नहीं है। भरतमुनि ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाया है कि भिन्न-भिन्न रस के अनुभव तथा आस्वाद के लिए भिन्न-भिन्न प्रकृति की आवश्यकता होती है। एक ही प्रकृति विभिन्न रसों का आस्वाद नहीं ले सकती। वीर प्रकृति व्यक्ति को भयानक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वीतराग पुरुष को शृङ्गार रस का आस्वाद नहीं होता, तो इस कारण वीर तथा शृङ्गार को हम रस के अन्तर्गत नहीं मान सकते[१]? कथमपि नहीं, सर्वहृदयसंवाद के अभाव में भी वीर तथा शृङ्गार को हम रसकोटि से बहिर्मुख नहीं कर सकते। शान्तरस में भी हृदय-संवाद होता है। किन पुरुषों का? संसार से वैराग्य रखने वाले वीतराग पुरुषों का हृदय संवाद शान्तरस के प्रदर्शक काव्यों के पढ़ने में तथा नाटकों के देखने में सर्वथा होता ही है। ऐसी दशा में शान्तरस का अभाव कैसे माना जाय?

---

१. लोचन पृ० १७७ काव्यमाला संस्करण।

फलतः इस जगत् का शम नामक भाव अंग ही नहीं है, प्रत्युत एक महनीय तथा उज्ज्वलतम अंग है, परन्तु उसका अनुभव साधारण जनता की उपलब्धि से दूर ही रहता है। शान्तरस की उपलब्धि अवश्य ही असाधारण बनी रहेगी, जिस प्रकार महापुरुषों की जीवन लीलाएँ। 'जायस्व म्रियस्व' ही इस विश्व की सामान्य गति का निदर्शन है, परन्तु फिर भी शंकर तथा रामानुज, गोरखनाथ तथा कबीर, सूर तथा तुलसी जैसी महनीय आत्माओं ने अपने जीवन में उच्च आध्यात्मिकता का निदर्शन दिखलाया। तथ्य तो यह है कि साहित्य, काव्य तथा नाटक त्रिवर्ग के वर्णन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष का वर्णन तथा चित्रण भी उसके लिए उसी प्रकार उपादेय है। पुरुषार्थ का सरस तथा सुभग चित्रण ही काव्य सामान्य का तात्पर्य है। लोकवृत्त का अनुकरण नाटक का स्वविषय है। ऐसी दशा में उपकारव्रती अध्यात्मनिष्ठ महामानवों की जीवनलीला का चित्रण जिस प्रकार कवि अपने काव्यों में करता है, उसी प्रकार मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थ का निदर्शन भी काव्य में भली-भाँति दिखलाया जा सकता है। इसीलिए अभिनवगुप्त, कामोचित चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रसास्वाद के उदय के समान मोक्षोपयोगिनी चित्तवृत्ति के प्रदर्शन द्वारा रस का आस्वाद उत्पन्न होना स्वाभाविक मानते हैं (द्रष्टव्य अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३३४, बड़ौदा संस्करण)।

प्रस्थानवादी

रस सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय भी भरत मुनि को है। फलतः रस के समस्त सिद्धान्तों के निरूपण की अन्तिम कोटि भरत रचित नाट्यशास्त्र ही है। नाट्यशास्त्र एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। नाट्यशास्त्र के प्राचीन हस्तलेखों में शान्तरस का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं था। यही कारण है कि पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित तथा चौखम्बा कार्यालय, काशी से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के रसाध्याय (षष्ठ अध्याय) में शान्तरस का कहीं भी निर्देश नहीं है। इस संस्करण को मूल आधार मानकर प्रस्थानवादी आचार्यों का कथन है कि जब भरत मुनि ने ही शान्तरस का निर्देश नहीं किया, तब शान्तरस के भीतर गणना ही किस प्रकार की जा सकती है? भरत के इस निर्देशाभाव के कारण शान्त को रस न मानने

वाले आचार्यों की कमी नहीं है। धनञ्जय ने दशरूपक में इस मत की ओर संकेत किया है।

इस युक्ति का भी समाधान भली-भाँति किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र के रसाध्याय में शान्तरस का वर्णन आचार्य अभिनवगुप्त के समय में (अर्थात् १०वीं शती के अन्त में) अवश्य विद्यमान था, तभी तो उन्होंने इसके ऊपर भी अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है (द्रष्टव्य, अभिनवभारती, गायकवाड़ सिरीज में प्रकाशित, भाग १, पृ० ३३३-३४२)। यह अंश स्पष्ट ही रसाध्याय के समाप्त होने पर पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु यह संयोजन भी अभिनवगुप्त से प्राचीन किसी काल में किया गया होगा। अभिनवगुप्त ने अपने भाष्य में दिखलाया है कि किस प्रकार शान्त को न मानने वाले आचार्य केवल आठ ही रस मानते थे – **शान्तापलापिनस्तु अत्र अष्टौ इति पठन्ति तत्र शान्तस्य स्थायी विस्मयक्षमाः इति कैश्चित् पठितः**। भरत की इस कारिका में केवल आठ रसों का ही निर्देश है –

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

(ना०शा० ६.१६)

परन्तु शान्तरसवादी आचार्यों ने 'अद्भुतशान्ता नवनाट्ये रसाः स्मृताः' पाठ स्वीकार किया है। इसी प्रकार स्थायी भाव की गणनापरक कारिका में जुगुप्साविस्मयश्चेति (ना०शा०६.१८) के स्थान पर 'जुगुप्साविस्मयशमाः' पाठ उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र के परिबृंहित संस्करण में अभिनवभारती के अनुसार। प्रश्न यह है कि इस परिवर्तन का कर्ता कौन हो सकता है। काव्यालङ्कार सारसंग्रह के अध्ययन से स्पष्ट है कि उद्भट शान्तरस को मानते थे। वे नाट्यशास्त्र के प्रथम ज्ञात व्याख्याकार हैं तथा नवरसों की सत्ता मानने वाले प्रथम आलङ्कारिक हैं। फलतः बहुत सम्भव है कि इन्होंने ही नाट्यशास्त्र के पाठ में पूर्वोक्त परिवर्तन किये थे, जिनका निर्देश अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन से हम अनुमान ही क्या निश्चय कर सकते हैं कि भरत भी शान्तरस की सत्ता से पूर्णतया अवगत थे।

जब नाटक लोकवृत्त के ऊपर आश्रित रहता है, तब क्या लोक में शान्तरस के उपासक मुनि जनों का अस्तित्त्व नहीं है, जिनका चित्रण करते समय शान्तरस की विशद प्रतीति काव्य या नाटक में भली-भाँति हो सकती है। नाट्य की उपयोगिता बतलाते समय भरत के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं –

क्वचिद् धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः।

(ना०शा० १.१०६)

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।

(ना०शा० १.११५)

ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शनम्।

(ना०शा० १.११२)

भरत के मूल वाक्यों का अर्थ यही है कि नाटक में धर्म, क्रीड़ा तथा अर्थ के साथ शम का प्रदर्शन भी किया जाता है, नाट्य तपस्वियों को विश्रान्ति प्रदान करता है तथा उसमें ब्रह्मर्षियों का चरित्र भी दिखलाया जाता है। ये कथन भरत के मूल ग्रन्थ से हैं तथा नितान्त प्रामाणिक हैं। अभिनवगुप्त ने प्रथम उद्धरण को देकर पूछा है कि क्या भरत मुनि शान्तरस को अङ्गीकार नहीं करते –

प्रतीयत एवेति मुनिनाप्यङ्गीकृत-एव क्वचिच्छमः इति बदता[1]।

भरत ने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में दर्शकों के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है कि दर्शकों के साथ सामरस्य धारण करना ही नाटक का प्राण है तथा इसी प्रसंग में विविध प्रकार के दर्शकों के तोष का वर्णन इस श्लोक में किया है–

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः[2]।

श्लोक का तात्पर्य है कि संसार से वीतराग दर्शकों का तोष मोक्ष में होता

---

१. ना०शा० २७-५९ काशी संस्करण।

२. द्रष्टव्य अभिनव भारती प्रथम खण्ड पृ० ३.४०।

है। इस श्लोक की संगति तभी बैठ सकती है, जब नाटक के वर्ण्य विषयों में मोक्ष को भी यथोचित स्थान प्राप्त हो सके। अभिनवगुप्त ने भी इस वाक्य की ओर अभिनवभारती में स्पष्ट संकेत किया है[१]। भरत ने २४वें अध्याय में काम को प्रत्येक पुरुषार्थ से सम्बद्ध होने के कारण चार प्रकार का माना है – केवल काम, धर्मकाम, अर्थकाम और मोक्षकाम।

धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।

स्त्रीपुँसयोस्तु संयोगो यः काम स तु संस्मृतः[२]।।

मोक्ष काम का तो स्पष्ट अर्थ है मोक्ष के विषय में अनुराग या प्रेम। यह स्पष्ट ही शान्त की ओर संकेत है। भरत ने स्वयं लिखा है –

धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः[३]।

यहाँ धार्मिक आख्यान तथा पुराणों में प्रदर्शित कथानकों का स्पष्ट निर्देश है, जिसके दर्शन से वृद्धलोग सन्तुष्ट होते हैं तथा आनन्द पाते हैं।

इन तर्कों का सामूहिक फल यह है कि भरत शान्तरस की स्वीकृति न देने पर भी शान्त के उपयोगी वातावरण से परिचित हैं, उसके चित्रण को नाटक में आवश्यक बतलाते हैं तथा उसमें आनन्द लेने वाले वृद्धजनों की चित्तवृत्ति से वे अवगत हैं। नाट्य को लोकवृत्त के ऊपर आश्रित मानने वाला आचार्य क्या कभी शान्तोपयोगी चित्रण से पराङ्मुख हो सकता है? फलतः प्रस्थानवादी आचार्यों के मत को हम कथमपि महत्त्व नहीं दे सकते कि भरत मुनि शान्तरस से सर्वथा अपरिचित हैं।

अन्तर्भाववादी

कतिपय आचार्य शान्तरस की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उसे वे स्वतन्त्र रस की स्थिति में रखना पसन्द नहीं करते, प्रत्युत पूर्वसम्मत किसी रस के भीतर उसका अन्तर्भाव मानते हैं। ये अभाववादी न होकर अन्तर्भाववादी के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

---

१. ना०शा० २४.९१।

२. वही, २७.६१।

३. लोचन, ११७-११८।

४. ध्वन्या, पृ० १७७।

वीर में शान्त रस का अन्तर्भाव

बहुत से आचार्य शान्तरस को वीररस के भीतर अन्तर्भुक्त मानते हैं; क्योंकि वीर का स्थायी भाव उत्साह यहाँ भी विद्यमान रहता है। प्रत्येक कार्य के सम्पादन के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है। बिना उत्साह के कोई कार्य क्या अपनी वास्तविक सिद्धि पा सकता है? शान्तरस के उपादान, त्याग, तपस्या, परोपकार, दया आदि का निर्वाह पूर्णरूप से तभी हो सकता है, जब कर्ता का हृदय उत्साह के द्वारा परिचालित हो। अतः शान्त में भी उत्साह का दर्शन होने के कारण वह वीररस के भीतर समुचित रीति से अन्तर्हित किया जा सकता है।

वीररस के भेदों की अवधि नहीं है। भरत मुनि ने इनके तीन प्रधान भेद माने हैं – युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर। जिनमें युद्धवीर तो वस्तुतः वीररस का शुद्ध निदर्शन है। दानवीर में दान के लिए उत्साह का प्राधान्य रहता है, जैसे सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में राजा हरिश्चन्द्र। धर्मवीर में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में समधिक समुत्साह दृष्टिगोचर होता है, जैसे युधिष्ठिर। अच्युत राय ने तो वीर के बारह भेद मानते हुए उसके अन्य भेदों की भी चर्चा की है। वीर रस का दयावीर भी एक प्रभेद है। इसका प्रादुर्भाव बोधिसत्त्व के परोपकार के निमित्त जीवन के उत्सर्ग जैसे कार्यों में होता है। नागानन्द नाटक में दयावीर की ही प्रधानता है, क्योंकि इसका नायक जीमूतवाहन गरुड़ से नागों की रक्षा करने के लिए अपना समर्पण करने में कभी नहीं हिचकता। दयावीर का स्थायिभाव भी रस के अन्य प्रभेदों के समान ही 'उत्साह' है। फलतः बहुत से आचार्य दयावीर से एकाकार होने के कारण शान्तरस की पृथक् सत्ता मानने के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दयावीर ही शान्तरस का प्रतीक है। अभिनवगुप्त के मत में तो दयावीर, धर्मवीर तथा दानवीर कोई नये रस नहीं हैं, प्रत्युत शान्त के ही ये नामकरण हैं[१]। भट्ट गोपाल ने अपनी काव्यप्रकाश व्याख्या (पृ० १३९-१४०) में स्पष्ट लिखा है कि दयावीर शान्त का ही नामान्तर है और इसीलिए भरतमुनि ने वीररस के तीन ही प्रभेद बतलाये हैं – युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर –

---

१. अभिनव भारती, पृ० ३३८, भाग प्रथम।

दयावीर इति शान्तस्यैव नामान्तरकरणम्, येन
दानवीरं युद्धवीरं धर्मवीरं तथैव च।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा विविध सम्मितम्।
इति त्रैविध्यमेवास्य मुनिना वीरस्याभ्यधायि[१]।

इस मत का उदय श्री हर्ष के द्वारा नागानन्द नाटक की रचना के अनन्तर होना प्रतीत होता है। इस मत में एक विशेषता तो अवश्य है कि यह मत उन लोगों के मत से अवश्य ही शोभन है, जो निर्वेद जैसे संचारी भाव को स्थायी भाव के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उत्साह अवश्य ही स्थायी भाव है वीररस का। अतएव शान्त का स्थायी भाव उत्साह मानने में पहली जैसी गलती तो अवश्यमेव नहीं होती, परन्तु इस सिद्धान्त से भी हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। उत्साह के ऊपर शान्त को आश्रित मानने वाले भी आचार्य बालू की भीत पर अपना किला बना रहे थे; क्योंकि दोनों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर है। आनन्दवर्धन की सम्मति में वीररस अभिमान प्रधान होता है और शान्तरस अहङ्कार प्रशम रूप होता है –

न तस्य वीरेऽन्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्य अभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः[२]।

उत्साह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें बतलाता है कि जब तक प्राणी अपने भीतर सुप्त अहंभाव को जागृत नहीं करता, तब तक उसके हृदय में उत्साह का आविर्भाव नहीं होता। प्राणी को उत्साह किसी कार्य के करने के लिए तभी आता है, जब वह अभिमान को जागृत कर अपने अन्तःप्राण को उद्‌बुद्ध करता है। उधर शान्त में इससे विपरीत स्थिति ठहरती है। शान्त का उपासक व्यक्ति अहंभाव का नितान्त प्रशमन कर देता है। उसका हृदयसागर किसी भी कामना–लहरी से उद्वेलित नहीं होता, कोई भी संकल्प उसके अहंकार को नहीं जगाता। फलतः शान्त व्यक्ति सर्वदा निरीह, निष्काम तथा निरहंकार की स्थिति में रहता है। इस प्रकार स्वरूपगत भेद होने से शान्त रस का अन्तर्भाव वीररस के भीतर कथमपि नहीं किया जा सकता।

---

१. नाट्यशास्त्र ६.८१, काशी संस्करण।

२. योगसूत्र २.४०।

शान्तरस के उन्मीलन में उत्साह की हेतुता का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। दान उत्साह तथा धर्मोत्साह शान्त के ही दो अंग हैं। वीर के अन्य भेदों का भी उत्साह शान्त में अवश्यमेव विराजता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने पाण्डित्य वीर, क्षमावीर जैसे नवीन प्रभेदों को वीररस के भीतर दिखलाया है। इनके भीतर वर्तमान उत्साह की भी शान्त में आवश्यकता है। विरोधी को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए किसी धर्मोपदेशक के हृदय में 'पाण्डित्योत्साह' की मात्रा होनी ही चाहिए। इसी प्रकार 'क्षमावीर' का उत्साह भी शान्त के लिए आवश्यक उपादान है। परन्तु शान्तरस में उत्साह संचारीभाव के रूप में ही उपस्थित रहता है, स्थायीभाव के रूप में नहीं। इसीलिए यह अन्तर्भाव का तथ्य एकदम तर्कहीन तथा अनुपयुक्त है। अभिनवगुप्त इसीलिए उत्साह को शान्तरस में 'अभ्यधिक अन्तरंग' मानते हैं। परन्तु उसे शान्तरस का प्राण (स्थायीभाव) तो कभी भी नहीं मानते –

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायैव उद्यम इति उत्साहोऽस्य परोपकारविषयेच्छाप्रयत्नरूपोदयापरपर्यायः अभ्यधिकोऽन्तरङ्गः। अतएव तत् केचित् दयावीरत्वेन व्यपदिशन्ति, अन्ये धर्मवीरत्वेन[१]।

बीभत्स में शान्त रस का अन्तर्भाव

मोक्ष मार्ग का पथिक अध्यात्म में रति रखता है तथा संसार के विषय में वह घृणा का भाव रखता है। विषयों से वैराग्य होने के लिए उनमें घृणाभाव का उदय स्वाभाविक है। विषय में आसक्त व्यक्ति क्या कभी मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकता है? विषयों के प्रति घृणा होना तो मोक्ष मार्ग का संबल माना जा सकता है। यही जुगुप्सा का भाव है। शान्त में इसकी सार्वत्रिकी स्थिति होने के कारण जुगुप्सा शान्तरस का स्थायी भाव माना जाता है तथा बीभत्स रस के भीतर शान्त का अन्तर्भाव उपन्यस्त है।

जुगुप्सा के विषय में अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत का अपना निजी मत है, जिसका उपन्यास हम अभिनवभारती में पाते हैं। रसों के प्रभेद दर्शन के अवसर पर भरत ने बीभत्स के प्रभेदों का उल्लेख किया है –

---

१. अभिनवभारती, भाग-१, पृ० ३३२।

बीभत्सः क्षोभणः शुद्धः उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः[१]।।

बीभत्स दो प्रकार का होता है – क्षोभण और उद्वेगी। क्षोभण उत्पन्न होता है, रुधिर आदि के देखने से और उद्वेगी पैदा होता है विष्ठा कृमि के द्वारा। इनमें प्रथम प्रकार शुद्ध कहलाता है और दूसरा प्रकार अशुद्ध। इस व्याख्या में 'शुद्धः' 'क्षोभणः' का विशेषण माना गया है, परन्तु भट्टतौत के मत में शुद्ध भी बीभत्स का तृतीय प्रकार है। इसीलिए कहीं-कहीं 'द्वितीयकः' के स्थान पर 'तृतीयकः' पाठ उपलब्ध होता है। संसार के भावों से, वस्तुओं से या द्रव्यों से जो स्वतः घृणा का भाव जनमता है, वही शुद्ध बीभत्स का उत्पादक होता है। पतञ्जलि ने इसीलिए कहा है – **'शौचात् स्वाङ्ग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः'**[२]। शौच के धारण करने से पति को अपने ही अङ्गों में जुगुप्सा उत्पन्न होती है और इसीलिए वह दूसरों से कभी संसर्ग नहीं रखता। वह मोक्षमार्ग में अग्रसर होता है –

उपाध्यायास्त्वाह – बीभत्सस्तावद्विभाव विशेषाद् यत्र तु संसार नाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वात् शुद्धः। यदाहुः 'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा' तथा वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनामिति, तेन सोऽपि परमार्थतः त्रिविध एव[३]।

भट्टतौत के इस मार्मिक कथन का तात्पर्य यह है कि संसार के प्रति राग हटाने के लिए उसके प्रतिपक्ष की भावना नितान्त आवश्यक है। संसार के सुखों का तिरस्कार हम तभी कर सकते हैं, जब हम सांसारिक विषयों के घृणित रूप की भावना करें। फलतः इस प्रतिपक्ष भावना से उत्पन्न बीभत्स का रस शुद्ध कहलाएगा। इतने पर भी भट्टतौत बीभत्स के दो ही प्रभेद मानते हैं, क्योंकि यह बीभत्स रस नितान्त दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम है, जो संसार के विषयों में जुगुप्सा का भाव रखते हों –

---

१. नाट्यशास्त्र ६.८१, काशी संस्करण।
२. योगसूत्र २.४०।
३. अभिनवभारती, भाग-१, पृ० ३३२।

द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेन अप्राचुर्यं सूचयति[१]।।

धनञ्जय इसी बीभत्स के अन्तर्गत शान्त की सत्ता मानने का निर्देश अपने 'दशरूपकावलोक' में किया है।

इस पूर्वपक्ष का यही समाधान है, जो वीररस के विषय में प्रथमत: दिया गया है। जिस प्रकार उत्साह शान्त रस का अन्तरंग भाव है, जुगुप्सा भी वैसा ही है। 'शुद्ध जुगुप्सा' शान्तरस के उदय में सहायक हो सकती है। परन्तु वह शान्त का सर्वस्व नहीं है। अर्थात् जुगुप्सा शान्तरस का केवल संचारीभाव ही है, वह कभी स्थायी भाव की कोटि में नहीं पहुँच सकता। फलत: यह अन्तर्भाव एकदम भ्रान्त और निराधार है।

आदिग्रहणेन विषयजुगुप्सारूपत्वाद् बीभत्सेऽन्तर्भावः शक्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति, न तु स्थायितामेति। पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत एव विच्छेदात्[२]।

इस प्रकार शान्त रस का अभाव मानना कथमपि युक्तियों के सहारे समर्थित नहीं किया जा सकता। कुछ आचार्यों का मत है कि शान्त का चित्रण काव्य में भले ही सिद्ध हो, परन्तु नाट्य में उसका प्रदर्शन कथमपि न्याय्य तथा उचित नहीं प्रतीत होता। इस मत का मौलिक रहस्य यह है – व्यापार के विराम होने पर शान्त की स्थिति है। शान्तरस वहाँ होता है, जहाँ न दु:ख है, न सुख; न द्वेष है और न चिन्ता, न राग है और न द्वेष –

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।।

शान्तरस की यह पर्यन्त भूमि क्या कभी नाटक में दिखलायी जा सकती है? नाटक में होती है व्यापार की प्रधानता तथा अभिनय की मुख्यता, परन्तु शान्त रस का ऊपर चित्रित रूप क्या कभी अभिनय का विषय बन सकता है?

---

१. अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३३२।

२. लोचन, पृ० १७८।

इसका स्पष्ट उत्तर है – नहीं, परन्तु यही दशा तो प्रत्येक रस की पर्यन्त भूमि के अभिनेयत्व के विषय में है। क्या शृङ्गार का चरम उत्कर्ष कभी अभिनीत हो सकता है? ऐसी दशा में केवल शान्त के ऊपर ही अभिनेयता का लाञ्छन लगाना कहाँ तक न्याय्य है? तथ्य यह है कि शान्तरस के विभाव आदिकों का पूर्ण अभिनय रंगमंच पर किया जा सकता है और किया जाता है। नागानन्द शान्तरस प्रधान नाटक है; क्योंकि इसमें बोधिसत्त्व का चित्रण जीमूतवाहन के रूप में किया गया है। इसलिए भगवान् बुद्ध की जीवनलीला को चित्रित करने वाले नाटकों की सफलता इस विषय वाले नाटकों से कथमपि न्यून नहीं है।

इस समीक्षण का यही निष्कर्ष है कि नाट्यकला में शान्तरस का चित्रण पूर्णतया किया जा सकता है। भरत के अनुसार भी यह 'प्रकृतिरस' है, जहाँ अन्य रस उसके एक-एक वैशिष्ट्य को अपनाकर विकृति धारण करते हैं तथा नवीन अभिधानों से मण्डित होते हैं।



सप्तम उन्मीलन
कतिपय आधुनिक नाट्यकार

साहित्य में नाटक एक प्रमुख स्थान रखता है और वह दर्शकों को ऐतिहासिक पात्रों से साक्षात्कार करता है। उन्हें अपने अतीत के नायकों से शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता रहता है। रूपक दृश्यकाव्य का एकमात्र रूप है। दर्शक अपने सम्मुख की घटनाओं को देखता हुआ स्वतः शिक्षा ग्रहण करता है। इस प्रकार नाटक प्राचीन काल से ही शिक्षा देने का सुन्दर ढंग रहा है। नाटक को देखने से प्रेक्षकों के हृदयों में एक अद्भुत आत्मतुष्टि होती है और वे स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, उनके हृदयों से संसारजन्य अनेक क्लेश अभिनीत नाटक का दर्शन करते हुए सीमित काल के लिए दूर हो जाते हैं।

नाटक साहित्य का उद्गम किस प्रकार हुआ, इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। **पिश्चल** नामक एक पाश्चात्त्य विद्वान् का कथन है कि पुत्तलियों के खेल व नाच से ही नाटक-साहित्य का उद्गम हुआ। सूत्रधार शब्द इस मत का प्रमुख आधार है। उपर्युक्त मत के समान ही प्रोफेसर **कोनो** का मत है कि नृत्य कृति से नाटकों का उद्गम हुआ। पतञ्जलि मुनि कृत महाभाष्य में शौनिक कृत्यों का है। विद्वानों के मतानुसार शौनिक मूक या छाया पात्रों के कृत्यों को दर्शकों के मध्य में समझाया करते थे। उपर्युक्त दोनों कार्यों में शौनक कौन सा कार्य करते थे, इस विषय में विद्वान् लोग अभी तक किसी उचित निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। इस आधार पर लूडर्स का मत है कि छाया नाटक ही हमारे देश में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। प्रो० कीथ इस विचार से सहमत नहीं हैं और उनका कथन है कि महाकाव्य का ऐसा अर्थ करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त विशाल संस्कृत साहित्य में छाया नृत्य का नाटक

के प्राथमिक रूप में कहीं उल्लेख नहीं है और इस मत के समर्थकों के समीप कोरी कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई आधार पुष्टि के लिए नहीं रहता। कोनों का मत है कि रामायण और महाभारत के सुमनोरम प्रसंगों को दर्शकों के सम्मुख अभिनय योग्य बनाने में इस प्रथा की सहायता ली गयी।

उपर्युक्त विवाद में न पड़ते हुए हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि नाटक के विकास पर वेदों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और नाटक के प्रधान अंग उसी से उद्धृत किये गये। नाट्यलक्षणशास्त्र के सर्वप्रधान ग्रन्थ भरतनाट्यशास्त्र के कर्ता आचार्य भरत मुनि का इस विषय में मत निम्नलिखित है –

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि[1]।।

ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान; यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को संगृहीत कर पञ्चम नाट्यवेद का निर्माण किया। नाट्य का साहित्य क्षेत्र में अद्भुत स्थान होने के कारण भरत मुनि का इस शास्त्र को पञ्चम नाट्यवेद कहना उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना[2]।।

इस प्रकार समस्त वेदों के अनन्य भण्डार भगवान् ब्रह्मा ने चारों वेद व उपवेदों से सम्बद्ध रखने वाले इस प्रसिद्ध नाट्यवेद का निर्माण किया।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यद्यपि हम नाट्य साहित्य एवं नाटक साहित्य के उद्गम के विषय में निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाये हैं, पर उपर्युक्त सभी मतों का नाटक के उद्गम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पुतली का खेल, छायानृत्य, संवाद नृत्य, गान, वादन, अभिनय आदि विकसित हो, नाटक के रूप में परिवर्तित हुए। नाटक काव्य का रमणीयतम अंग कहा जा सकता है, जो काव्य के समस्त अंगों में शिक्षा देने का सर्वोत्तम रूप है। अतः नाटक के विषय में यह उचित ही कहा गया है –

काव्येषु नाटकं रम्यम्।

---

१. साम० १.५२।
२. भरत० ४.३।

सन् १९०९ ई० के पूर्व विद्वानों की धारणा थी कि महाकवि कालिदास ही संस्कृत साहित्य के उपलब्ध सर्वप्रथम नाटककार हैं। यही विचार प्रो० मेकडोनेल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में भी प्रकट किया है। सन् १९०९ ई० में त्रावणकोर राज्य के तत्कालीन महाराजा की आज्ञा से स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री को पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करते समय तीन चार सौ वर्ष पूर्व के लिखे हुए तेरह रूपक मिले, जिनको उन्होंने महाकवि भास की अमर कृतियों के रूप में घोषित किया। कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मालाविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास का इस प्रकार उल्लेख किया है –

'प्रथितयशसां भाससौमिल्ल-कविपुत्राणां प्रबन्धा-नातिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'।

अर्थात् विख्यात यशवाले भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों की रचनाओं का अतिक्रमण कर किस प्रकार वर्तमान कवि कालिदास की रचनाएँ अधिक सम्माननीय हो सकती हैं। इससे विदित होता है कि कालिदास के समय में इन तीन नाटककारों का यश पर्याप्त विकसित हो चुका था। भास की रचनाएँ तो उपलब्ध हो गयी हैं, परन्तु सौमिल्ल और कविपुत्र के काव्यसर्जन और जीवन के विषय में हमें कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। हम आशा करते हैं कि स्वतन्त्र भारत में विद्या की सर्वाङ्गीण उन्नति के साथ इस लुप्त साहित्य के पुनरुद्धार पर भी सम्यक् ध्यान दिया जायेगा।

ईसा की आठवीं शताब्दी के आरम्भ में मुसलमानों का भारत में प्रवेश हुआ। उनके आगमन का हमारे देश के साहित्य एवं संस्कृति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्ट नारायण के उपरान्त संस्कृत नाटक साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण रचना नहीं हुई। इस काल के उपरान्त मुरारि तथा राजशेखर ही सबसे विख्यात नाटककार हुए हैं। फिर भी यह परम्परा चली आ रही है, जिसमें कतिपय अर्वाचीन नाटककारों का उल्लेख किया जा रहा है।

शक्तिभद्र रचित आश्चर्यचूड़ामणि नामक नाटक सन् १९२६ ई० में मद्रास प्रान्त से प्रकाशित हुआ है। कीथ महोदय भ्रमवश इसका नाम आश्चर्य-

मञ्जरी समझ गये। शक्तिभद्र के समय के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये शङ्कराचार्य के शिष्य थे, जिनका समय सन् ७८८ से ८२० तक है। अतः इनका समय सन् ८०० ई० के लगभग हो सकता है। आश्चर्यचूड़ामणि का कथानक रामायण के आधार पर रचा गया है। नाटक को रोचक रूप प्रदान करने के लिए कवि ने मूल कथा में यत्र तत्र कतिपय परिवर्तन किये हैं। इसमें शूर्पणखा-प्रसंग से सीता की अग्निपरीक्षा पर्यन्त कथा का समावेश है।

कृष्ण मिश्र द्वारा रचित प्रबोधचन्द्रोदय नामक केवल एक ही नाटक उपलब्ध हुआ है। आप जैजाकभुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासन काल में विद्यमान थे। सन् १०९८ ई० में लिखा हुआ कीर्तिवर्मा का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय निश्चित ही सन् ११०० ई० के लगभग का है। प्रबोधचन्द्रोदय शान्तरस प्रधान एक एकांकी नाटक है। वेदान्त मत के अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नाटककार का मुख्य उद्देश्य है। कवि ने श्रद्धा, भक्ति, विद्या, ज्ञान, मोह, विवेक, दम्भ, बुद्धि इत्यादि अमूर्त भावमय पदार्थों को विभिन्न स्त्री और पुरुष पात्रों में विभक्त कर अध्यात्म विद्या का सुन्दर एवं रोचक उपदेश प्रस्तुत किया है।

प्रसन्नराघव के रचयिता कवि जयदेव विदर्भ प्रान्त के अन्तर्गत कुण्डिनपुर के निवासी थे। उनकी माता का नाम सुमित्रा तथा पिता का नाम महादेव था। उनका समय लगभग सन् १२०० ई० है। प्रसन्नराघव नाटक की रचना के अतिरिक्त उन्होंने चन्द्रालोक नामक अलङ्कार ग्रन्थ की भी रचना की है। गीतगोविन्द के रचयिता वंगीय जयदेव से ये सर्वथा भिन्न हैं। प्रसन्नराघव ही इनकी एकमात्र उपलब्ध नाटक रचना है। इसका कथानक रामायण के आधार पर है। अपना नाट्य कौशल प्रकट करने हेतु कवि ने इस ग्रन्थ में कतिपय मौलिक परिवर्तन भी किये हैं। सीता स्वयंवर से लेकर रावण वध के उपरान्त राम के अयोध्यागमन तक की कथा का इसके सात अंकों में समावेश है।

१. कवि वत्सराज

कवि वत्सराज कालिंजर-नरेश परमर्दिदेव के मन्त्री थे, जिनका समय सन् ११६३ से १२०३ ई० तक है। अतः वत्सराज का समय सन् १२०० ई० के

लगभग का है। आपने छः नाटक ग्रन्थों की रचना की। भास के समान ही आपने विविध रूपकों की रचना की। आपके रूपक तथा उनका विवरण निम्नलिखित हैं –

१. **कर्पूरचरित** – यह एकांकी भाण है। इसमें द्यूत का खिलाड़ी कर्पूर अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है।

२. **किरातार्जुनीय** – यह भारवि कवि के प्रसिद्ध किरातार्जुनीय महाकाव्य के आधार पर रचा हुआ एकांकी व्यायोग है।

३. **हास्यचूड़ामणि** – एकांकी प्रहसन है।

४. **रुक्मिणीहरण** – यह महाभारत के आधार पर चार अंकों का एक ईहामृग है।

५. **त्रिपुरदाह** – यह चार अंकों का एक डिम है। इसमें भगवान् शंकर द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस होने का वर्णन किया गया है।

६. **समुद्रमन्थन** – यह तीन अंकों का समवकार है। इसमें सर्वप्रथम देवताओं तथा राक्षसों द्वारा समुद्र-मन्थन की रोचक कथा का नाटकीय चित्रण है। अन्त में चौदह रत्नों की प्राप्ति के उपरान्त विष्णु तथा लक्ष्मी के मङ्गलमय परिणय का वर्णन किया गया है।

त्रिपुरदाह और समुद्रमंथन दोनों ही रूपकों में पौराणिक आधार पर कवि ने रमणीय रचना की है। उनकी शैली, सरस, मधुर, ललित एवं प्रभावोत्पादक है। दीर्घ समास एवं दुरूह वाक्यविन्यास का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। इनके रूपकों में क्रियाशीलता, रोचकता तथा घटनाओं की प्रधानता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

ईसा की बारहवीं शताब्दी में हमारे प्राचीन समृद्धिशाली देश भारतवर्ष में यवनों के प्रभुत्व का श्रीगणेश हुआ। परिणाम यह हुआ कि अब तक संस्कृत के पठन-पाठन को जो राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था, वह शनैः शनैः न्यून होने लगा। कविगण एवं साहित्यकारों की रचनाएँ प्रायः शिक्षित, सभ्य समाज तक ही सीमित रहने लगीं तथा जनसाधारण के लिए दुर्बोध होने के कारण उनका व्यापक प्रचार न हो सका। विदेशीय सम्पर्क के कारण हमारी दैनिक भाषा में उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का प्रसार होने लगा। इससे उन भाषाओं ने धीरे-धीरे

संस्कृत का स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया और हिन्दी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं का जन्म हुआ।

इस विषय में एक बात उल्लेखनीय है और वह यह है कि यद्यपि भारत के कुछ भागों में मुसलमानों का आधिपत्य अवश्य स्थापित हो गया था, फिर भी संस्कृत भाषा एवं साहित्य के स्वतन्त्र विकास तथा प्रगति में किसी प्रकार की कमी नहीं आ पायी। भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर अनेक समृद्धिशाली नरेश छोटी-छोटी रियासतों पर राज्य करते रहे। चाहे उनमें संग्रामशक्ति कम रही हो, पर वे विद्याव्यसनी अवश्य थे। अन्य कठिनाइयों के उपस्थित रहने पर भी वे संस्कृत विद्वानों एवं साहित्यकारों को आश्रय देते रहे। संस्कृत के विद्वानों ने भी दारिद्र्य की नाना कठिनताओं का सामना करते हुए भी इस भाषा में साहित्य रचना की परम्परा स्थिर रखी, जिससे उसमें किसी प्रकार का अवरोध सम्भव न हो सका।

यह सत्य है कि इस काल में रचा हुआ साहित्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि प्राचीन काल का। फिर भी संस्कृत में इस समय भी सभी प्रकार के साहित्य का सतत रूप से सृजन होता है। संस्कृत नाटक साहित्य का प्रचार भी अवरुद्ध गति से होता रहा, यद्यपि कालिदास के प्रकृतिचित्रण, शृङ्गारप्रियता, व्यञ्जनावृत्ति एवं भवभूति के भाव-गाम्भीर्य को देखते हुए वे ग्रन्थ बहुत ही महत्त्व के प्रतीत होते हैं। पुनश्च नाटकरचनाप्रणाली की धारा को सतत प्रवाहमयी बनाने वाले कतिपय आधुनिक नाटककारों का उल्लेख अङ्गुल्यग्रगणनीय पद्धति से प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. यशचन्द्र– ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के मध्य एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ। परिणामतः कुमुदचन्द्र का पक्ष विजयी घोषित किया गया। इसी घटना को लक्ष्य करके यशचन्द्र ने (१२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) मुदितकुमुदचन्द्र नामक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है।

२. कविराज शंखधर (१२वीं शताब्दी ई०)

काव्यकुब्ज नरेश गोविन्दचन्द्र के सभा पण्डित थे, जिनके पुत्र जयचन्द्र को प्रत्येक इतिहास का विद्यार्थी जानता है। इन्होंने लटमेलक नामक विख्यात

संस्कृत प्रहसन ग्रन्थ की रचना की है। यह प्रहसन संस्कृत का सबसे मनोरंजक रूपक है। लटमेलक का शाब्दिक अर्थ धूर्त सम्मेलन है। शाक्त ने अपने मित्र जटासुर का उसकी इच्छा के अनुसार एक वेश्या की दन्तुरा नामक दासी से तथा अपना स्वयं वेश्या के साथ स्वयंवर विवाह करा दिया। इस प्रधान कथा के साथ-साथ कवि ने सामाजिक दशा का बड़ा मनोरंजक दृश्य उपस्थित किया है।

३. विग्रहराज (१२वीं शताब्दी ई०)

इनके पिता का नाम अण्णोराज था। इनके समय में भारतवर्ष में मुसलमानों के प्रभुत्व का श्रीगणेश हो गया था। इन्होंने हरकेलि नामक एक नाटक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें महाभारत के आधार पर लिखे हुए भारवि रचित किरातार्जुनीय महाकाव्य का नाटकीय रूप प्रदान किया गया है।

४. रामचन्द्र (१२वीं शताब्दी ई०)

ये प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हेमचन्द्र के शिष्य थे। इनके विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि हेमचन्द्र के प्रभाव से इनका एक नेत्र ज्योतिर्विहीन हो गया था, जिससे ये जैनमत के सिद्धान्तानुसार एक नेत्र से समस्त प्राणिमात्र पर सामान्य दृष्टि रख सकें। जनश्रुति के अनुसार रामचन्द्र ने सौ से अधिक ग्रन्थों का निर्माण किया, जिनमें अधिकांश काल की कराल गति में लुप्त हो गये। नवविलास, रघुवंश, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, निर्भय भीम, सत्य हरिश्चन्द्र, कौमुदी-मित्रानन्द उनकी प्रमुख नाटक रचनाएँ हैं।

५. रुद्रदेव (राज्यकाल १२६८-१३१९ ई०)

वारंगल प्रदेश के अन्तर्गत एकशिला नामक राज्य के शासक थे। ये स्वयं कवि थे। इन्होंने अनेक साहित्यकारों को आश्रय भी दिया था। इनकी साहित्यिक कृतियों में केवल उषर्गेदिय और ययातिचरित्र नामक दो नाट्य रचनाएँ ही उपलब्ध हैं। उषर्गेदिय एक नाटिका है, जिसमें उषा और अनिरुद्ध की प्रणय कथा समाविष्ट है। ययातिचरित्र में पौराणिक आख्यान के आधार पर देवयानि, शर्मिष्ठा एवं ययाति के प्रसंग का चित्रण है।

६. सुभट (१२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

सुभट ने दूतांगद नामक एक छाया नाटक की रचना की है। यह नाटक अहनिलवाड में महाराज त्रिभुवनपालदेव के दरबार में १२४२ ई० के लगभग सर्वप्रथम अभिनीत किया गया था। भारतवर्ष में सोमनाथ का मन्दिर अपनी समृद्धि के लिए बहुत दिनों से विख्यात था और उसमें अपार धनराशि थी। प्रसिद्ध मुसलमान लुटेरे गजनवी ने उसको लूटा और उसमें स्थित शिवमन्दिर एवं प्रतिमा को तोड़ डाला। राजा कुमारपाल ने उस मन्दिर का पुनर्निर्माण किया और शिव प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। इसी अवसर पर सुभट ने अपने अलौकिक नाटक दूतांगद की रचना की।

छाया नाटकों का अभिप्राय उन नाटकों से है, जिनमें पात्र स्वयं मंच पर दर्शकों के सम्मुख उपस्थित नहीं होते, अपितु परदे के पीछे इस प्रकार अभिनय करते हैं कि उनकी छाया परदे पर पड़ती है और अभिनय करती हुई सी प्रतीत होती है। इस प्रकार के नाटक प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सके हैं। सुभटकृत दूतांगद ही इस प्रकार का प्रथम उपलब्ध छाया नाटक है।

७. जयसिंह सूरि (सन् १२२५)

आपका एक मात्र नाटक हमीरमर्दन है। उसके अनुसार गुजरात के शासक हम्मीर पर यवनों ने आक्रमण कर उनकी दुर्दशा की और धवल एवं उनके मन्त्री वास्तुपाल ने इस अवसर पर अलौकिक चमत्कार दिखलाये।

८. विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ)

विश्वनाथ वारंगल-नरेश प्रतापरुद्रदेव के आश्रित कवि थे, जिनका राज्यकाल सन् १२९४ से १३२५ ई० है। अतः विश्वनाथ का समय निश्चित ही १४वीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध है। दरबार में उपस्थित विद्वानों के मनोरञ्जन के लिए विश्वनाथ ने सौगन्धिकाहरण नामक एक विख्यात एकांकी नाटक ग्रन्थ का प्रणयन किया। सौगन्धिकाहरण का कथानक महाभारत से उद्धृत है।

पाण्डवों के अज्ञातवास के समय द्रौपदी गन्धर्वों द्वारा लायी हुई कई सुगन्धित पुष्प मञ्जरियों को देखती है और अपने वीर पति भीम से उनके ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करती है। भीम अपनी प्रियतमा की अभिलाषा पूर्ण करने

के लिए उक्त मंजरियों को जिन्हें कवि ने सौगन्धिका के नाम से सम्बोधित किया है, लेने के लिए प्रस्थान करते हैं। कुबेर भीम के अतिशय पराक्रम पर मुग्ध होकर और उसके युक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर उक्त सौगन्धिका पाण्डवों को उपहार स्वरूप भेंट करते हैं। जिस समय भीम अपना निर्दिष्ट कार्य पूरा कर अपने भाइयों के समीप पहुँचते हैं, उस समय उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती।

९. मनिक (१४वीं शताब्दी)

ये नटेश्वर के शिष्य एवं राजवर्द्धन के पुत्र थे। इनका प्रादुर्भाव प्रसिद्ध सुलतान फीरोजशाह तुगलक के राज्यकाल में हुआ था। इन्होंने भैरवानन्द नामक रूपक की रचना की, इसमें भैरव एवं मदनवती अप्सरा की प्रणयकथा समाविष्ट है।

१०. व्यास रामदेव (१५वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

व्यास रामदेव कलचुरि नरेशों के आश्रित कवि थे। इन नरेशों के राज्यकाल सम्भवतः सन् १४०२ से १४१५ ई० है। अतः व्यास रामदेव की स्थिति भी इसी समय के लगभग रही होगी। उन्होंने रामाभ्युदय, पाण्डवाभ्युदय और सुभद्रापरिणय नामक तीन नाटकों की रचना की है। उनकी इन तीनों रचनाओं में सुभद्रापरिणय सबसे प्रमुख है तथा एक प्रकार की विशेष प्रतिभा का दिग्दर्शन उपस्थित करता है। यह छाया नाटक है।

जीवराम याज्ञिक (१५वीं शताब्दी)

आपने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण की बाललीलाओं के आधार पर सन् १४८५ ई० में मुरारि विजय नाटक का निर्माण किया था।

गोकुलनाथ (१६वीं शताब्दी)

गोकुलनाथ श्रीनगर के शासक फतेहशाह के दरबारी राजकवि एवं मिथिला के शासक महाराज रघुवंश सिंह के समकालीन थे, जिनका समय सन् १६१५ ई० है। उन्होंने संस्कृत में कई नाटकों की रचना की है, जिनमें विश्ववसु की पुत्री मदालसा के विवाह के अवसर पर रचित मुदितमदालसा नामक रूपक भी

है। उनकी नाटक-रचनाओं में अमृतोदय नामक एक रूपकात्मक नाटक सर्वप्रधान है। इस ग्रन्थ में जीवात्मा के आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक की घटनाओं का समावेश किया गया है।

लक्ष्मण माणिक्यदेव (१६वीं शताब्दी ई०)

प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर (१५५६-१६०५) के समय में यह नोआखाली का शासक था। इसने कई नाटक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें केवल दो ही उपलब्ध हुए हैं। कुवलयाश्वचरित में कुवलयाश्व और मदालसा के प्रणय प्रसंग का तथा विख्यातिविजय में नकुल और कौरवों के संग्राम का वर्णन समाविष्ट है।

कुमार ताताचार्य (१७वीं शताब्दी ई०)

ये रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी एवं तंजोर के शासक रघुनाथ नायक तथा विजयराघव नायक की राजसभा में प्रधान पण्डित थे। उनका शासनकाल सन् १६१४ ई० से प्रारम्भ होता है। पारिजातहरण की कथा के आधार पर पाँच अंकों में पारिजात नाटक की रचना कर कवि ने अपना रचनाकौशल प्रकट किया है।

रामानुज (१७वीं शताब्दी ई०)

ये बाधूत गोत्र में उत्पन्न हुए थे और दक्षिण के निवासी थे। रंगनाथ और वसुलक्ष्मी के परिणय के आधार पर इन्होंने वसुलक्ष्मीकल्याण नाटक ग्रन्थ की रचना की है।

रामभद्र दीक्षित (१७वीं शताब्दी ई०)

रामायण की कथा को कल्पनाशक्ति के आधार पर परिवर्तित करते हुए रामभद्र दीक्षित ने जानकीपरिणय नामक लोकप्रिय नाटक ग्रन्थ की रचना की है।

सम्राज दीक्षित (१७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

ये मथुरा के निवासी एवं बुन्देलखण्ड के शासक आनन्दार्य के आश्रित राजकवि थे। इन्होंने सन् १६८१ ई० में श्रीदामचरित नाटक एक रूपकात्मक

नाटक की रचना की है। इसमें श्रीदामा नामक एक व्यक्ति की जीवनकथा समाविष्ट है। वह एक विद्वान् दरिद्र व्यक्ति है तथा लक्ष्मी की अपेक्षा सरस्वती की उपासना को ही श्रेयस्कर समझता है।

भूमिनाथ (१७वीं शताब्दी)

भूमिनाथ कौशिक गोत्र में उत्पन्न हुए थे और उनके पिता का नाम बालचन्द्र था। वे नल्लाकवि के नाम से विख्यात हैं। उन्होंने रामभद्र दीक्षित से विद्योपार्जन किया था। उन्होंने तंजोरनरेश शाहजी के जीवन के आधार पर धर्म-विजय चम्पू ग्रन्थ की रचना की है। शाहजी का राज्यकाल सन् १६८४ से १७१० ई० है। अतः नल्लाकवि इसके पश्चाद्वर्ती समय १८वीं शताब्दी ई० में हुए होंगे। उनकी नाटक रचनाओं में चित्तवृत्तिकल्याण और जीवमुक्तिकल्याण रूपकात्मक हैं। शृङ्गारसर्वस्व भाण उनकी सर्वोत्तम नाटक रचना है, जो भाण प्रकार का संस्कृत रूपक है।

सत्रहवीं शती के बाद के नाटककार

अभी तक हमने भारतवर्ष के अर्वाचीन युग अर्थात् १००० से १७०० के मध्य में रचे हुए कतिपय संस्कृत नाटक ग्रन्थों का संक्षेप में अनुशीलन किया। मुसलमानों के समय में उर्दू और फारसी राजकीय भाषाएँ रहीं तथा संस्कृत भाषा को उतनी सहायता न मिल सकी, जितनी मिलनी चाहिए थी। वे शासक यद्यपि अरब, तातार आदि से आये थे, फिर भी उन्होंने हमारी सभ्यता और संस्कृति को बहुत कुछ सीमा तक अंगीकार किया था। कुछ मुसलमानों ने संस्कृत का सम्यक् अध्ययन भी किया। इस विषय में प्रसिद्ध मुगल सम्राट् औरंगजेब का बड़ा भाई दाराशिकोह का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अभ्यास किया और अन्त में अनुभव किया कि जितनी शान्ति उन्हें उपनिषदों के अध्ययन से प्राप्त हुई, उतनी पहले किसी भाँति नहीं हुई थी।

इस प्रकार उक्त शासन में संस्कृत के पठन-पाठन व साहित्य-रचना में किसी प्रकार का अवरोध सम्भव न हो सका। १८वीं शताब्दी के अन्त में संस्कृत का कितना प्रचार था, इस विषय का वर्णन करते हुए '**भारत में अंग्रेजी राज**' के यशस्वी लेखक सुन्दरलाल ने तो अपने ग्रन्थ में मैक्समूलर का उद्धरण उपस्थापित किया है। उसका भाव इस प्रकार है –

अंग्रेजों का आधिपत्य आरम्भ होने के पूर्व भारत में शिक्षा व्यवस्था बहुत ही सुव्यवस्थित थी। केवल बंगाल में ८०,००० देशी पाठशालाएँ थीं, जिनमें प्राचीन प्रणाली से अध्ययन एवं अध्यापन सम्भव होता था। यह केवल बंगाल का विवरण है। इससे समस्त भारत में तत्कालीन विद्याप्रचार की दशा पर स्वयं विचार किया जा सकता है।

इस समस्त विवरण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत में ग्रन्थनिर्माण की परम्परा उस काल में निरन्तर वर्तमान रही। उसके उपरान्त आधुनिक युग में सन् १७०० से अब तक भी संस्कृत नाटकों तथा अन्य ग्रन्थों का निर्माण होता रहा है, जिससे प्रतीत होता है कि संस्कृत जीवित जाग्रत भाषा रही है और रहेगी। इस अध्याय में हम उसका संक्षिप्त अनुशीलन करेंगे।

१. जगन्नाथ (१८वीं शती ई०)

ये नाना फड़नवीस के समय में काठियावाड़ के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार थे। इन्होंने अलङ्कार एवं आभूषणों को भावनगर के शासक बख्तसिंह जी का दरबारी पात्र बनाकर सौभाग्यमहोदय नाटक की रचना की है।

२. आनन्दराय मखी (१८वीं शताब्दी ई०)

इन्होंने विद्यापरिणय नामक एक नाटक की रचना की है। इस ग्रन्थ का मूल रचयिता वेद कवि था, जो तंजोर के शासक आनन्दराय मखी या आनन्दराय पेशवा, तुक्कोजी एवं सरभोजी का दरबारी राजकवि था। उसने पेशवा के नाम से अपने ग्रन्थ को प्रकाशित करना अपनी कीर्ति और यश का साधन समझा। इन सबका समय १८वीं शताब्दी ई० है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रन्थ की रचना १८वीं शताब्दी ई० में हो चुकी थी।

विद्यापरिणय नाटक में भावात्मक पात्रों के मानवीकरण का रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। नाटक में जीवात्मा एवं विद्या जैसे गूढ़ तत्त्वों का नायक-नायिका के रूप में पात्रीकरण किया गया है और उनके परिणय को लक्ष्य करके ग्रन्थ की रचना हुई है।

शंकर दीक्षित (१८वीं शताब्दी ई० का आरम्भ)

ये बालकृष्ण दीक्षित के पुत्र थे, जो व्यासजीवन के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने प्रद्युम्नविजय नामक नाटक की रचना की, जो पन्ना के राजा सभासुन्दर के राज्याभिषेक के अवसर पर प्रथम बार अभिनीत हुआ था।

विश्वनाथ (१८वीं शताब्दी ई०)

इन्होंने मृगाङ्कलेखा नामक नाटिका की रचना की है। यह चार अंकों की एक नाटिका है। इसमें आसाम की राजकुमारी मृगाङ्कलेखा तथा कलिंग के अधिपति कर्पूरतिलक की प्रणय कथा समाविष्ट है।

महामहोपाध्याय शंकरलाल (सन् १८४४ से १९१६ ई०)

आप काठियावाड़ के परशुपुरा नगर के निवासी थे। बाल्यकाल से ही आपने प्रतिभा प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया। अपनी योग्यता के कारण २१ वर्ष की अवस्था में ही आप मोरगी संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल के गौरवमय पद पर आसीन हुए। आपने संस्कृत में गद्य, पद्य, कथा, नाटक आदि साहित्य के विभिन्न अंगों से अपनी काव्यप्रतिभा का दिग्दर्शन कराया है। आपके रचे हुए नाटक ग्रन्थों में सावित्रीचरित, ध्रुवाभ्युदय, भद्रयुवराज, वामनविजय, पार्वतीपरिणय आदि प्रसिद्ध हैं।

वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य (१९वीं शताब्दी ई० का मध्य)

वैद्यनाथ नदिया के राजा ईश्वरसेन के दरबारी राजकवि थे तथा उसके आज्ञानुसार इन्होंने पाँच अंकों में चैत्रयज्ञ नाटक की रचना की। इसमें दक्ष के यज्ञ के अवसर पर देवताओं के भव्य स्वागत का वर्णन समाविष्ट है।

मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक (१८८६ ई० से)

आपका जन्म नडियाद नगर के प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में ३१ जनवरी, सन् १८८६ ई० को हुआ था। बड़ौदा कालेज में अध्ययन करने के उपरान्त आपने सन् १९०९ में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। अपनी असाधारण योग्यता के कारण आप शीघ्र ही राजकवि संस्कृत महाविद्यालय बड़ोदा के आचार्य नियुक्त हुए। आपने तीन रूपकों की रचना की है, जिनके आधार इतिहास के

सुप्रसिद्ध आख्यान हैं।

छत्रपति साम्राज्य नामक रचना में महाराष्ट्रकेशरी शिवाजी के शासन को दस अंकों में नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। प्रतापविजय के ९ अंकों में मुगलकाल के भारतीय मर्यादा की अपने अटल पराक्रम से रक्षा करने वाले राजस्थानविभूति महाराणा प्रताप सिंह के जीवन को नाटक का लक्ष्य बनाया गया है। संयोगिता स्वयंवर में भारत के वीर सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के जीवन की कतिपय घटनाओं का समावेश किया गया है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९०० ई०)

पं० अम्बिका दत्त व्यास के पूर्वज जयपुर राज्य के निवासी थे। कार्यवश उनके पितामह वाराणसी में आकर बस गये। व्यास जी बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि के थे। प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर वे राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, पटना में संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए और जीवनपर्यन्त इसी पद पर विभूषित रहे। व्यास जी हिन्दी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं के उत्कृष्ट विद्वान् थे और उन्होंने सब मिलाकर दोनों भाषाओं में ७५ से अधिक ग्रन्थों की रचना की है।

महाराष्ट्रकेशरी छत्रपति शिवाजी के जीवन को संस्कृत में उपन्यास का रूप प्रदान करके उन्होंने शिवराजविजय नामक गद्यकाव्य की रचना की है। उनकी अन्य रचनाओं में 'सामवतम्' एक मनोहर नाटक है, जो साहित्यरसज्ञों के हृदय में अनुपम रोचकता का संचार करता है। नाटक का कथानक अत्यन्त मनोरंजक ढंग पर निरूपित किया गया है।

अम्बिकादत्त व्यास ने नाटक के कथानक के साथ-साथ प्रकृति-वर्णन, भिक्षुकों की दशा और दरिद्रता से उत्पन्न अनेक बाधाओं का चित्रण किया है। वसन्त ऋतु में प्रकृति की छवि तथा होलिकोत्सव के अवसर पर जन-साधारण का आनन्दोल्लास ग्रन्थ में दर्शनीय है। पशुओं की स्वाभाविक दशा एवं संगीत कला के अतिशय प्रभाव का भी कवि ने मनोरम चित्र खींचा है।

एक वनवासी मुनि के आश्रम में खरगोशों की स्वाभाविक दशा का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है –

श्यामाकशोभिदशनोऽशनमद्य कृत्वा
गच्छत्ययं तु शशकः शशभृत्कलेव।

मन्ये महर्षितनुजाकरलालितोऽस्ति
लोला कलः पुलकितो ललितः सुलोमा[1]।।

कथानक के निर्माण में कवि को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई है। दुर्वासा मुनि के अक्षम्य शाप के कारण सामवत का स्त्रीत्व को प्राप्त होना नाटक की सर्वप्रथम घटना है। अलङ्कारों के यथावत् निरूपण में भी कवि ने अपनी अलौकिक रचनाशक्ति का परिचय दिया है। श्लेष एवं यमक अलङ्कारों का यथावत् प्रयोग हुआ है।

महामहोपाध्याय पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित (१८७८ ई०)

पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित संस्कृत के उन आधुनिक विद्वानों में हैं, जिनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। विदेशियों के सहस्रवर्ष के सतत सम्पर्क के कारण आधुनिक काल तक संस्कृत का प्रचार पर्याप्त कुण्ठित होता गया, फिर भी इस भाषा की स्वतन्त्र प्रगति को रोकने में कोई भी पूर्णरूपेण समर्थ न हो सका। मुसलिम आक्रमण के अनन्तर संस्कृत साहित्य का निर्माण कुछ अवरुद्ध हो गया। उच्च कोटि के विद्वान् भी मौलिक ग्रन्थों की रचना न करके टीकाओं की रचना तक ही सीमित रहने लगे। ऐसे युग में बहुलता से संस्कृत ग्रन्थों का सर्जन करना कल्पनामात्र ही प्रतीत होता है।

फिर भी पण्डित जी ने कुल लगभग २४ संस्कृत ग्रन्थों की रचना की है, जो कि आधुनिक संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण रत्न हैं। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण की सिद्धान्तकौमुदी, दर्शन, काव्य, पाली प्राकृत व्याकरण, वैद्यक, नाटक आदि सभी अंगों में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की है।

पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित के पितामह पं० हरिहर दीक्षित अवध प्रान्त के गणमान्य वैद्य थे और जनसाधारण में पीयूषपाणि के नाम से विख्यात थे। उनके द्वितीय पुत्र पं० बद्रीनाथ दीक्षित की धर्मपत्नी कुन्ती देवी के गर्भ से पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी सं० १९३५ वि० (सन् १८७८ ई०) में हरदोई जिले के अन्तर्गत भगवन्तनगर नामक ग्राम में हुआ। तेरह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह पं० शिवनारायण पाण्डेय की पुत्री गौरी देवी के

---

१. साम०, १.५२।

साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। आरम्भ से ही अध्ययन के प्रति आपकी प्रगाढ़ अभिरुचि थी और बाल्यकाल से ही आपने अपने साहित्यिक चमत्कार प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया था। शास्त्रार्थ करने की आपकी अद्भुत प्रणाली का अवलोकन कर आपके सहपाठी एवं अध्यापक गण दंग रह जाते थे।

पं० मथुरा प्रसाद जी ने छः नाटक ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं –

१. कुण्डगोतनिर्णय, २. अभिधानराजेन्द्र कोष, ३. पालिप्राकृत व्याकरण, ४. प्राकृतप्रदीप, ५. मातृदर्शन, ६. पाणिनीय सिद्धान्तकौमुदी, ७. कविता रहस्य, ८. केलिकुतूहल, ९. रोगी–मृत्यु–दर्पण।

दीक्षित जी ने जिन नाटक ग्रन्थों की रचना की है, वे निम्नलिखित हैं –

१. वीरप्रताप – इसमें राणा प्रताप के जीवन को अपने वर्णन का विषय बनाया है। इस नाटक में वीर रस प्रधान है, जो कि पाठकों के अन्तःकरण में एक अद्भुत शक्ति का संचार करता है। इसके नायक महाराणा प्रताप सिंह तथा प्रतिनायक अकबर हैं। हल्दीघाटी का इतिहास–प्रसिद्ध संग्राम, भामाशाह की अलौकिक स्वामिभक्ति एवं आर्थिक सहायता तथा राज्य की पुनः प्राप्ति इस नाटक की प्रमुख कथावस्तु है।

२. शंकरविजय – यह एक दार्शनिक नाटक है। दर्शनशास्त्र में पाये जाने वाले सभी मतों का इसमें यथास्थान निरूपण किया गया है और बड़े ही सुन्दर नाटकीय ढंग से उन सबका विवेचन भी समाविष्ट है। ग्रन्थ में वीर रस प्रधान है और अन्य रसों का भी प्रपाणकरस न्याय से समावेश कर दिया गया है। ग्रन्थ में हास्यरस की मार्मिक अभिव्यक्ति नाटककार की लेखनी का अलौकिक चमत्कार है।

३. पृथ्वीराज – यह एक दुःखान्त नाटक है। मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज का इतिहास प्रसिद्ध युद्ध इस नाटक का प्रमुख विषय है।

४. भक्तसुदर्शन – इसमें दीक्षित जी ने प्रागैतिहासिक काल की घटनाओं का उल्लेख किया है। इस कृति का आधार कवि की कल्पना न होकर प्रसिद्ध पुराण देवी भागवत के अन्तर्गत तृतीय स्कन्ध के १४ से २५ पर्यन्त अध्याय है। इस कथा में भगवती दुर्गा के माहात्म्य का उल्लेख किया गया है। यह वीररस

प्रधान है। सुदर्शन की उक्तियों के प्रत्येक शब्द में वीररस की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। भरद्वाज मुनि के प्रति इसका अनुराग भी अनुकरणीय है। इस नाटक में स्थान-स्थान पर संस्कृत गीतों का भी विशेष रूप से समावेश किया गया है।

५. **गाँधीविजयनाटकम्** – इस नाटक का कथानक भी अत्यन्त विस्तृत है। इस ग्रन्थ में पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित ने राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जीवन की कतिपय घटनाओं को नाटकीय रूप प्रदान किया है। महात्मा गाँधी द्वारा अफ्रीका में सत्याग्रह प्रारम्भ करने से लेकर भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर्यन्त घटनाओं का इसमें समावेश है। यह दो अंकों का नाटक है।

यह एक बहुत छोटा सा नाटक है। तब भी इसमें २४ पुरुष एवं ४ स्त्री पात्र हैं। संस्कृत नाटक साहित्य में सदा से ही यह परम्परा चली आयी है कि राजा, विद्वान्, नायक आदि प्रधान पात्र संस्कृत तथा अन्य निम्न पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। दीक्षित जी ने प्राकृत भाषा योग्य पात्रों से प्राकृत का प्रयोग न करवाकर हिन्दी का ही प्रयोग करवाया है। इस प्रकार उन्होंने प्राकृत का मान हिन्दी को दिया है और वे एक नवीन परम्परा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं।

६. **भारतविजयनाटकम्** – २०वीं शताब्दी में लिखा हुआ यह संस्कृत का एक सर्वोत्तम नाटक है। पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित की सर्वोत्कृष्ट रचना के रूप में इस ग्रन्थ के अन्तर्गत उनकी काव्य एवं नाट्य प्रतिभा का पूर्ण परिपाक मिलता है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें सिराज के समय में उनसे अंग्रेजों को बिना कर दिये व्यापार करने की अनुज्ञा प्राप्त करने से लेकर भारत की काल्पनिक स्वाधीनता-प्राप्ति पर्यन्त कथा का समावेश है। पराधीन भारत में विदेशियों से मुक्त कराने की घटना का समावेश करना कवि की अनुपम दूरदर्शिता का परिचायक है। कथानक को देखने से विदित होता है कि इसमें तीन सौ वर्ष के दीर्घ घटनाक्रम को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। इस नाटक में सात अंक हैं।

भरत मुनि के नियमों के अनुसार नाटक में श्रृंगार अथवा वीर रस प्रधान होना चाहिए। अतः संवादों के परस्पर वार्तालाप में इतिहास के दीर्घ-प्रसंगों का

वीरतापूर्ण वर्णन किया गया है। घटना-प्रधान होने पर भी स्थान-स्थान पर करुण और वीर रस का अत्यन्त मार्मिक, रोचक एवं सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अंक में गुप्तचर द्वारा बंगाल में जनता पर कर बढ़ाने की सूचना मिलने पर भारत माता अपने पुत्रों की दुर्दशा पर विलाप करती हुई कहती हैं –

तन्वा शान्त इति प्रमुह्य करुणाक्रान्तात्मनाऽसौ मया
भस्मच्छन्न इवानलस्तृणचये देशे सुखं स्थापितः।
किं कुर्यां परितो ममापि तनया नयोन्यतो भेदयन्
प्राणैर्हन्ति नियोजयत्यविनये सर्वात्मना बाधते[१]।।

इसी प्रकार भारतविभूति वीराग्रणी आदर्श देशोद्धारिका महारानी लक्ष्मीबाई के अग्निप्रवेश का अवलोकन करती हुई भारतमाता का कथन अत्यन्त करुणोत्पादक है। वह कहती है –

पश्येयं घनसारवन्निजतनुं बालात्मजेकाकिनी
शौर्येणाशु निपात्य वैरिनिचयं वह्नौ जुहोति स्वयम्।
एतेऽनार्यभवाः स्पृशन्तु मम न च्छायामपीत्यात्मनः
सूनुं साधुपदे निधाय तपनं भित्त्वा प्रलीनात्मनि।।

(भारत ५.१३)

इस नाटक की भाषा और शैली बड़ी सरल एवं स्वाभाविक है। अलङ्कारों के प्रयोग में कवि ने कोई विशेष प्रतिभा का दिग्दर्शन नहीं कराया है। प्राकृत भाषा का अपेक्षाकृत बहुत ही कम प्रयोग हुआ है। इसमें भारत माता की अभिन्न सहेली नेपाली सखी की भाषा उसकी मातृभाषा नेपाली ही है।

संस्कृत नाटक साहित्य के इतिहास में इस नाटक का स्थान सदा ही स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। हमें आशा है कि यह अपूर्व ग्रन्थ भारत के भावी नागरिकों को वीरता, साहस एवं निर्भयता का सन्देश शाश्वत रूप में देता रहेगा।

पण्डित सदाशिव दीक्षित

पण्डित मथुराप्रसाद दीक्षित के ज्येष्ठ पुत्र पं० सदाशिव दीक्षित भी नाटककार, सुकवि एवं प्रौढ़ समालोचक थे। आपने भी कई ग्रन्थों की रचनाकर काव्यक्षेत्र में अपनी कीर्तिकौमुदी प्रकट की है। आपका जन्म कार्तिक कृष्ण तृतीया, वि०सं० १९५५ को हुआ था।

आपकी रचना सरस्वती एकांकी नाटिका प्रकाशित हुई है। इस प्रकार संस्कृत में एकांकी नाटिका का निर्माण कर आप एक नवीन परम्परा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं। इस ग्रन्थ में भारत के सुदूरवर्ती देशों में भारतीय संस्कृति के भग्नावशेष चिह्नों का बड़े ही रोचक ढंग से समावेश किया गया है। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के उपरान्त संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में कवि ने युक्तिपूर्ण अपना विशेष तर्क उपस्थित किया है। नाटककार का मत है कि आधुनिक काल में भी भारत की यह प्राचीन समृद्धिशालिनी भाषा राष्ट्रभाषा के गौरवान्वित पद पर आसीन हो सकती है। पाणिनि और कुसंगति आपकी अन्य नाटक रचनाएँ हैं।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

प्राच्यविद्या के प्रकाण्ड विद्वान्, कविशिरोमणि, साहित्यवेत्ता हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के पूर्व आचार्य तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी पूर्व कुलपति प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने दो विशाल महाकाव्य, १४ खण्डकाव्य, ५ नवगीत संग्रह, ६५ एकांकी, दो स्वतन्त्र नाटिकाएँ, चार कथासंग्रह तथा दर्जनों उच्चस्तरीय समीक्षापरक ग्रन्थों का प्रकाशन कर अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय को विलक्षण स्थिरता तथा गौरव प्रदान किया है। यवद्वीपीय रामायण का प्रथम बार देवनागरी लिप्यन्तरण एवं हिन्दी रूपान्तर कर उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है। संस्कृत, हिन्दी, भोजपुरी, अंग्रेजी तथा भाषा इण्डोनेशिया में अब तक प्रो० मिश्र के ९० ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। जिसमें मृगाङ्कदूतम्, सप्तधारा एवं 'समीक्षासौरभम्' कालजयी कृतियाँ सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से उनके कुलपतित्त्व काल में प्रकाशित हुई हैं।

जौनपुर जनपद के स्यन्दिका (सई) नदी के तट पर स्थित द्रोणीपुर नामक ग्राम में प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र का जन्म २ जनवरी, १९४३ ई० की

ब्रह्मवेला में हुआ था। माता महीयसी अभिराजी देवी तथा पिता पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र जी स्मृतिशेष हैं।

आपके प्रकाशित एकांकियों के संग्रह का विवरण निम्नलिखित है –

१. नाट्यपञ्चगव्यम् (५ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९७१ ई०।

२. अकिञ्चनकाञ्चनम् (१ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९७४ ई०।

३. नाट्यपञ्चामृतम् (५ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९७७ ई०।

४. चतुष्पथीयम् (४ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९८३ ई०।

५. रूपरुद्रीयम् (११ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९८६ ई०।

६. नाट्यसप्तपदम् (७ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९८६ ई०।

७. नाट्यनवग्रहम् (९ नाट्य) प्रकाशनवर्ष १९९९ ई०।

८. रूपविंशतिका (२० नाट्य)।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित नाटकों का विवरण इस प्रकार है –

१. प्रमद्वरा (चार अंक) प्रकाशनवर्ष १९८४ ई०।

२. विद्योत्तमा (चार अंक) प्रकाशनवर्ष १९९२ ई०।

३. लीलाभोजराजम् (सात अङ्क)।

४. प्रशान्तराघवम् (सात अंक)।

बानगी के तौर पर प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र के द्वारा प्रणीत '**मण्डूकपण्डितम्**' प्रहसन रचयिता को आधुनिक संस्कृत साहित्य की सभी विधा में अनितरसाधारण प्रतिभा के धनी, विदग्ध भङ्गीभिणिति के चतुर रचनाकार तथा नाट्य साहित्य की सृष्टि में अभिनव प्रजापति कहने के लिए बाध्य करता है। यह हास्य से ओत-प्रोत संवादों में अनपढ़ ब्राह्मण की पाखण्डी प्रवृत्ति, अर्थलिप्सा तथा असत्कर्म चातुर्य को प्रदर्शित करता है। इसमें समाज में व्याप्त अविवेक एवं चमत्कार का चित्रण करते हुए समाज को जागरूक करने का प्रयास किया गया है।

वैदुषी एवं पाण्डित्य-व्यसन की विरासत प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र के अपने पितामह परमभागवत पं० रामानन्द मिश्र एवं पितृव्य प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र (पूर्व कुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय) से मिली। कवित्व के संस्कार कोमल शैशव में ही उद्बुद्ध हो उठे तथा समय की गति के साथ परिपाकोन्मुख होते रहे।

प्रबुद्ध जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक भाव से जीने वाले, वीणापाणि के चरणों में नैवेद्यवत् समर्पित, अर्वाचीन संस्कृत रचनाधर्मिता, जीवन्तता तथा युगापेक्षी, सारस्वत अध्यवसाय के समर्थ प्रतीक, संस्कृत-हिन्दी-भोजपुरी की त्रिवेणी में परिस्नात रससिद्ध सुकवि एवं तात्त्विक समीक्षक त्रिवेणीकवि प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र उन स्थापित साहित्यकारों में हैं, जिन्हें जन-जन का कण्ठहार कहना अयुक्तिपूर्ण नहीं होगा।

पं० पारसनाथ द्विवेदी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वेदान्त विभाग में आचार्य एवं अध्यक्ष पद से जून, २००६ में सेवानिवृत्त होने वाले प्रो० पारस नाथ द्विवेदी ने 'पार्वतीमङ्गलम्' और 'राजा हरिश्चन्द्र' नाटक लिखकर संस्कृत नाट्यवाङ्मय की श्रीवृद्धि की है। बिहार प्रान्त के बक्सर जिला के धवछुवाँ गाम में १५ सितम्बर, १९४३ ई० को पैदा हुए प्रो० द्विवेदी की सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा वाराणसी के विश्वनाथ गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय में हुई। प्रो० द्विवेदी के पिता स्व० श्रीशंकर द्विवेदी एक सामान्य कुलीन सदाचारसम्पन्न कर्मनिष्ठ थे। माता श्रीमती रामसखी देवी ममता एवं वात्सल्य की प्रतिमूर्ति देवी थीं। उन्हीं की स्नेहिल आँचल की छाया प्राप्त कर एवं बड़े भाई श्री रामनारायण द्विवेदी का पितृवत् स्नेह प्राप्त कर चिन्तारहित रहते हुए प्रो० द्विवेदी ने तपस्वी की भाँति विद्यार्जन करने में दक्षता प्राप्त की। द्विवेदी के संसार के प्रति विरक्ति को देखकर माया के बन्धन में बाँधने के लिए बड़े भाई ने छोटी उम्र में ही उनका विवाह श्रीमती राधामुनि देवी से कर दिया। लेकिन सीता-सावित्री की तरह धर्मपत्नी की मर्यादा का निर्वाह करती हुई द्विवेदी के विद्यार्जन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होने दी। प्रो० द्विवेदी संस्कृत शिक्षा के साथ गणित से स्नातक स्तर की परीक्षा उत्तीर्ण कर

आधुनिक विषय में भी दक्षता अर्जित करने में सफल रहे। उन्होंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से १९६५ में नव्य व्याकरण एवं १९७५ में शाङ्कर वेदान्त से प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर आचार्य उपाधि प्राप्त कर १९७१ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से एम०ए० (संस्कृत) की उपाधि प्रथम श्रेणी में अर्जित की। प्रो० द्विवेदी ने १९८१ में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से 'वाचस्पति' (डी०लिट्०) की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर विद्यावंश एवं जन्मवंश दोनों को गौरवान्वित किया। शिक्षा की गुरुपरम्परा में श्री रघुवीर पाण्डेय, अभिनवपाणिनि श्री रामप्रसाद द्विवेदी एवं शास्त्रार्थ महारथी पं० देवस्वरूप मिश्र जी का नाम अविस्मरणीय रहेगा, जिन लोगों ने विद्यारूपी अमृत पिलाकर प्रो० द्विवेदी के रूप में विनय, शील, औदार्य एवं शिष्यानुराग की विग्रहवान् मूर्ति प्रस्तुत की है।

प्रो० द्विवेदी के प्रकाशित ग्रन्थों में 'नयनप्रसादिन्याः समीक्षणम्' के अतिरिक्त काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति व्याख्या, सनत्सुजातीयदर्शन की व्याख्या, पार्वतीमङ्गलम् नाटक आदि प्रमुख हैं। आपने शिखामणि एवं मणिप्रभा संस्कृत व्याख्या के साथ वेदान्तपरिभाषा, सिद्धान्तलेशसंग्रह, विवरणप्रमेयसंग्रह आदि वेदान्त के चूणान्त ग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाशन के क्षेत्र में सफलता अर्जित की है। इसके अतिरिक्त शताधिक शोधनिबन्ध विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रो० द्विवेदी का सम्पूर्ण परिवार संस्कृतमय है। आपने अपने तीनों पुत्रों एवं दोनों पुत्रियों को संस्कृत की उच्च शिक्षा प्रदान की है। इनके ज्येष्ठपुत्र डॉ० रामेश्वरनाथ द्विवेदी संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर में प्राध्यापक पद पर कार्यरत हैं।

प्रो० पारसनाथ द्विवेदी ने शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए अनेक सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त करने का गौरव प्राप्त किया है, जिसमें उन्होंने शिवमठ के स्वामी श्री गणेशानन्द जी महाराज से एक लक्ष रूपये का काशीपण्डित सम्मान प्राप्त किया, वहीं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

के तत्कालीन कुलपति प्रो० राममूर्ति शर्मा ने संस्कृतवर्ष में डॉ० राधाकृष्णन् सम्मान प्रदान किया। आपने धर्मसंघ शिक्षामण्डल से वेदान्तवाचस्पति की उपाधि प्राप्त की, तो तुलसीपीठ चित्रकूट से पण्डितरत्न की उपाधि भी अर्जित की। उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान ने संस्कृत साहित्य पुरस्कार प्रदान कर पुरस्कार दाता सूची में अपना नाम जोड़ने से सन्तुष्ट होकर पुनः इक्यावन हजार रुपये का विशिष्ट पुरस्कार प्रदान किया। प्रो० पारसनाथ द्विवेदी के संस्कृत के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए राष्ट्रपति सम्मान वर्ष २००६ में प्रदान किया गया है। प्रो० द्विवेदी के विद्यावंश की परम्परा भी कम नहीं है। उनके शताधिक शिष्य छात्र विविध उच्च शिक्षा संस्थानों में कार्यरत हैं।

प्रो० द्विवेदी के अन्य रचनाओं के अतिरिक्त दो नाटक हैं।

१. **पार्वतीमङ्गलम्** – इसमें कवि ने अपनी अधिष्ठात्री देवी जैगीव्येश्वरी देवी की आराधना में पार्वती के विवाह का मङ्गलमय कथानक को नाट्यबद्ध किया है। इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन संस्थान से लघुग्रन्थमाला में हुआ।

२. **राजा हरिश्चन्द्रनाटकम्** – इसमें पौराणिक कथा को नाटकीय रूप दिया है। इसका अनेक बार मञ्चन हो चुका है। इन दोनों नाटकों में नाटक के सभी गुण उपलब्ध होते हैं। भाषा अत्यन्त मधुर, सरस एवं प्राञ्जल है।

इस प्रकार प्रो० पारसनाथ द्विवेदी जहाँ एक ओर व्याकरण एवं वेदान्त की गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझाने में परिपक्व हैं, वहीं दूसरी ओर काव्य की सरस, मधुर रचना में भी पारङ्गत हैं तथा विद्या, विनय एवं शील की प्रतिमूर्ति हैं।

श्री शिवजी उपाध्याय

प्रो० श्री शिवजी उपाध्याय का जन्म एक सामान्य कुलीन तथा सदाचारसम्पन्न ब्राह्मण पण्डित परिवार में ३ मार्च, सन् १९४३ ई० में सोनभद्र जिले के राबर्ट्सगंज तहसील के एक ग्राम में हुआ था। पिता पण्डित श्री स्वर्गीय संकठा प्रसाद उपाध्याय कुलपरम्परा के अनुसार कर्मकाण्डी एवं प्रसिद्ध ज्योतिषी

थे। भक्ति, ममता एवं करुणा की मूर्ति श्रीमती राजेश्वरी देवी प्रो० उपाध्याय की जन्मदात्री हैं, जिस ९० वर्षीया माता की स्नेहिल छाया में प्रो० उपाध्याय वाराणसी में निवास कर रहे हैं।

प्रो० उपाध्याय का प्रारम्भिक जीवन उथल-पुथल और अनेक उतार-चढ़ाव से ग्रस्त रहा। आपने मिर्जापुर के एक प्रसिद्ध संस्कृत महाविद्यालय में पं० सरजू प्रसाद उपाध्याय एवं पण्डित श्री कमलाकान्त पाण्डेय से प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा प्राप्त कर वाराणसी में पं० पट्टाभिरामशास्त्री के सान्निध्य में उच्च शिक्षा ग्रहण की। पं० शिवजी उपाध्याय ने १९७१ ई० से २००३ तक संस्कृत विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग में शिक्षक पद से प्रारम्भ कर आचार्य एवं अध्यक्ष पद प्राप्त करते हुए सफल अध्यापन किया।

प्रो० शिवजी उपाध्याय की कवित्वशक्ति एवं प्रातिभ वैशिष्ट्य प्रारम्भिक अवस्था से ही विलक्षण रही। इसलिए इन्होंने अध्ययनावस्था में ही 'श्रीविन्ध्येश्वरीस्तवः' स्तोत्र काव्य की रचना शिखरिणी, मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा आदि विविध बृहत् छन्दों में की। इनका लक्षण ग्रन्थ भी काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विलक्षण विचारसरणि को द्योतित करता है। इनके द्वारा रचित पाँच नाटक ग्रन्थों का संकलन 'नाट्यपञ्चरत्नम्' वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। जिसमें निम्न पाँच एकांकी नाट्य रचनाएँ संकलित हैं –

१. **यौतकम्** – इसमें कन्या के विवाह के समय दिये जाने वाले दहेज प्रथा की सामाजिक कुरीति पर कुठाराघात किया गया है। यह एकांकी नाटक है।

२. **राष्ट्रगौरवम्** – जिसमें भारतवर्ष के राष्ट्रगौरव की व्याख्या हुई है। यह भी एकांकी नाटक ही है।

३. **कालकूतकम्** – यह एक एकांकी नाटक है।

४. **प्रतिभापलायनम्** – सम्प्रति भारतवर्ष के अच्छे प्रतिभाशाली लोग धन की लालसा से विदेश का आश्रयण कर रहे हैं। इस समस्या का उजागर उक्त एकांकी में किया गया है।

५. **स्वातन्त्र्यशौर्यम्** – इसमें चन्द्रशेखर आजाद जैसे संस्कृत छात्र की भारतमाता की स्वतन्त्रता के प्रति निष्ठा को व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार प्रो० शिवजी उपाध्याय उभयविध श्रव्य एवं दृश्य शैली में पारङ्गत होते हुए एक कुशल समीक्षक भी हैं।

डॉ० हीरालाल पाण्डेय

डॉ० हीरालाल पाण्डेय ने ८ फरवरी, १९४५ को अपने जन्म से उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिला के राबर्ट्सगंज के सेमरी मिश्र ग्राम को गौरवान्वित किया है। पिता श्री भगवती प्रसाद पाण्डेय के वात्सल्य को खोकर श्रीमती रामप्यारी देवी की ममतामयी मातृत्व की छाया में वाराणसी के विश्वनाथ गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय से साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। बाँदा जिला के गोपाल आदर्श संस्कृत महाविद्यालय से अध्ययन कार्य प्रारम्भ कर प्रयाग के महानिर्वाण वेद विद्यालय से जून २००७ में सेवानिवृत्त होकर प्रयाग में ही निवास कर रहे हैं। चार भाइयों की श्रेणी में आप द्वितीय स्थान पर गणनीय हैं।

डॉ० हीरालाल पाण्डेय की काव्य-निर्माण प्रतिभा विलक्षण है। आपने सर्वप्रथम दशकुमारचरित पूर्वपीठिका की संस्कृत एवं हिन्दी में व्याख्या लिखकर रचनाधर्मिता को प्रारम्भ किया। पुनः **श्री रघुवीरशतक** लिखकर सिद्धहस्त कवि की कोटि में गणनीय हुए। इसके बाद तो आपने अनेक नाट्य ग्रन्थों का निर्माण कर ख्याति अर्जित की है, जिसमें कुछ नाटक ग्रन्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

१. **कुम्भसमुद्भवम्** – इसमें प्रयाग आदि तीर्थों में लगने वाले कुम्भ मेलों के उद्भव की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। यह समवकार भेद का रूपक है। इसके अलावा २. बर्बरीकशौर्यम्, ३. युतकयाचनम्, ४. शौनःशेपम्, ५. भारतवैभवम् आदि प्रकाशित रचनाएँ हैं।

पाण्डेय ने 'सर्वं नष्टम्' में एवं 'देशे समागतं भोः' दो प्रहसन काव्य का भी निर्माण किया है।

हीरालाल पाण्डेय की रचनाधर्मिता से प्रभावित होकर प्रयाग से उन्हें महामहोपाध्याय की सम्मानित उपाधि प्रदान की गयी है। इसके अतिरिक्त उन्हें विविध पुरस्कार भी प्राप्त हुए हैं।

पाण्डेय की भाषा एवं शैली सरस, मधुर एवं प्रभावपूर्ण है। इन्होंने जिस समस्या को काव्य में उपस्थापित करना चाहा है, उसे तलस्पर्शी बनाया है। इनके रूपकों में एक अद्भुत नाट्य प्रणाली का समावेश हुआ है, जिसके कारण यह प्राचीन नाटक साहित्य की तुलना में अलौकिक प्रतिभा प्रकट करता है।

उक्त महापुरुषों के अतिरिक्त वर्तमान काल में अन्य संस्कृत कवियों ने भी अनेक नाटक ग्रन्थों की रचना की है, जिससे सिद्ध होता है कि इस भाषा की स्वतन्त्र प्रगति अभी तक किसी भाँति अवरुद्ध नहीं हुई है। वह वैदिक काल के हिमवत् तुङ्ग शिखर से प्रवाहित होती हुई भागीरथी प्रवाह की तरह अजस्र गतिमती है। ऐसे कवियों के नामोल्लेख मात्र ही यहाँ अलम् है। महामहोपाध्याय श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश (सन् १८७६) ने मेवाड़प्रताप, वंगीयप्रताप, विराजसरोजिनी, कंसवध, जानकीविक्रम, शिवाजीचरित की रचना की, वहीं पिलाई ने भीमपराक्रम तथा के०एस० रामास्वामी ने रतिविजय की रचना की है। डॉ० इन्द्रदेव द्विवेदी (२०वीं शताब्दी) ने दर्जनों रूपक साहित्य की रचनाकर नाट्यवाङ्मय की श्रीवृद्धि की है। वहीं प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी के भी नाट्य गौरव की कहानी को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। इसलिए आधुनिक नाटकरचनाधर्मिता के परिशीलन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा रखते हुए पूर्ण गवेषणा की भी आवश्यकता है।

OOO

उपसंहार

भारतीय काव्यशास्त्र के इस संक्षिप्त परिशीलन से इस शास्त्र की विशिष्टता तथा व्यापकता का परिचय प्रत्येक आलोचक को हो सकता है। यह शास्त्र बहुत प्राचीनकाल से काव्य की समीक्षा में तथा काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग उभय पक्षों के विषय में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करता है। आपातः यह प्रतिभास होना स्वाभाविक है कि यह केवल काव्य के बहिरंग रूप को ही समीक्षण का विषय बनाता है। परन्तु इस शास्त्र के अन्तराल में प्रवेश करने वाले आलोचक को यह समझते देर न लगेगी कि यह काव्य के अन्तरंग का भी, उसके हृदय का भी उसी प्रकार मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करता है। यदि दोष तथा अलङ्कार का विवेचन इस आलोचनापद्धति के बहिरंग समीक्षण का फल है, तो ध्वनि तथा रस की मीमांसा इसके अन्तरंग प्रवेश का परिचायक है। तथ्य यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र काव्य को एक सर्वाङ्गसम्पन्न वस्तु मानता है। इसीलिए वह उसके शरीर तथा आत्मा दोनों का निर्वचन तथा समीक्षण करना अपना महत्त्वपूर्ण कार्य मानता है।

समीक्षा संसार के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र की काव्यतत्त्वों का चार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन हैं – औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस। ये चारों काव्य-सिद्धान्त काव्य के अन्तरंग तत्त्व हैं, जिनके अभाव में काव्य अपने स्वरूप से हीन हो जाता है। औचित्य नितान्त व्यापक सिद्धान्त है, लोक व्यवहार में तथा काव्यकला में। आलोचनाशास्त्र के आरम्भिक काल में ही भरतमुनि ने 'औचित्य' का साहित्यिक मूल्यांकन किया तथा उसे नाटक का एक सर्वमान्य तत्त्व घोषित किया। काव्य-जगत् में औचित्य एक व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसके अभाव में रस तथा ध्वनि से स्निग्ध भी काव्य

कुरूप, नीरस तथा अरुचिकर होता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में इसे नाट्यकला का प्राण माना है। उनकी महनीय उक्ति है –

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः[१]।।

अर्थात् वय के अनुरूप उचित वेष होना चाहिए और वेष के अनुरूप गति तथा क्रिया होनी चाहिए। पाठ्य अर्थात् संवाद गति प्रचार के अनुकूल ही होता है और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। नाटक के ये ही अंग होते हैं और इनमें परस्पर औचित्त्य होना नितान्त आवश्यक है।

आनन्दवर्धन अनौचित्त्य को रसभंग का कारण मानते हैं तथा औचित्त्य को रस का गूढ़ रहस्य बतलाते हैं –

अनौचित्त्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्त्योपनिबन्धस्तु रस्योपनिषत् परा।।

इस प्रकार काव्य तथा कला में, दृश्य तथा श्रव्य काव्य में, लोक तथा शास्त्र में औचित्य का महनीय तत्त्व सर्वदा जागरूकता के साथ अपनी सत्ता प्रतिष्ठित किये रहता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है – वक्रोक्ति। इस तत्त्व की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों की सूक्ष्म विवेचन शक्ति का परिचायक है। काव्य में लोकातिक्रान्तगोचर वचन का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। जिन शब्दों को बहुत प्रचार के कारण जनसाधारण ने अत्यन्त परिचित अथ च अत्यन्त धूमिल बना डाला है, उनके प्रयोग से काव्य कथमपि स्निग्ध तथा पेशल नहीं बन सकता। स्निग्धता तथा पेशलता के लिए काव्य में अतिशय होना ही चाहिए। भामह जिसे अतिशयोक्ति के नाम से अभिहित करते हैं, वही तो आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति है। काव्य की उक्ति में विशिष्टता इसी वक्रोक्ति के समाश्रयण से आती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के

---

१. नाट्यशास्त्र

इस तत्त्व की महत्ता सर्वत्र मान्य है और आजकल के कविजनों की भाषा इसीलिए वक्रोक्तिमयी होती है। काव्य में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भाषा को स्निग्ध तथा भाव को रसपेशल बनाता है और इसीलिए इसका प्रचुर प्रचार सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। वक्रोक्ति का आदर भारतवर्ष में ही नहीं, प्रत्युत यूरोप में भी 'अभिव्यञ्जनावाद' के नाम से जिस तत्त्व का समीक्षण तथा प्रचारण हो रहा है, वह भी वक्रोक्ति के बहुत कुछ पास पहुँचता है। इसलिए संस्कृत काव्यशास्त्र का मर्मज्ञ अपने तत्त्व का उद्घाटन इस सरस सूक्ति के द्वारा करता है।

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
वाक्यार्थबाधः परमप्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
सा काश्चिदन्या सरणिः कवीनाम्।।

वक्रोक्ति के कारण भाषा में लोच तथा लचीलापन ही नहीं आता, प्रत्युत एक ही अर्थ में अभिव्यञ्जक तथा द्योतक नाना शब्दों का रुचिर पुंज भी कवि के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इसीलिए वक्रोक्ति भाषा को शक्ति तथा प्रौढ़ि देने में, भावों को नितान्त अभिनव ढंग से अभिव्यञ्जना करने में एक अलौकिक साधन है। इस तत्त्व की बहुशः व्याख्याकार संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने हमारे सामने एक अपूर्व काव्य तत्त्व की घोषणा की है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की तीसरी देन है – ध्वनि का तत्त्व। हमारे काव्यशास्त्रियों ने काव्य का अनुशीलन कर इस महनीय तत्त्व की उद्भावना की कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता, जितना हमारे कानों को प्रतीत हो रहा है। भाषा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न रहती है और वह नितान्त गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखती है। इस गूढ़ शक्ति को हमारे संस्कृत के आलोचकों ने स्वयं समझा और अपनी मनोरम शैली में विस्तार तथा वैशद्य के साथ समझाया। यह तत्त्व बहुत से काव्यशास्त्रियों के लिए अनिर्वचनीय कोटि में बहुत दिनों तक पड़ा रहा, परन्तु आनन्दवर्धन ने इस अर्थ की स्वतन्त्रता तथा मनोरमता का विवरण बड़ी सुन्दरता के साथ अपने युगान्तकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। लक्ष्य में

इसकी सत्ता तो अत्यन्त प्राचीन काल से ही थी, परन्तु लक्षण ग्रन्थ में इसकी समीक्षा तथा विशद व्याख्या और काव्यशास्त्रियों की तलस्पर्शिनी बुद्धि का परिचायक है। व्यञ्जना ही काव्य की कसौटी मानी गयी है। जिस काव्य में इस शक्ति का जितना ही अधिक आश्रयण विद्यमान रहता है, वह काव्य उतना ही मार्मिक, रोचक तथा हृदयावर्जक माना जाता है। शब्द की इस महनीय शक्ति को प्रतिष्ठा देने के लिए इन काव्यशास्त्रियों ने न्याय तथा मीमांसा के अनुयायी आचार्यों से जो लोहा लिया, वह भी अपनी पैनी युक्तियों के कारण दार्शनिक संसार की एक आश्चर्यकारी घटना है। तात्पर्यवादी, अन्विताभिधानवादी तथा अभिहितान्ववादी आचार्यों के मतों का युक्तियुक्त खण्डन कर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने एक नवीन युक्तिवाद की प्रतिष्ठा की।

यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि पश्चिमी आलोचक भी आज समीक्षा के लिए व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को समझने लगे हैं। १८वीं शती के मान्य अंग्रेजी कवि ड्राइवन ने बड़े पते की बात कही थी – 'मोर इज मेण्ट दैन मीट्स दी ईयर'। (More is ment than meets the Year) अर्थात् कविता का तात्पर्य उससे अधिक होता है, जो हमारे कान के साथ सम्पर्क में आता है। यह स्फुटतया ध्वन्यर्थ की काव्य में स्वीकृति है। आजकल के अंग्रेजी आलोचक तो स्पष्टतः व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को काव्य में मानने लगे हैं। मान्य कवि तथा आलोचक 'एवरक्राम्बी' की स्पष्ट उक्ति है – साहित्य कला कुछ मात्रा तक सदैव व्यञ्जनात्मक होती है और इस कला का महनीय उत्कर्ष यह है कि यह व्यञ्जना शक्ति को ऐसी व्यापक, विचार तथा सूक्ष्म भाषा में प्रकट करे, जितना सम्भव हो सकता है। अभिधाशक्ति के द्वारा जो अर्थ वाच्य नहीं होता, उसकी पूर्ति भाषा की व्यञ्जना शक्ति कर देती है। रिचर्ड्स जैसे आधुनिक दार्शनिक आलोचक भी इसे काव्य में महनीय तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार काव्यगत अर्थ के चार प्रकार होते हैं – १. सेन्स, २. फीलिंग, ३. टोन तथा ४. इन्टेन्शन। सेन्स का अर्थ है वक्ता के द्वारा कही गई वस्तु। फीलिंग का अर्थ है हृदयगत भाव। टोन का अर्थ है बोलने का सुर, वक्ता और बोधव्य के सम्पर्क का ज्ञान।

वक्ता अपने श्रोताओं की ओर दृष्टि रखकर ही अपने वाक्यों का विन्यास करता है। श्रोताओं के भाव परिवर्तन के साथ-साथ वक्ता अपने कथन के सुर में भी परिवर्तन करता है। इन्टेन्शन का अर्थ है अभिप्राय या तात्पर्य। लेखक बहुत सी बातें कहना चाहता है, परन्तु वह शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। उसे वह अपने पाठकों के लिए बोध्य या गम्य ही बनाकर छोड़ देता है। किसी ग्रन्थ की रचना में लेखक का जो तात्पर्य या व्यङ्ग्य अर्थ होता है, वही उसका इन्टेन्शन होता है। यहाँ स्पष्टतः इस शब्द का तात्पर्य ध्वनि से है, जो इस आलोचक की सम्मति में काव्यगत अर्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है।

जिस व्यञ्जना से गम्य अर्थ की ओर पश्चिमी आलोचना अभी मुड़ रही है और उसका महत्त्व समझ रही है, उसका विशद प्रतिपादन संस्कृत काव्यशास्त्र ने कम-से-कम डेढ़ हजार वर्षों पूर्व तो अवश्य ही किया है। यह उसके लिए गौरव की वस्तु है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की चौथी देन है – रस का तत्त्व। हम निःसन्देह कह सकते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र ने रस तत्त्व का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा विवरण प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र एकान्त दुर्लभ है। रस के रूप का, उसकी साधक सामग्री का, उसके परस्पर सम्बन्ध का, उसके पारस्परिक उन्मीलन का, विरोध तथा विरोधपरिहार का जो गम्भीर विवेचन भरत तथा उनके व्याख्याकारों ने किया है, वह नितान्त सूक्ष्म, मार्मिक तथा तलस्पर्शी है। काव्य का यही हृदय है, यही उपनिषद् है।

रसात्मकता काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है। इस तथ्य का परिचय हमें महर्षि वाल्मीकि की प्रथम श्लोकात्मक रचना से होता है। व्याध के बाण से विधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करने वाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से जो प्रथम उद्गार निकला था, वही रसमयी कविता का प्रथम प्रतीक है। शोक तथा श्लोक का समीकरण काव्यशास्त्र का प्रथम मूल सूत्र है, जिसके भाषारूप में अवान्तर ग्रन्थों की परम्परा चलती है। रामायण, कालिदास तथा आनन्दवर्धन एक स्वर से इस समीकरण के पक्षपाती हैं और इनके साक्षी हैं कि वाल्मीकि प्रथम कवि ही नहीं, प्रथम भावक भी हैं।

काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः[१]।।

रस का उन्मीलन ही काव्य का लक्ष्य है और उस रस का विश्लेषण काव्यशास्त्र का तात्पर्य है। इसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र ने विश्वसाहित्य के सामने अपनी महती देन औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस के रूप में प्रस्तुत किया। परिशीलनात्मक समीक्षण का यह परम रहस्य है।



१. ध्वन्या०, १।

परिशिष्ट - १

सहायक ग्रन्थ तालिका

ग्रन्थ नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष (ई०)
अग्निपुराणम्,	मनसुखराम मोर,	कलकत्ता,	१९५४
अग्निपुराण,	बलदेव उपाध्याय,	चौखम्बा वाराणसी,	१९६६
अभिनवभारती,	अभिनवगुप्त,	चौ० विद्याभवन,	१९८६
अभिधान चिन्तामणि			
अध्यात्म रामायणम्,	पं० श्री कुबेरनाथ शुक्ल,	सं०सं०वि०वि०, वाराणसी,	१९९८
अलङ्कारशास्त्रेतिहास :	डॉ० जगराम चन्द्र मिश्र,	चौ० सुरभारती वाराणसी	१९८६
अलङ्कार कौस्तुभम्,	कविकर्णपूर		
अमरकोष,	रामाश्री टीका,	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,	१९०५
अलङ्कारशेखर,	केशव मित्र		
अलङ्कारसारसंग्रह,	उद्भट		
ऋक्प्रातिशाख्य,	वीरेन्द्र कुमार वर्मा,	का०हि०वि०वि०,	१९७०
कविदर्पण,	एच.डी. वेलणकर,	राजस्थान पुरातन	१९६२
काव्यकला,	मथुरा प्रसाद दीक्षित,	जयभारत प्रेस, वाराणसी	१९६२
काव्य मीमांसा,	राजशेखर,	ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा,	१९२४
काव्यालङ्कार,	भामह,	विहार राष्ट्रभाषा परिषद्	१९८५
काव्यप्रकाश,	विश्वेश्वर		
काव्यानुशासनम्,	हेमचन्द्राचार्य		

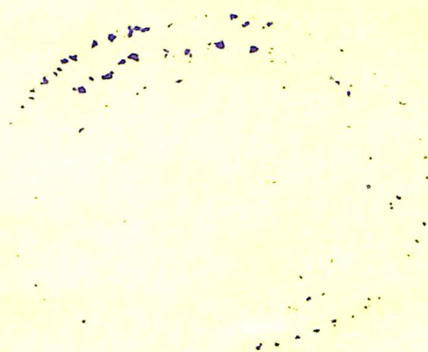
ग्रन्थ नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष (ई०)
काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति,	वामनाचार्य		
काव्यालङ्कार,	रुद्रट		
काव्यादर्शः,	दण्डी, आलिन्य प्रभाव टीका, कलकत्ता		१९६३
किरातार्जुनीयम्,	भारवि, घटापथ व्याख्यायुत, वाराणसी,		१९५२
कुमारसम्भवम्,	प्रो० रेवा प्रसाद द्विवेदी,	सं०सं०वि०वि० वाराणसी,	२००४
गीत गोविन्दम्,	प्रो० विद्यानिवास मिश्र,	सं०सं०वि०वि० वाराणसी	
चन्द्रालोक,	जयदेव,	मौर्य प्रेस एण्ड पब्लिकेशन,	१९६६
ध्वन्यालोक	(लोचन),	भोलीलाल बनारसी दास	१९८२
ध्वन्यालोक	(दीधिति),	चौ०सं० सीरीज	१९६४
दशरूपक,	धनञ्जय,	चौखम्बा विद्याभवन,	२००६
नाट्यदर्पण,	रामचन्द्र गुणचन्द्र		
नाट्यशास्त्र,	भरत,	सं०सं०वि०वि० वाराणसी	
नारद भक्तिदर्शन	स्वामी अखण्डानन्द	सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट	१९८३
निबन्ध चन्द्रिका,	डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय,	चौ० ओरियण्टलिया,	१९९१
नीतिशतकम्	भर्तृहरि		
नैषधीयचरितम्,	श्रीहर्ष,	चौखम्बा सुरभारती	१९९८
प्रसन्नराघवम्,	जयदेव,	चौखम्बा सुरभारती,	१९९८
भक्ति का विकास,	डॉ० मुंशीराम शर्मा		
भक्तिरस विमर्श,	डॉ० कपिलदेव ब्रह्मचारी,	पटना	१९८०
भक्तिरसामृतसिन्धु,	रूपगोस्वामी		
भारतीयदर्शनम्,	बलदेव उपाध्याय		
भाव प्रकाशनम्,	शारदातनयः		
मधुरस स्वरूप और विकास			

ग्रन्थ नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष (ई०)
मृच्छकटिकम्			
रसविमर्श,	डॉ० वाटवे		
रसार्णव सुधाकार,	शिंगभूपाल		
रसतरङ्गिणी,	भानुदत्त		
रसमीमांसा,	रामचन्द्र शुक्ल		
रघुवंशमहाकाव्यम्,	कालिदास,	चौ०सुरभारती	२००१
रसगङ्गाधर	पण्डितराजजगन्नाथ		
रससिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण,	आनन्द प्रकाश दीक्षित		
रामचरितमानस,	तुलसीदास,	गीताप्रेस	
वाल्मीकिरामायणम्,	वाल्मीकि,	गीताप्रेस	
विक्रमोर्वशीयम्,	कालिदास		
श्रृङ्गारप्रकाश,	भोजदेव		
सरस्वती कण्ठाभरणम्	भोजदेव		
साहित्यदर्पण	लक्ष्मी टीका,	चौ० संस्कृत संस्थान,	२००१
साहित्य दर्पण,	विमला टीका,	मोतीलाल बनारसीदास	१९५६
साहित्यसारम्	डॉ० ददनउपाध्याय,	सं०सं०वि०वि० वाराणसी,	२००४
साहित्यिकनिबन्धावली,	देवेन्द्रनाथ शर्मा		
संस्कृत नाटककार,	कान्तिकिशोर भारतीया,	हिन्दी समिति लखनऊ,	१९६८
संस्कृत छन्दों का उद्भव एवं विकास	रामकिशोर मिश्र,	ज्ञान प्रकाश मेरठ	२००२
संस्कृत निबन्धशतकम्	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी,	विश्वविद्यालय प्रकाशन,	१९९६
संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास,	युधिष्ठिर मीमांसक,	भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर,	२००७ वि०सं०

ग्रन्थ नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष (ई०)
संस्कृत शास्त्रों का इतिहास,	बलदेव उपाध्याय,	शारदा मन्दिर, वाराणसी,	१९६९
संस्कृतसाहित्येतिहासः	आचार्य राजहंस अग्रवाल	चौ०सुरभारती,	१९८६
संस्कृतसाहित्य का इतिहास,	बलदेव उपाध्याय,	शारदा संस्थान, वाराणसी,	१९७३
संस्कृतसाहित्य का इतिहास,	वाचस्पति गैरोला,	चौ० विद्याभवन	१९९७
संस्कृत आलोचना,	बलदेव उपाध्याय,	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,	१९७८
हिन्दी काव्यधारा,	राहुल सांकृत्यायन		
अलङ्कारों का क्रमिक विकास,	पुरुषोत्तमशर्मा,	मोतीलाल बनारसीदास,	१९६७
शिशुपालवधकाव्यम्,	माघ,	कृष्णदास अकादमी,	१९८६

○○○







राका प्रकाशन
इलाहाबाद
E-mail : rakaprakashan@yahoo.com

